अवतारवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि : भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य के संदर्भ में

हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद की पी-एच. डी. (हिन्दी)
उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबंध

1991

शोधकर्ता
कृष्ण कुमार सिंह
एम. फिल्. (स्वर्णपदक प्राप्त)

अध्यक्ष
डॉ. वं. वेंकटरमण राव
एम. ए. (हिन्दी), एम. ए. (तेलुगु), पी.-एच. डी.
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद-500 134. (आं. प्र.)

निर्देशक
डॉ. विजेन्द्र नारायण सिंह, डी. लिट्.
प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
हैदराबाद विश्वविद्यालय,
हैदराबाद-500 134 (आं. प्र.)

डॉ. विजेन्द्रनारायण सिंह, डी. लिट्.
प्रोफेसर हिन्दी विभाग,
केन्द्रीय विश्वविद्यालय
हैदराबाद–500 184 (आं. प्र.)

Telex : 425-2050
Phone : 253901, 253902, 253950,
253951, 253116, 253117,
253035, 253163, 253064
Extn. : 279

निवास :
ए/12, प्रोफेसर क्वार्टर्स
केन्द्रीय विश्वविद्यालय परिसर
हैदराबाद–500 184

दिनांक : 11 दिसम्बर, 1991

प्रमाण-पत्र

मैं यह प्रमाणित करता हूँ कि श्री कृष्ण कुमार सिंह ने "अवतारवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि : भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य के संदर्भ में" नामक यह शोध-प्रबंध मेरे निर्देशन में प्रस्तुत किया है। यह प्रबंध उनका मौलिक कार्य है। जहाँ तक मैं जानता हूँ, किसी अन्य विश्वविद्यालय में इस तरह का कोई कार्य नहीं हुआ है। मैं यह भी प्रमाणित करता हूँ कि श्री कृष्ण कुमार सिंह अपने शील और चरित्र से भी शोध-उपाधि के सर्वथा योग्य पात्र हैं।

विजेन्द्र नारायण सिंह
(विजेन्द्र नारायण सिंह)

G.V. Subrahmanyam
Dean,
School of Humanities,
University of Hyderabad,
HYDERABAD-500 134.

विषयानुक्रमणिका

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ-संख्या

प्रबंध का सोच ..V.-.VIII..
आभार ..IX.-.X..

प्रथम अध्याय

1. अवतार की अवधारणा : सामाजिक संदर्भ

1.1 ईश्वर : मानव विवेक का मूर्तिमान रूप ..1..-..11.
1.2 अवतार की अवधारणा तथा उसके स्रोत ..11.-..22.
1.3 अवतार एक मिथक ..23 - 26..
1.4 मिथक का स्वरूप तथा उसका गठन ..26 - 35..
1.5 मिथक का सामाजिक संदर्भ ..35 - 40..
1.6 अर्थ समाज का मूलाधार एवं धर्म, दर्शन और साहित्य अधिरचना ..40 - 47..

द्वितीय अध्याय

2. भारतीय समाज एवं साहित्य में अवतारवाद

2.1 वेदोत्तर भारत का आर्थिक, सामाजिक परिवेश ..48.-.62..
2.1.1 सामंतवाद का विकास ..62.-.72..

पृष्ठ-संख्या

2.2 वैष्णव धर्म के उद्भव एवं विकास का सामाजिक संदर्भ ..77 - 120..

2.2.1 वैदिक साहित्य में विष्णु ..79 - 85..

2.2.2 महाकाव्यों में विष्णु अर्थात् वैष्णव भक्ति का विकास ..85 - 106..

2.2.3 वैष्णव धर्म जनता का धर्म ..107 - 109..

2.2.4 पौराणिक साहित्य और वैष्णव भक्ति ..110 - 113..

2.2.5. आलवार और वैष्णव भक्ति ..114 - 120..

2.3 अवतारवाद वैष्णव धर्म की महत्वपूर्ण विशेषता ..120 - 124..

2.4 "भगवद्गीता" : अवतारवाद का घोषणा-पत्र ..124 - 129..

2.4.1 अवतार सामाजिक चिंता की उपज ..129 - 134..

2.5 "महाभारत" में अवतारवाद ..134 - 137..

2.6 "रामायण" में अवतारवाद ..138 - 142..

2.7 पौराणिक साहित्य में अवतारवाद ..142 - 156..

2.7.1 पुराणों में गतिशील अवतारवाद ..142 - 149..

2.7.2 "भागवतपुराण" के अवतारवाद का वैशिष्ट्य ..149 - 157..

तृतीय अध्याय

3. भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य में अवतारवाद : सामाजिक संदर्भ

3.1 भक्तिकालीन सामाजिक परिवेश ..158 - 178..

3.2 'भागवत पुराण': भक्तिकाव्य का मुख्य प्रेरक ग्रंथ ..178 - 182..

3.3 भागवत की भक्ति का सामाजिक पक्ष ..182 - 191..

3.4 "गीता" और "भागवत" की भक्ति में अंतर ..191 - 195..

पृष्ठ-संख्या

3.5 राम-भक्ति साहित्य में अवतारवाद : सामाजिक संदर्भ ..195.-.262..

3.6 तुलसीदास के साहित्य में अवतारवाद ..197-258..

3.7 अवतार का प्रयोजन : लोक-कल्याण ..201-231..

3.8 रामावतार और मध्यकालीन सामाजिक यथार्थ ..231-247..

3.9 रामावतार और सामंत- विरोधी मूल्य ..247-258..

3.10 अन्य रामभक्त कवियों के साहित्य में अवतारवाद ..258-262..

3.11 कृष्ण भक्ति साहित्य में अवतारवाद : सामाजिक संदर्भ ..262-329..

3.12 सूरदास का साहित्य : कृष्णावतार तथा उसकी मनोहर लीलाओं से ओत-प्रोत ..265-306..

3.13 अवतार – प्रयोजन ..272-275..

3.14 अवतार का व्यापक रूप ..275-280..

3.15 कृष्णावतार और मध्यकालीन सामाजिक यथार्थ ..280-284..

3.16 सामंत-प्रजा द्वन्द्व : मुख्य सामाजिक अंतर्विरोध ..284-306..

3.17 अन्य कृष्णभक्त कवियों के साहित्य में अवतारवाद ..306-329..

3.17.1 परमानन्ददास ..307-309..

3.17.2 नन्ददास ..310-316..

3.17.3 कुम्भनदास ..316-319..

3.17.4 मीराबाई ..319-323..

3.17.5 रसखान ..323-329..

3.18 "कन्हावत" : कृष्णावतार का केन्द्रीय मिथक ..329-337..

		पृष्ठ-संख्या
चतुर्थ अध्याय		
4.	**लीला का सामाजिक संदर्भ**	
4.1	लीला का स्वरूप तथा उसके स्रोत	338 - 348
4.2	रामभक्ति साहित्य में लीला : सामाजिक संदर्भ	349 - 367
4.3	कृष्णभक्ति साहित्य में लीला : सामाजिक संदर्भ	367 - 386
4.3.1	लीला का शूरत्व	367 - 370
4.3.2	निष्प्रयोजन लीला का सामाजिक संदर्भ	371 - 380
4.3.3	लोकजीवन कृष्णलीला का स्रोत	380 - 383
4.3.4	लीला का गतिशील सौन्दर्य	384 - 386
5.	उपसंहार	387 - 396
6.	ग्रन्थानुक्रमणिका	397 - 407
	1. हिन्दी	397 - 402
	2. संस्कृत	402 - 404
	3. अंग्रेजी	405 - 407
	4. पत्र-पत्रिकाएँ	407

प्रबंध का सोच

अवतारवाद भक्ति आंदोलन का केन्द्रीय वक्तव्य है। इसे समझने के लिए इस शोध-प्रबंध में समीक्षा के मार्क्सवादी औजार का उपयोग किया गया है।

कदाचित् सबसे पहले प्रसिद्ध मार्क्सवादी इतिहासकार दामोदर धर्मानन्द कोसाम्बी ने भक्ति की अवधारणा के संबंध में मार्क्सवादी दृष्टिकोण से "गीता" पर अपने अतिउद्धृत निबंध में विचार किया। यह निबंध उनकी पुस्तक "मिथक और यथार्थ" में संकलित है। इस निबंध से प्रेरणा ग्रहणकर इतिहासकार डॉ. भगवत शरण उपाध्याय ने "गीता" पर अपना निबंध लिखा। अपने निबंध में कोसाम्बी ने भक्ति को सामंती दासता के अनुक्रम में एक वैचारिक अधिरचना के रूप में उपस्थित किया और उसे सामंती मूल्य घोषित कर दिया। डॉ. भगवतशरण उपाध्याय का चिन्तन भी आर्थिक आधार को केन्द्र में रखकर लगभग इसी विचार के इर्द-गिर्द विकसित हुआ। आज यह स्पष्ट दिखता है कि ये दोनों विद्वान "गीता" और भक्ति के संबंध में मार्क्सवादी उपकरण का उपयोग उस समय कर रहे थे जब मार्क्सवाद पर स्तालिनवाद का प्रेत चढ़ा हुआ था। इससे मध्यकाल के महान भक्ति आंदोलन की समुचित व्याख्या तो नहीं ही हुई, बल्कि उल्टे मार्क्सवादी वैदुष्य की प्रतिष्ठा घटी।

मार्क्सवाद एक शोध-पद्धति है, अध्ययन का एक उपगम है। इसमें द्वन्द्वात्मक पद्धति से तथ्य और सत्य का उद्घाटन किया जाता है। किसी भी वाद के साथ प्रतिवाद उसमें बुनियादी तौर से अनुस्यूत रहता है

और सामाजिक विकास इन्हीं के द्वन्द्व से होता है। द्वन्द्व की परिणति संवाद में होती है। इस प्रकार मार्क्सवाद एक आइडियोलॉजी है। यह आइडियोलॉजी खंड से पूर्ण और पूर्ण से खंड के द्वारा समग्रता की पद्धति के रूप में विकसित होती है। अतः मार्क्सवाद केवल अंतर्विरोधों का ही अध्ययन नहीं करता वरन् अंतर्विरोधों के बीच से उभरने वाले सामाजिक और सांस्कृतिक सत्यों को समग्रतः व्याख्यायित भी करता है। विख्यात मार्क्सवादी विचारक जॉर्ज लुकाच ने अपनी पुस्तक "इतिहास और वर्ग-चेतना" में समग्रता की इस पद्धति का निरूपण बहुत ही प्रामाणिक ढंग से किया है। इस दृष्टि से उनका यह ग्रंथ आज भी उतना ही प्रामाणिक और प्रासंगिक है।

अवतारवाद का वास्तविक स्रोत मध्यकाल के मनुष्य की आस्था में है। यह आस्था उसके दैनन्दिन जीवन-संघर्ष से व्युत्पन्न हुई थी। मध्यकाल का मनुष्य सामंती शोषण-चक्र में पिसता जा रहा था, लेकिन उस शोषण-चक्र के बीच उसकी जिजीविषा अप्रतिहत और दुर्दम्य बनी रही। एक ओर सामाजिक व्यवस्था और दूसरी ओर ब्रह्मांड का अनंत प्रसार। मध्यकाल के भारतीय मनुष्य ने अपने युग की व्यवस्था को परम सत्य नहीं मान लिया। उसने ब्रह्माण्ड के अनंत प्रसार में शक्ति के स्रोत देखे। शक्ति का यह स्रोत सामाजिक परिवर्तन का उत्स हो सकता है। मनुष्य एक माइक्रोकॉज्म है। उसकी सामाजिक व्यवस्था उस माइक्रोकॉज्म का ही संगठित रूप है। सृष्टि और ब्रह्माण्ड मैक्रोकॉज्म हैं। दोनों में द्वन्द्वात्मक संबंध है। अगर माइक्रोकॉज्म में कोई नुक्स आता है तो मैक्रोकॉज्म उस नुक्स को सुधार सकता है। इस प्रकार मध्यकाल का मनुष्य सामंती शोषण-चक्र से कुचल नहीं जाता है बल्कि वह उसे ध्वस्त करने के लिए मैक्रोकॉज्म के असमाप्य स्रोत का आधार तलाशता है। अवतारवाद पिंड और ब्रह्मांड के द्वन्द्वात्मक संबंध से उत्पन्न मध्यकाल के मनुष्य का जीवन-स्रोत है। ग्राम्शी ने अपनी "जेल डायरी" में लिखा है कि जनता के अंधविश्वास तथा

उसकी मूर्खताएँ आदि भी जब समस्त जनजीवन को प्रभावित करती हैं, तब वे शक्ति का स्रोत बन जाती हैं।   अवतारवाद मध्यकाल के मनुष्य की समाजशास्त्रीय कल्पना है। यह कल्पना उसके जीवन-संघर्ष से उत्पन्न हुई है। इसलिए यह भ्रम होकर भी यथार्थ है। यही उसका द्वन्द्वात्मक आधार है।

अवतारवाद ने सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन का मिथकीय आधार प्रदान किया। व्यवस्था के विक्षेप को उस युग के कवि ने धर्म की हानि या ग्लानि कहा। धर्म की इस ग्लानि को ध्वस्त करने के लिए कॉस्मिक शक्ति हस्तक्षेप करती है। कॉस्मिक शक्ति के हस्तक्षेप की पद्धति को लीला कहते हैं। लीला कर्म है -- अनंत शक्ति का मानवीय कर्म। इसलिए इस लीला से पुरुषत्व का जन्म होता है, जिससे धर्म की ग्लानि नष्ट होती है। इस प्रबंध की थीसिस इसी के इर्द-गिर्द विकसित की गई है।

हिन्दी का मार्क्सवादी वैदुष्य भक्ति आंदोलन की परिधि पर मंडराता रहा है। वह उसके केन्द्र की ओर जाने से कतराता रहा है। इसलिए इन पंडितों ने भक्त कवियों के सामाजिक सुधार अथवा उनके लोकतत्व अथवा उनके सामंत-विरोधी स्वर की प्रशंसा में तो बहुत कुछ लिखा है। लेकिन ये सब तो महान भक्ति आंदोलन से व्युत्पन्न आनुषंगिक अवधारणाएँ हैं। इन सब अध्ययनों से भक्ति आंदोलन की वास्तविक ऊर्जा का उद्घाटन नहीं होता है। भक्ति आंदोलन मध्यकाल में हमारे जातीय जीवन का सबसे शक्तिधर आंदोलन है और उसका नाभिक है अवतार का सिद्धांत और तज्जन्य लीला की अवधारणा। जब तक इनकी समुचित

व्याख्या नहीं होती, तब तक भक्ति आंदोलन का कोई भी मार्क्सवादी अध्ययन प्रामाणिक नहीं बन सकेगा। इस प्रबंध में मार्क्सवादी वैदुष्य के उपगम का उपयोग करते हुए अवतार और लीला की समाजशास्त्रीय कल्पना को समझने की कोशिश की गई है। इस कोशिश की सफलता में ही प्रबंध की सार्थकता निहित है।

कृष्ण कुमार सिंह

(कृष्ण कुमार सिंह)

आभार

यह प्रबंध गुरुवर प्रो. विजेन्द्र नारायण सिंह के सुयोग्य निर्देशन में लिखा गया है। विषय-चयन से लेकर समापन तक की यात्रा में हमेशा उनके निर्देश तथा सुझाव मिलते रहे हैं। मेरी सहस्रशीर्षा उलझनों को सुलझाने का सामर्थ्य उन्हीं के बस की बात रही है। उनकी स्नेह-छाया में काम करने में गौरवान्वित अनुभव करता हूँ। शब्दों के द्वारा उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करके अपनी भावनाओं के साथ समझौता करने की कोई इच्छा नहीं है।

विभागाध्यक्ष डॉ. वे. वेंकटरमण राव ने समय-समय पर मेरा उत्साहवर्द्धन किया है तथा समुचित सलाह दी है। उनके प्रति हार्दिक आभार। विभाग के अन्य गुरुजनों से भी स्नेह मिला है। उन सबके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

प्रबंध-लेखन के सिलसिले में मुझे जिन विद्वानों से सुझाव, परामर्श मिले हैं, उनमें डॉ. कमला प्रसाद, डॉ. राधाकृष्ण सहाय, डॉ. शंभुनाथ, डॉ. कामेश्वर शरण सहाय, डॉ. वेणु गोपाल विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मैं इन सबके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

मित्रों में अरविन्द कुमार सिंह, प्रेम बहादुर, राजेश अग्निहोत्री, शैलेन्द्र सिंह, चित्तरंजन राउतराय, माखन प्रसाद शर्मा,

अनमोल कुमार सिंह, विजय प्रसाद शर्मा को स्मरण करना चाहूँगा, जिनके तगादे बड़े काम के रहे हैं। उन्हें धन्यवाद क्या दूँ। मित्रों को धन्यवाद से क्या प्रयोजन ?

श्रेष्ठ व्यंग्यकार श्री भगवानदास जोपटजी मुझे बराबर उकसाते रहे हैं, प्रोत्साहित करते रहे हैं। उनका आभारी हूँ।

साहित्यिक मिजाज के श्री गोविन्द सिंह "अक्षय" (हिन्दी टंकण में स्वर्ण-पदक प्राप्त) ने टंकण का दायित्व कुशलतापूर्वक निभाया है। वे धन्यवाद के उचित पात्र हैं।

परिवार के स्वजनों विशेषकर श्रद्धास्पद माँ-पिताजी तथा भैया के स्नेह के सहारे ही तो प्रबंध पूरा कर सका हूँ। उनका स्नेह ही मेरा सबसे बड़ा संबल है। अन्य जिन व्यक्तियों, मित्रों से किसी भी तरह की सहायता मिली है, मैं उनके प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

कृष्ण कुमार सिंह

(कृष्ण कुमार सिंह)

प्रथम अध्याय

प्रथम अध्याय

अवतार की अवधारणा : सामाजिक संदर्भ

1.1 ईश्वर : मानव विवेक का मूर्तिमान रूप

1.2 अवतार की अवधारणा तथा उसके स्रोत

1.3 अवतार एक मिथक

1.4 मिथक का स्वरूप तथा उसका गठन

1.5 मिथक का सामाजिक संदर्भ

1.6 अर्थ समाज का मूलाधार एवं धर्म, दर्शन और साहित्य अधिरचना

----

1. अवतार की अवधारणा : सामाजिक संदर्भ

1.1 ईश्वर : मानव विवेक का मूर्तिमान रूप

ईश्वर मानव प्रकृति से अभिन्न है। वह असीम मानवीय अनुभूतियों का सार है। मानव प्रकृति के सबसे महत्वपूर्ण लक्षण हैं— विवेक, कामना और प्रेम। यही तीनों उसकी शक्तियाँ भी हैं और यही उसके अस्तित्व के आधार और सिद्धांत भी। व्यक्तिगत मनुष्य से ऊपर

सामान्य मनुष्य में यह त्रयी होती है। ये तीनों ऐसी शक्तियाँ नहीं हैं, जिन्हें मनुष्य धारण करता है। वस्तुतः वह जो भी है, इन्हीं के कारण है। ये उसकी प्रकृति के संघटक तत्व हैं। इनके अभाव में वह कुछ नहीं है।

मनुष्य सृष्टि का केन्द्र है। वह सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्राणी है क्योंकि विचार, बुद्धि और विवेक की जो असाधारण शक्ति उसे प्राप्त है, वह किसी और को नहीं। इसलिए वह हमारे सारे चिन्तन, सारे सिद्धांत के केन्द्र में है। मनुष्य न सिर्फ हमारे चिन्तन और विचार के केन्द्र में है, बल्कि वह प्रस्थान बिन्दु भी है। ईश्वरत्व या देवत्व की अवधारणा का विकास अंतरिक्ष में नहीं, बल्कि ठोस मानव समाज में हुआ है। मनुष्य के उचित आर्थिक, सामाजिक और ऐतिहासिक परिवेश में रखकर ही ईश्वरत्व की अवधारणा के विकास को सही अर्थों में समझा जा सकता है।

मानव समाज के विकास की सबसे आरंभिक अवस्था आदिम साम्यवाद की अवस्था है। यह वह अवस्था है जब समाज का वर्गों में विभाजन नहीं हुआ था, सम्पत्ति का विकास नहीं हुआ था। कृषि का विकास भी नहीं हुआ था। लोग जंगलों में शिकार आदि के द्वारा अपने लिए भोजनादि का इंतजाम करते थे। उनके सारे कार्यकलाप अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने तक सीमित थे। अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष उनके लिए सबसे महत्वपूर्ण कार्य था। इसमें उन्हें बराबर प्राकृतिक शक्तियों से जूझना पड़ता था। इस स्थिति में जानवर, वृक्ष आदि के साथ ही सूर्य और चन्द्रमा, प्रकाश और अंधकार, बिजली की चमक और बादलों की गरज, नदी और पहाड़--हर चीज उन्हें प्रतिकूल और भयप्रद प्रतीत होती थी। वे इनकी वास्तविकता से परिचित नहीं थे। अतः समझ में न आनेवाली इन सभी प्राकृतिक वस्तुओं और घटनाओं पर उन्होंने देवत्व आरोपित कर

दिया। वे इनकी पूजा करने लगे। वृक्ष, जानवर आदि की पूजा से गणचिह्न या टोटेम की धारणा का विकास हुआ। गणचिह्नवाद के अंतर्गत मुख्य धारणा यह थी कि पूर्वजों के कुलों तथा समूहों की उत्पत्ति किसी पशु, वृक्ष या किसी प्राकृतिक घटना से संबंधित थी। गणचिह्न की धारणा आदिम कबीलों के शिकारी लोगों के भौतिक जीवन को प्रतिबिंबित करती है। परवर्ती काल में विकसित धर्मों, मतों में भी कुछ पुराने गणचिह्न विभिन्न कारणों से अपनाये गये। यहाँ तक कि आज भी कुछ धार्मिक समूहों में किसी-न-किसी रूप में गणचिह्नवाद के अवशेष मिलते हैं, जो उनके सामाजिक संगठनों के भी द्योतक हैं।

ईश्वरत्व की धारणा धर्म का अनिवार्य अंग है। धर्म अपने व्यापक अर्थ में मनुष्यों के पारस्परिक संबंधों, क्रियाकलापों, उद्देश्यों और विचारों की समष्टि है जिसका आधार है अलौकिक शक्तियों पर विश्वास। अलौकिक शक्तियों पर विश्वास सभी धर्मों की अनिवार्य विशिष्टता है। किसी भौतिक वस्तु में अलौकिक गुणों की उपस्थिति का विश्वास उसे धार्मिक आराधना की वस्तु बना देता है। वस्तुतः धर्म कोई निरपेक्ष वस्तु नहीं है। वह मनुष्य की रचना है। धर्म मनुष्य की अपनी असीम प्रकृति की चेतना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। ध्यातव्य है कि मनुष्य की चेतना सीमित नहीं, असीम होती है। सीमित चेतना वास्तव में, सहज वृत्ति होती है। उसे चेतना नहीं कहा जा सकता। स्पष्ट है कि धर्म मनुष्य की आत्म-चेतना का ही रूप है। कार्ल मार्क्स के अनुसार "धर्म का निर्माण मनुष्य करता है, मनुष्य का निर्माण धर्म नहीं करता। धर्म उस मनुष्य की आत्मचेतना, उसके आत्मसम्मान का भाव है जिसने स्वयं को पाया नहीं है या पाकर उसे फिर खो चुका है। किन्तु, मनुष्य इस संसार से बाहर रहनेवाला कोई अमूर्त जीव नहीं है। मनुष्य समाज का, राज्यसत्ता का और मनुष्य का संसार है। यह राज्यसत्ता, यह समाज, धर्म का, प्रत्यावर्तित

विश्वचेतना का निर्माण करते हैं।"[1]

चूँकि मनुष्य किसी समाज विशेष में, किसी युग विशेष में रहता है, अतः देश और काल से परे कोई अमूर्त मानवतत्व नहीं है। इसलिए मार्क्स का यह मत सही है कि धर्म में जो फैंटेसी होती है, उसमें इसी संसार का प्रतिबिंब होता है, लेकिन वहाँ यह संसार जैसा है वैसा नहीं, बल्कि प्रत्यावर्तित रूप में होता है।

जैसी कि चर्चा की जा चुकी है, आदिम साम्यवाद के युग में विभिन्न भौतिक शक्तियों, घटनाओं पर देवत्व के आरोप के फलस्वरूप देवता अस्तित्व में आए। स्पष्ट ही, वे देवता कोई अमानवीय या अतिमानवीय प्राणी नहीं थे। उनके अस्तित्व के भौतिक कारण थे। इसमें मनुष्य की कल्पना-शक्ति, विचार-शक्ति की महत्वपूर्ण भूमिका थी। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में "मानवमन जो प्रस्तुत दृश्य के परे है, उसकी एक झाँकी पाने के लिए आकुल प्रतीत होता है। उषा, संध्या, चक्रवात, प्रकृति की विशाल और विराट् शक्तियाँ, उसका सौंदर्य--इन सबने मानवमन के ऊपर ऐसा प्रभाव डाला कि वह इन सबके परे जाने की, और उनको समझ सकने की आकांक्षा करने लगा। इस प्रयास में मनुष्य ने इन दृश्यों में वैयक्तिक गुणों का आरोपण करना शुरू किया। उन्होंने उनमें आत्मा तथा शरीर की प्रतिष्ठा की, जो कभी सुन्दर और कभी परात्पर होते थे। उनको समझने के हर प्रयास में उन्हें व्यक्ति रूप दिया गया।"[2] इस प्रकार, स्वामी विवेकानन्द भी प्राकृतिक शक्तियों के मानवीकरण द्वारा देवताओं के उद्भव का समर्थन करते हैं। संसार की जो कोई भी शक्ति या वस्तु मनुष्य

---

1. कार्ल मार्क्स : ऑन रिलीजन, पृ. 38.
2. विवेकानन्द साहित्य : द्वितीय खंड, पृ. 192.

के मन पर असाधारण प्रभाव डालती है--वह प्रभाव चाहे जिस रूप में भी हो---उसका मानवीकरण करके वह उसे देवता बना डालता है, उसे आराध्य मान लेता है।

निश्चय ही, देवसंबंधी कल्पनाओं का आदि कारण है मनुष्य और प्रकृति का आदिम अंतर्विरोध। किन्तु, ये आदिम अंतर्विरोध आदिम समाज-व्यवस्था के साथ समाप्त नहीं हो जाते हैं। आगे चलकर उनमें सामाजिक अंतर्विरोध जुड़ जाते हैं। प्रसंगात् एंगेल्स ने लिखा है "समस्त धर्म मनुष्यों के मस्तिष्क में उन बाहरी शक्तियों के काल्पनिक प्रतिबिंब के सिवा और कुछ नहीं हैं जो उनके दैनिक जीवन को नियंत्रित करती हैं। इस प्रतिबिंब में भौतिक शक्तियाँ आध्यात्मिक शक्तियों का रूप धारण कर लेती हैं। इतिहास की प्रारंभिक अवस्थाओं में प्राकृतिक शक्तियाँ ही इस प्रकार से प्रतिबिंबित होती थीं और विकास के अग्रतर होने के साथ-साथ विभिन्न लोगों में इन शक्तियों का चैतन्यारोपण (personification) विविध और अनेक रूपों में होता था। परंतु शीघ्र ही प्राकृतिक शक्तियों के साथ-साथ सामाजिक शक्तियाँ भी क्रियाशील हो उठती हैं। ये सामाजिक शक्तियाँ भी मनुष्य के सामने प्राकृतिक शक्तियों की भाँति बाह्य और आरंभ में अबोध्य रूपों में प्रकट होती हैं तथा उसी प्रकार की प्रत्यक्ष आवश्यकता द्वारा मनुष्य पर शासन करती हैं। वे काल्पनिक चैतन्यारोपण जो पहले केवल प्राकृतिक शक्तियों के विषय में ही किये जाते हैं, इस अवस्था में आकर उनमें सामाजिक गुणों का भी समावेश होने लगता है और वे इतिहास की शक्तियों का प्रतिनिधित्व भी करने लग जाते हैं।"[1]

---

1. मार्क्स-एंगेल्स : ऑन रिलीजन, पृ. 128.

इस प्रकार, सामाजिक विकास-क्रम में धर्म और देवताओं का विकास होता है। प्राकृतिक शक्तियों के मानवीकरण से सर्वत्र देवताओं का विकास हुआ है। इस संदर्भ में स्वामी विवेकानन्द और एंगेल्स दोनों के विचार एकरूप हैं। दोनों की भाषा लगभग एक ही है।

भारत में वर्णों के उदय से पहले आर्यों के समाज में जो धर्म प्रचलित था, उसे वैदिक धर्म कहा जाता है। यह धर्म प्राकृतिक शक्तियों की पूजा का एक आदिम रूप था। उसके देवता मुख्यतः प्राकृतिक शक्तियों के मूर्त रूप थे। देवताओं की मुख्यतः तीन श्रेणियाँ थीं--- खगोलीय, वायुमंडलीय और भौमिक। वरुण, मित्र, सविता, अदिति आदि वायुमंडलीय देवता थे, जिनमें सभी मानवीय गुण मौजूद थे। अग्नि, सोम और सरस्वती भौमिक देवता थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि उस समय के आर्य लोग इन देवताओं पर स्वयं अपने गुण, अपनी महत्वाकांक्षाएँ तथा अपने भाव आरोपित करते थे। वे देवताओं पर उन शक्तियों का आरोप करते थे, जिन्हें वे स्वयं प्राप्त करना चाहते थे। स्पष्ट ही, देवताओं की कल्पना उन्होंने स्वयं अपने रूप में की। यह एक रोचक तथ्य है कि उस युग के लोग जो कर्मकांड करते थे या जो प्रार्थना करते थे उनका मूल उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति या ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं था। वे देवताओं से अच्छी-अच्छी वस्तु, सुंदर संतान, गाय-बैल आदि की माँग करते थे, याचना करते थे। इसके साथ ही वे अपने शत्रुओं का संहार करने की प्रार्थना भी करते थे। इस तरह की माँगों से सारा वैदिक साहित्य भरा पड़ा है। यह उन वस्तुओं की माँग है, जो उनकी रोजमर्रा की जिन्दगी के लिए आवश्यक थीं। उस युग में इन वस्तुओं की कितनी आवश्यकता और उपयोगिता रही होगी, इसका अनुमान लगाया जा सकता है।

ध्यातव्य है कि वैदिक युग के पूर्वार्द्ध में ब्रह्म की अवधारणा विकसित नहीं हुई थी, अतः उसके साक्षात्कार की कामना का सवाल ही नहीं था। यह अवधारणा बाद के काल में विकसित होती है। तकनीकी परिवर्तन के साथ-साथ इन देवताओं का महत्व कम होने लगा। कुलों और कबीलों पर आधारित आदिम साम्यवादी अवस्था में घुमन्तू कबीले दूर-दूर तक धावा करते हैं। वे एक भूमिखंड से दूसरे भूमिखंड पर आधिपत्य करते हैं। उनके साथ उनके देवता भी एक भूमिखंड में बँधकर नहीं रहते। देवता भूमिखंडों की रक्षा करनेवाले माने जाते थे। विकास के अगले चरण में सामाजिक व्यवस्था में बहुत-से परिवर्तन हुए और एक ही क्षेत्र की सीमाओं के अंदर कई वर्गों को संयुक्त करनेवाले सामाजिक समूहों में एकता की चेतना पैदा हुई और स्वभावतः इसने उनके धार्मिक विश्वास को प्रभावित किया। इन्हीं कारणों से अनेक देवी-देवताओं के झुण्ड में ही एक सर्वशक्तिमान ईश्वर की अवधारणा का विकास हुआ। यह सामाजिक शक्तियों के विकास का परिणाम था। अनेक देवताओं के बीच एक परमेश्वर की अवधारणा का विकास संसार के सभी भागों में इन्हीं परिस्थितियों में होता है। इस संबंध में एंगेल्स ने लिखा है---"विकास की और अगली मंजिल में अनेकानेक देवताओं की सभी प्राकृतिक और सामाजिक विशेषताएँ एक सर्व-शक्तिमान देवता में स्थानान्तरित कर दी जाती हैं। यह देवता अमूर्त मानव का प्रतिबिंब मात्र होता है। एकेश्वरवाद का उद्भव ऐसा ही था।"[1]

भारतीय समाज में एकेश्वरवाद का विकास इन्हीं परिस्थितियों में होता है। एक राजा के शासन के अंतर्गत अनेक क्षेत्रीय राज्यों के उदय के साथ एक परमेश्वर की धारणा का प्रचलन हुआ। इस संदर्भ में के. दामोदरन ने लिखा

---

1. फ्रेडरिक एंगेल्स : ऑन रिलीजन, पृ. 128-129.

है "सामाजिक और राजकीय ढाँचे में एकीकरण के साथ ही देवताओं का भी एकीकरण हुआ। एक सांसारिक सम्राट {राजाओं के राजा} के समानान्तर स्वर्ग के भी एक सर्वोपरि ईश्वर {देवताओं के देवता} का उदय हुआ। अलग-अलग अवसरों पर अलग-अलग देवताओं को सर्वशक्तिमान परमात्मा का स्थान दिया गया, जो इस ब्रह्माण्ड के सृष्टिकर्ता और संरक्षक माने गये। इस या उस देवता की प्रार्थना की गई और उसमें दूसरे तमाम देवताओं के गुणों को आरोपित किया गया।"[1]

कहने की आवश्यकता नहीं कि भारतीय सामाजिक व्यवस्था के संदर्भ में एक ईश्वर की अवधारणा के विकास का यह वस्तुपरक विवेचन है। "ऋग्वेद" के बाद के भागों में ईश्वर-विषयक यह अवधारणा कहीं-कहीं मिलती है। इन्द्र, सूर्य, अग्नि आदि देवता वहाँ एक ही ईश्वर के रूप में माने गए; यथा :

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।[2]

अर्थात् एक को ही गायक अनेक नाम देते हैं। उसे अग्नि कहो, यम कहो, मातरिश्वन कहो, एक ही बात है। ब्रह्म की यह धारणा उपनिषद् काल में काफी बलवती होती है। इस प्रकार, आर्यों की आरंभिक बहुदेवतावादी अवधारणा का स्थान एकेश्वरवाद का विचार लेता है।

जैसी कि चर्चा की जा चुकी है, ईश्वर मनुष्य की प्रकृति से अभिन्न है, उसकी अनुभूति में अभिन्न है। वह मनुष्य के अस्तित्व का ही अनिवार्य अंग है, बल्कि उसी का दूसरा रूप है। मनुष्य के मन में ईश्वर का

---

1. के. दामोदरन : भारतीय चिन्तन परंपरा, पृ. 38

2. ऋग्वेद : 1.164.46.

जो बिंब है, वह उसके भौतिक आधार, भौतिक जीवन का ही बिंब है। उसकी सत्ता मनुष्य की प्रकृति, उसकी अनुभूति से अलग नहीं है। इस अनुभूति से अलग किसी वस्तु की कल्पना करने पर उसकी एकता नष्ट हो जाती है। लुडविग फायरबाख के शब्दों में ---

"God is pure, unlimited, free feeling."[1]

अर्थात् ईश्वर विशुद्ध, असीम और स्वतंत्र अनुभूति है। यह अनुभूति मनुष्य की आंतरिक शक्ति है, लेकिन साथ ही, वह उससे अलग और स्वतंत्र भी है। वह उसमें अंतर्निहित है और उससे ऊपर भी। वह मनुष्य से ऊपर उसकी अपनी ही अनुभूति है जो ईश्वर के रूप में उसे प्रभावित करती है। ईश्वर की चेतना मनुष्य की अपनी चेतना है और उसका ज्ञान आत्मज्ञान है। फायरबाख ने लिखा है ---

"Consciousness of God is self-consciousness, knowledge of God is self-knowledge. By his God thou knowest the man, and by the man his God;the two are identica Whatever is God to a man, that is his heart and soul; and conversely,God is the manifested inward nature,the expressed self of a man

अर्थात् ईश्वर और मनुष्य समरूप हैं। एक को जानने पर दूसरे को जाना जा सकता है। ईश्वर मनुष्य के हृदय और उसकी आत्मा से अलग नहीं है। वह मनुष्य की व्यक्त अंतःप्रकृति है, व्यक्त आत्मा है। वस्तुतः फायरबाख का यह मत काफी महत्वपूर्ण है कि एक के ज्ञान से दूसरे का ज्ञान अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। यहाँ वे इस बात का संकेत करते हैं कि मनुष्य ईश्वर की अवधारणा अपने ही "एण्टी थीसिस" के रूप में करता है।

---

1. लुडविग फायरबाख : एसेन्स ऑफ क्रिस्टियनिटि, पृ. 10-11.
2. वही : पृ. 12-13.

धर्म के क्षेत्र में मनुष्य ईश्वर की कल्पना असीम शक्तियों से युक्त सत्ता के रूप में करता है और इस प्रकार उसे अपने से भिन्न समझता है। वह अपने सारे भावों का आरोप ईश्वर में कर देता है ---- सीमित नहीं असीमित रूप में। वह अपने को सीमित, ईश्वर को असीम; अपने को अपूर्ण, ईश्वर को पूर्ण; अपने को क्षणभंगुर, ईश्वर को शाश्वत; अपने को कमजोर, ईश्वर को सर्वशक्तिमान तथा अपने को पापी और ईश्वर को अत्यंत पवित्र समझता है। उसके लिए ईश्वर पूरी तरह सकारात्मक सत्ता है। इस प्रकार धर्म में वह अपनी ही प्रच्छन्न प्रकृति का अवलोकन करता है और अपने को ईश्वर से अलग समझता है, जबकि वास्तविकता यह नहीं है। वस्तुतः मनुष्य और उसके ईश्वर के बीच का अंतर ही वह बिन्दु है, जहाँ से धर्म का आरंभ होता है। यहाँ मनुष्य अपनी ही प्रकृति को अपने से भिन्न समझने लगता है ईश्वर के रूप में, हालाँकि ईश्वर विवेक की वस्तुनिष्ठ प्रकृति ही है। फायरबाख के अनुसार ---- **"God as the antithesis of man, as a being not human i.e., not personally human, is the objective nature of the understanding."**[1]

अर्थात् मनुष्य के "एण्टीथीसिस" के रूप में, व्यक्ति मानव से इतर सत्ता के रूप में ईश्वर विवेक की यथार्थ प्रकृति है।

वास्तव में, ईश्वर बुद्धि और विवेक की एक आवश्यकता है। वह मनुष्य की चिन्तन-शक्ति का सर्वोच्च बिन्दु है। मनुष्य का विवेक इन्द्रियग्राह्य वस्तुओं तक ही सीमित नहीं रह सकता है। वह अपनी क्षमता के सर्वोच्च शिखर तक पहुँचना चाहता है, वहाँ पहुँचकर ही

---

1. लुडविग फायरबाख : एसेन्स ऑफ क्रिश्चियनिटि, पृ. 34.

संतुष्ट होता है। यह एक सामान्य अनुभव की बात है कि मनुष्य स्वयं को तब तक खाली-खाली और फलस्वरूप असंतुष्ट पाता है, जब तक कि वह किसी वस्तु या शक्ति के अंतिम छोर तक न पहुँच जाता है। मनुष्य की प्रकृति, उसकी बुद्धि और उसके विवेक के लिए ईश्वर एक ऐसा ही उच्चतम बिन्दु है, जहाँ पहुँचकर वह अपने को खाली अनुभव नहीं करता, जहाँ पहुँचकर उसे संतोष और आनन्द मिलता है।

ईश्वर और मनुष्य के बीच धर्म जो दूरी पैदा करता है, विवेक उसे मिटाता है। मनुष्य के सारे सकारात्मक गुण, सारी वास्तविकताएँ ईश्वर के गुण और उसकी विशेषताएँ हैं, लेकिन अंतर इतना ही है कि मनुष्य में वे सीमित मात्रा में हैं और ईश्वर में असीमित मात्रा में। विवेक दोनों के बीच की विभाजक रेखा को मिटाने का कार्य करता है एवं मनुष्य को वास्तविकता से परिचित कराता है। ईश्वर वही सत्ता है जिसे विवेक सर्वोच्च मानता है। विवेक सिर्फ़ उसी ईश्वर में विश्वास करता है जो उसकी अपनी प्रकृति के अनुरूप हो और जो उसकी अपनी प्रकृति की अनुभूति हो। जहाँ तक मनुष्य के विवेक की पहुँच है, उसके ईश्वर की पहुँच भी वहीं तक है। अनंत, असीम सत्ता के रूप में ईश्वर की अवधारणा विवेक की अनन्त, असीम शक्ति का प्रमाण है। कहा जा सकता है कि ईश्वर विवेक पर निर्भर है, विवेक ईश्वर पर नहीं। ईश्वर सर्वोच्च मानव विवेक है, विवेक का मूर्तिमान रूप है।

1.2 अवतार की अवधारणा तथा उसके स्रोत

"अवतार" का शाब्दिक अर्थ है नीचे आना, उतरना। अवतार का सिद्धांत हिन्दू, ईसाई, बौद्ध आदि धर्मों में पाया जाता है। प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय साहित्य में यह सिद्धांत एक अत्यंत

शक्तिशाली प्रेरक तत्व के रूप में काम करता रहा है। वस्तुतः ईश्वर या किसी देवता का मानव या मानवेतर रूप में पृथ्वी पर आविर्भाव ही अवतार कहलाता है। ज्योफ्रे पैरिण्डर के शब्दों में --- "The avatar is an appearance of any deity on earth, or descent from heaven.'

भारतीय साहित्य में अवतार के अर्थ को व्यंजित करने के लिए कुछ अन्य शब्दों का भी प्रयोग होता रहा है, यथा : संभव, प्रादुर्भाव आदि।

जैसा कि चर्चा की जा चुकी है, ईश्वर मानव की चिन्तन-शक्ति का सर्वोच्च शिखर है, वह उसका सर्वोच्च विवेक है। निश्चय ही, वह कोई स्थूल वस्तु, स्थूल जीव नहीं है। जिस प्रकार हृदय या मस्तिष्क की कोई मूर्ति नहीं बनायी जा सकती है, उसी प्रकार ईश्वर की भी ईश्वर के रूप में कोई मूर्ति नहीं बनायी जा सकती। ईश्वर तो मनुष्य की अनुभूति, उसके हृदय से अभिन्न है। स्पष्ट ही, वह निराकार है, निर्गुण है। फिर इस निराकार ईश्वर के अवतार का क्या आधार और औचित्य है? इसकी अवधारणा के स्रोत क्या हैं? प्रस्तुत प्रसंग में इसका विवेचन अपेक्षित है।

वस्तुतः अवतार ईश्वर की मानवीय प्रकृति की व्यावहारिक और भौतिक अभिव्यक्ति के अलावा और कुछ नहीं है। वह मनुष्य में पाये जाने वाले व्यापक मानवीय गुणों का सार है। ईश्वर में मानवीय गुणों का आरोप ही उसे अवतार बनाता है। धर्म के क्षेत्र में निराकार ईश्वर से मनुष्य संतुष्ट नहीं होता है, ईश्वर के मानसिक

---

1. ज्योफ्रे पैरिण्डर : अवतार एण्ड इन्कारनेशन, पृ. 19.

प्रतिबिंब मात्र से उसका काम नहीं चलता है। वह ईश्वर को साकार रूप में देखना चाहता है, अपनी आँखों में बसाना चाहता है। अतः वह ऐसे ईश्वर की कल्पना करता है, जो उसी की तरह हो, जिससे वह व्यक्तिगत संबंध स्थापित कर सके, जिससे उसका संवाद स्थापित हो सके। वह ईश्वर की कल्पना ऐसे प्राणी के रूप में करता है, जो सर्वशक्तिमान हो और सभी मानवीय गुणों का पुंज हो। ऐसे ईश्वर से संबंध स्थापित कर मनुष्य संतोष और आनन्द का अनुभव करता है। मनुष्य का मनुष्य के साथ जितने प्रकार का संबंध हो सकता है, उससे अलग प्रकार के संबंध की कल्पना वह ईश्वर के संदर्भ में नहीं करता है। निश्चय ही, वे संबंध मानवीय संबंधों के दायरे में होते हैं। निराकार के साथ इस तरह के किसी संबंध की कल्पना नहीं की जा सकती है। मनुष्य का मन निराकार का चिन्तन और मनन करने में कठिनाई का अनुभव करता है। ध्यान करते ही मन किसी-न-किसी प्रकार की प्रतिमा पर अटक जाता है। यह बिल्कुल स्वाभाविक है। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार -- "मन में किसी मूर्ति के बिना आये सोच सकना उतना ही असंभव है, जितना श्वास लिए बिना जीवित रहना। साहचर्य के नियमानुसार भौतिक मूर्ति से मानसिक भाव विशेष का उद्दीपन होने से तदनुरूप मूर्तिविशेष का भी आविर्भाव होता है।"[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि मनुष्य का मन सहज और स्वाभाविक रूप से अपने इष्ट ईश्वर के रूप की कल्पना करता है, उसे अपने बीच, मनुष्य समाज के बीच देखना चाहता है और इसके परिणामस्वरूप उसके अवतार की कल्पना करता है। स्पष्ट ही, यह अवतार कहीं बाहर स्थित ईश्वर का अवतार न होकर उसके मन के भीतर स्थित ईश्वर का अवतार है। महर्षि अरविन्द के शब्दों में--- "मनुष्य के अन्दर जो भगवान् हैं, वही नर में नारायण का सनातन अवतार

---

1. विवेकानन्द साहित्य : प्रथम खंड, पृ. 17.

हैं; और नर में जो अभिव्यक्ति है वही बहिर्जगत् में उनका चिह्न और विकास है।"[1]

मनुष्य के जैसे विचार होते हैं, जैसी उसकी मनोवृत्ति होती है, उसी के अनुरूप वह ईश्वर और उसके अवतार की कल्पना करता है। इसमें उसकी बुद्धि, उसके विवेक की क्षमता की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। एक पशु की आँख अपनी जरूरतों से आगे नहीं देख पाती है, उसकी प्रकृति उसकी जरूरतों से आगे नहीं जाती है। जहाँ तक उसकी प्रकृति की पहुँच है, उसकी सीमित आत्म-चेतना की पहुँच भी वहीं तक है। यदि वह ईश्वर की कल्पना करे, तो उसका ईश्वर उसी सीमित दायरे में रहेगा। वह उसे पशु रूप में ही दिखेगा। बंदर की चेतना की पहुँच जहाँ तक है, उसकी कल्पना का ईश्वर उससे अधिक दूरी पर नहीं रह सकता है और उसके ईश्वर का रूप बंदर से मिलता-जुलता ही रहेगा। ऐसा उसकी चेतना के अत्यंत सीमित होने के कारण होता है। उसी तरह किसी पक्षी के लिए ईश्वर कोई पंखयुक्त जीव ही हो सकता है, उससे अधिक उच्च स्थिति की जानकारी उसे है ही नहीं। उसके लिए सबसे ऊँची प्रकृति है पक्षी-प्रकृति। उसका उच्चतम अस्तित्व उसकी इसी प्रकृति के अनुरूप हो सकता है। स्पष्ट है कि ईश्वर की अवधारणा, उसके अवतार की अवधारणा सापेक्ष होती है। मनुष्य अपनी चेतना-अपनी प्रकृति की क्षमता के अनुरूप उसकी अवधारणा करता है। चूँकि मनुष्य की चेतना असीम है, उसकी चिन्तन-शक्ति असीम है, इसलिए उसके ईश्वर और उसके अवतार की अवधारणा के संदर्भ में भी कोई सीमा नहीं हो सकती। भारतीय साहित्य में ईश्वर के विभिन्न अवतारों की अवधारणा पर यह बात पूरी तरह लागू होती है।

---

1. महर्षि अरविन्द : गीता-प्रबन्ध, पृ. 14.

भारत में ईश्वर के अनेक अवतारों की अवधारणा मिलती है। यहाँ अवतार की अवधारणा काफ़ी व्यापक है। मानव ही नहीं मानवेतर जीवों के रूप में भी अवतार होते हैं, यथा : मत्स्य, कूर्म, बराह, नरसिंह आदि। लेकिन इन रूपों में ईश्वर की अवतारणा के पीछे जो एक मुख्य तत्व है, वह है इनमें मानवीय लक्षणों, मानवीय गुणों की उपस्थिति। सारे अवतारों के पीछे कोई-न-कोई बड़ा उद्देश्य है और उसका संबंध संसार के कल्याण से है। इन अवतारों का महान उद्देश्य इन्हें मानवीय गुणों से जोड़ देता है, इनमें व्यापक मानवीय लक्षणों की प्रतिष्ठा करता है। अगर ये मानवीय लक्षणों और गुणों से समन्वित न हों, तो मनुष्य के लिए इनका कोई मूल्य नहीं। उनमें मानवीय गुणों की उपस्थिति ही उन्हें मनुष्य से जोड़ती है। अगर वे भिन्न प्रकृति के होते, तो उनका अस्तित्व और अनस्तित्व किसी तरह भी मनुष्य के चिन्तन का विषय नहीं होता। वस्तुतः मनुष्य ऐसी किसी वस्तु में गहरी अभिरुचि नहीं ले सकता है, जिसमें उसकी अपनी प्रकृति की झलक न हो, उसकी भागीदारी न हो। फायरबाख के शब्दों में ---

"How can he take so profound an interest in an existance in which his own nature has no participation?"[1]

भारत में अवतार की अवधारणा में यह बात बराबर महत्वपूर्ण रही है कि उससे मनुष्य की चेतना का सामंजस्य हो। प्रकृति भिन्न होने से उसके साथ मनुष्य अपना सामंजस्य अनुभव नहीं कर पाएगा, उससे आत्मीय स्तर पर जुड़ नहीं पाएगा, बल्कि दोनों के बीच एक व्यापक दूरी बनी रहेगी। ऐसी स्थिति में अवतार का कोई औचित्य नहीं रह जाएगा। भक्त अपने आराध्य के साथ मानवीय भावनाओं के द्वारा संबंध

---

1. लुडविग फायरबाख : एसेन्स ऑफ क्रिश्चियनिटि, पृ. 34.

स्थापित करता है, उसे अपने सुख-दुःख में शामिल पाता है और यही उसके लिए सबसे बड़ी खुशी है, सबसे बड़ा संतोष है। अवतार में वह यही चीज़ पाता है। अपनी प्रकृति में सहभागी होने के लिए मनुष्य के पास ईश्वर के अवतार की अवधारणा से बढ़कर और कोई अवधारणा नहीं है।

अवतार की अवधारणा के संदर्भ में मानवीय संबंधों का महत्व सबसे अधिक है। भक्त अपने इष्ट के अवतार को जिस दर्पण में देखता है, वह मानवीय संबंधों का दर्पण है। यह संबंध, वास्तव में, उस संबंध का प्रक्षेपण है, जो एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के साथ होता है। स्पष्ट ही, यह सामाजिक संबंध है। इसके अभाव में अवतार की अवधारणा संभव नहीं है। भारतीय साहित्य और भारतीय मिथकशास्त्र के दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण अवतार हैं राम और कृष्ण। इनके संबंध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है --- "......राम और कृष्ण शब्दोपदेष्टा के रूप में हृदय के सम्मुख नहीं लाए गये हैं, बल्कि जीवन के प्रत्येक पथ में सौंदर्य और अमंगल की ज्योति जगाने वाली भगवत्कला के रूप में लाए गये हैं। इन अवतारों में शक्ति, शील और सौंदय तीनों की चरम अभिव्यक्ति एक साथ समन्वित होकर मनुष्य के संपूर्ण हृदय को--उसके किसी एक ही पक्ष को नहीं--आकर्षित कर लेती है। सारांश यह कि ये लोकव्यवहार के भीतर दिखाए गये हैं; उसके बाहर खड़े होकर उपदेश देते हुए नहीं। मनुष्य का इस जगत के साथ जो अनेक रूपात्मक संबंध है, उस संबंध को भगवत्संबंध के रूप में प्रकाशित करने के लिए ये अवतार पृथ्वी पर आए हैं।"[1]

राम और कृष्ण के रूप में ईश्वर के अवतार शक्ति, शील और सौंदर्य से समन्वित होकर मानव-हृदय को आकर्षित करते हैं, आकर्षित ही नहीं करते,

---

1. रामचन्द्र शुक्ल : सूरदास, पृ. 53.

वस्तुतः, उससे तादात्म्य स्थापित करते हैं। वे इन गुणों की चरम अभिव्यक्ति हैं और मनुष्य का मनुष्य के साथ जो संबंध है, उसी को भगवान के साथ संबंध के रूप में प्रकाशित करते हैं, उसका उदात्तीकरण करते हैं। सारे अवतारों में राम और कृष्ण ये दो अवतार ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण क्यों माने जाते हैं, इसका जवाब भी शुक्ल के उक्त उद्धरण में स्पष्ट है। कहने की आवश्यकता नहीं कि आचार्य शुक्ल का उपर्युक्त उद्धरण, ईश्वर और उसके अवतारों के सामाजिक आधार का विवेचन उनके वस्तुपरक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का सूचक है।

अन्य किसी भी अवधारणा की तरह ईश्वर के अवतार की अवधारणा के सामाजिक संदर्भ होते हैं, सामाजिक कारण होते हैं। अगले अध्याय में यथाप्रसंग उनकी चर्चा की जाएगी। प्रस्तुत प्रसंग में अवतार के आधार का संक्षिप्त विवेचन अपेक्षित है। वस्तुतः अवतार की अवधारणा का जन्म समाज के विक्षोभ से होता है, उसकी अव्यवस्था से होता है, उसके असंतुलन से होता है। उसकी कल्पना के पीछे समाज की अव्यवस्था और उसके विक्षोभ से मुक्ति पाने की तीव्र कामना कार्य करती है। यह उसका बहुत ही महत्वपूर्ण कारण है, महत्वपूर्ण स्रोत है और इस दुःखद, निराशाजनक स्थिति से समाज को मुक्ति दिलाना उसका महत्वपूर्ण कार्य है, उद्देश्य है। स्पष्ट ही, यह लोकहित है। यह सामाजिक विषमता, सामाजिक विक्षोभ और अव्यवस्था को दूर कर समाज में सामंजस्य और सुव्यवस्था की स्थापना करता है। डॉ. रमेश कुन्तल मेघ के शब्दों में — "सगुण ब्रह्म इस संसार की अव्यवस्था {कैऑस} को दिव्य व्यवस्था {कॉस्मस} में रूपांतरित करता है और इसलिए वह अवतार लेता है; मनुष्य बनता है, मनुष्य की तरह रागों और गुणों से चरित्र रचता है; मनुष्य की तरह राजा, पिता, पति, सखा, प्रिय आदि के वैयक्तिक एवं सामाजिक संबंधों को परिनिष्ठित करता है और मनुष्य की तरह ही जन्म-मरण के चक्र में घूमता है। इस भाँति सगुण दृष्टि ने

दिव्य-लोक तथा पृथ्वी-लोक को मानव-संबंधों से अनुस्यूत कर दिया।"[1]

प्रेम अवतार का एक बहुत महत्वपूर्ण प्रेरक तत्व है। कहा जा सकता है कि अवतार प्रेम की सबसे जोरदार, सबसे गहरी, सबसे स्पष्ट और हार्दिक इंद्रियगोचर अभिव्यक्ति है। प्रेम अपने पात्र की सारी अपूर्णता को ढँक देता है, उसे दूर कर देता है। पूर्ण और अपूर्ण, निष्पाप और पापी, शाश्वत और नश्वर इन सबको एक दूसरे से गहराई से जोड़ने वाला तत्व है प्रेम। यहाँ तक कि प्रेम को ईश्वर से अभिन्न माना गया है। फायरबाख ने लिखा है --- **"Love is God himself, and apart from it there is no God. Love makes man God and God man. Love strengthens the weak and weakens the strong, abases the high and raises the lowly, idealises matter and materialises spirit. Love is the true unity of God and man, of spirit and nature."[2]**

अर्थात् "प्रेम स्वयं ईश्वर है और इससे अलग कोई ईश्वर नहीं है। प्रेम मनुष्य को ईश्वर और ईश्वर को मनुष्य बनाता है। प्रेम कमजोर को ताकतवर और ताकतवर को कमजोर बनाता है, उच्च को पदावनत करता है और नीच को ऊँचा उठाता है, पदार्थ को भाव और भाव को पदार्थ बना देता है। प्रेम ईश्वर और मनुष्य की सच्ची एकता है, आत्मा और प्रकृति की सच्ची एकता है।" प्रेम के स्वरूप और उसकी भूमिका का यह बहुत ही बढ़िया विवेचन है। भारतीय भक्ति साहित्य में प्रेम का यह रूप सहज विद्यमान है। यहाँ प्रेम को साक्षात् परमेश्वर का रूप माना जाता

---

1. रमेश कुन्तल मेघ : तुलसी : आधुनिक वातायन से, पृ. 28.
2. लुडविग फायरबाख : एसेन्स ऑफ क्रिश्चियनिटि, पृ. 48.

रहा है, यहाँ तक कि कहीं-कहीं उसे परमेश्वर से भी ज्यादा मूल्यवान बताया गया है। भक्ति-साहित्य के विवेचन के प्रसंग में प्रेम के स्वरूप और उसकी भूमिका की चर्चा की जायगी।

निश्चय ही, प्रेम अदृश्य के प्रति, निराकार के प्रति नहीं हो सकता। उसके लिए कोई ठोस आलंबन चाहिए, आधार चाहिए। सामान्य जीवन में हम देखते हैं कि जिसके प्रति प्रेम होता है, मनुष्य में उसको प्रत्यक्ष देखने की अभिलाषा होती है, तीव्र लालसा होती है। वह उसे अपने सामने, अपने नजदीक देखना चाहता है। प्रेम में दूरी नहीं चलती है। अपने प्रिय की एक झलक भी बड़ी मूल्यवान होती है, संपूर्णता में पाने की खुशी का अनुमान लगाया जा सकता है। अवतार की अवधारणा मनुष्य की इस मनोवृत्ति की उपज है। अवतार मनुष्य के प्रति प्रेम की असंदिग्ध निश्चितता है, गारंटी है।

कुछ विचारक सगुण, आकार रूप में निर्गुण, निराकार ईश्वर के अवतार को मिथ्या कल्पना मानते हैं, आधारहीन मानते हैं। आधुनिक भारत के प्रखर बुद्धिवादी स्वामी दयानन्द सरस्वती ऐसे ही विचारक हैं। उनका बुद्धिवादी मानस अवतार की अवधारणा को किसी भी तरह ग्रहण नहीं कर पाता है, गले के नीचे नहीं उतार पाता है। वे इसे एक असंभव कल्पना, असंभव व्यापार मानते हैं। उनका विचार है कि अवतार की अवधारणा उतनी ही असंभव है जितनी कि माता-पिता के बिना संतान की उत्पत्ति, वन्ध्या के पुत्र और पुत्री का विवाह और मनुष्य के सिर पर सींग।[1] दयानन्द की दृष्टि में वे लोग मूर्ख हैं जो ईश्वर के अवतार में विश्वास करते हैं, ऐसी अप्रामाणिक बातें करते हैं। ऐसे लोगों

---

1. स्वामी दयानन्द सरस्वती : दयानन्द ग्रंथमाला, प्रथम भाग, पृ. 143-144.

के बारे में उनका विचार है —— "यह कल्पना केवल अज्ञानी और अविद्वानों की है। जिनको विद्या नहीं होती, वे पशु के समान यथा-तथा बर्राया करते हैं। जैसे सन्निपात ज्वरयुक्त मनुष्य अण्डबण्ड बकता है, वैसे ही अविद्वानों के कहे वा लेख को व्यर्थ समझना चाहिए।"[1] इस प्रकार, स्वामी दयानन्द अवतार की अवधारणा में विश्वास करने वाले लोगों की निन्दा में कलम तोड़ देते हैं। उन्हें अवतार की अवधारणा मूर्खता के सिवा और कुछ नहीं लगती है।

प्रखर बुद्धिवादी स्वामी दयानन्द वेदों को ईश्वर की रचना और इसीलिए स्वयंप्रमाण तो मानते हैं, लेकिन निर्गुण ब्रह्म की सगुण, साकार रूप में अभिव्यक्ति में गहरा अंतर्विरोध देखते हैं और उसे बकवास समझते हैं। यह स्वयं उनका अंतर्विरोध देखते हैं और उसे बकवास समझते हैं। यह स्वयं उनका अंतर्विरोध सूचित करता है। ईश्वर के अवतारों की अवधारणा के आधार की चर्चा की जा चुकी है, स्वयं ईश्वर की अवधारणा की चर्चा भी की जा चुकी है। यहाँ उन बातों को दुहराने का कोई औचित्य नहीं। धर्म या पाण्डित्य के क्षेत्र में किसी विशेष संप्रदाय या मत से प्रतिबद्ध हो जाने पर दृष्टिकोण में किस प्रकार इकहरापन आ जाता है, वस्तुओं और विचारों को खुली निगाह से देखने का विवेक और इसके लिए अपेक्षित धैर्य चला जाता है, अवतार के संबंध में स्वामीजी के उपर्युक्त मत इस बात के ठोस प्रमाण हैं।

किन्तु, बड़ा विचारक आखिरकार बड़ा तो होता ही है। किसी सिद्धांत या विचार से सहमति या असहमति व्यक्त करते हुए भी वह कोई-न-कोई ऐसी बात कह जाता है, जिसका सूत्र पकड़कर इस या उस दिशा में बढ़ा जा सकता है। उसके मतों से सहमत या असहमत होना

---

1. स्वामी दयानन्द सरस्वती : दयानन्द ग्रंथमाला, प्रथम भाग, पृ. 313.

अलग बात है। उपर्युक्त प्रसंग में स्वामी दयानन्द ने ऐसे लोगों को अविद्वान्, मूर्ख कहा है, जो अवतार को मानते हैं। यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। भारत में उपनिषदों में निराकार ब्रह्म की अवधारणा मिलती है, वहाँ अवतार की कल्पना प्रायः नहीं है, लेकिन औपनिषदिक चिंतन की श्रेष्ठता से कौन इनकार कर सकता है? वेदों और औपनिषदिक चिंतन में पूरी आस्था रखने वाले लोग तब क्या आज भी अवतार को नहीं मानते हैं। किन्तु, सामान्य जनता इसके ठीक दूसरे छोर पर है। वह निराकार ईश्वर में विश्वास नहीं करती है। अवतारों में उसकी आस्था है, और गहरी आस्था है। अवतार वैष्णव मत का एक महत्वपूर्ण सिद्धांत है और स्वयं वैष्णव मत सामान्य जनता के बीच पैदा हुआ था, प्रचलित हुआ था। वह लोकधर्म था, सही अर्थों में। मानव या मानवेतर जीव के रूप में ईश्वर के अवतार का सिद्धांत जनसाधारण का सिद्धांत है। ज्ञानी समर्थ होते हैं, अपना मन निराकार पर टिका सकते हैं, लेकिन यह सामान्य लोगों के बूते की बात नहीं। सगुण, साकार से कम में उन्हें संतोष नहीं मिलता। दार्शनिक दृष्टि से निराकार ईश्वर में विश्वास भले ही स्वाभाविक हो, साधारण जनता ऐसे अवतारी ईश्वर को चाहती है, जिसके साथ अपना संबंध स्थापित कर सके, तादात्म्य स्थापित कर सके। प्रसंगात् आधुनिक भारत के एक दूसरे प्रवर विचारक का मत अवलोकनीय है, जो सगुण ईश्वर, अवतारी ईश्वर को मनुष्य की उच्चतम धारणा मानते हैं। वे हैं स्वामी विवेकानन्द। उनके अनुसार---"हम जानते हैं, सगुण ईश्वर मनुष्य की उच्चतम धारणा है। हम यह भी जानते हैं कि दार्शनिक दृष्टि से समग्र जगद्व्यापी, समस्त संसार जिसकी अभिव्यक्ति है, उस निर्गुण ईश्वर में विश्वास ही स्वाभाविक है। पर साथ ही हम साकार वस्तु की कामना करते हैं, ऐसी वस्तु चाहते हैं, जिसको हम पकड़ सकें, जिसके चरणों पर अपने हृदय को उत्सर्ग कर सकें। इसलिए सगुण ईश्वर ही मनुष्य स्वभाव की

उच्चतम धारणा है।"[1]

वेदान्त में आस्था रखने वाले और सामाजिक संदर्भ में उसकी नई व्याख्या करने वाले प्रवर विचारक विवेकानन्द अवतार को मनुष्य की उच्चतम धारणा मानते हैं, तो यह दर्शन और धर्म के सिद्धांतों की उनकी गहरी समझ और सूक्ष्म विवेचन-क्षमता का ही ठोस प्रमाण है।

स्पष्ट है कि अवतार की अवधारणा का आधार इस बात में निहित है कि ईश्वर में व्यक्तित्व के आरोप में ही वह अपनी प्रकृति को पाता है, अपने को पाता है। ईश्वर का व्यक्तित्व प्रकारान्तर से मनुष्य का ही व्यक्तित्व है, उसके व्यक्तित्व का प्रक्षेपण है। ऐसे ईश्वर से वह सहज लगाव और तादात्म्य का अनुभव करता है। अनुभूतिप्रवण मनुष्य के लिए अनुभूतिरहित ईश्वर खाली और नकारात्मक ईश्वर है। उसकी दृष्टि में इसका कोई मूल्य नहीं। मनुष्य ऐसे ईश्वर की कल्पना करता है जो उसके हृदय में गहरे धँसा हो और जो उसका एकदम अपना हो और जिससे वह अपनी भावनाओं, विचारों का आदान-प्रदान कर सके। आकस्मिक नहीं कि फायरबाख ईश्वर को सार्वजनिक स्थान की एक ऐसी बही की संज्ञा देते हैं, जिसमें मनुष्य अपने उच्चतम विचारों और अपनी उच्चतम भावनाओं को अंकित करता है। उनके शब्दों में ---- **"God is for man the commonplace book where he registers his highest feelings and thoughts."**[2]

जाहिर है कि ऐसा ईश्वर सगुण, अवतारी ईश्वर ही हो सकता है।

---

1. विवेकानन्द साहित्य : खंड पाँच, पृ. 151.
2. लुडविग फायरबाख : एसेन्स ऑफ क्रिश्चियनिटि, पृ. 63.

1.3 अवतार एक मिथक

अवतार एक मिथक है। उसकी अवधारणा मिथकीय विधान में सन्निहित है। यह उस प्राचीन मिथक का विकास है, जिसके अनुसार अपनी माया की सृजनात्मक शक्ति के द्वारा ईश्वर कोई भी रूप ग्रहण कर सकता है। अवतार न सिर्फ मिथक है, बल्कि मिथक का अत्यन्त उर्वर स्रोत भी है। डॉ. आर.एन.दाण्डेकर के शब्दों में --- **"The concept of avatara has indeed proved one of the most fruitful sources of Hindu mythology."**[1]

मिथक का एक लक्षण यह है कि वह परिवर्तनशील होता है। एक संस्कृति से दूसरी संस्कृति के मिथक तो भिन्न होते ही हैं, संस्कृति विशेष के मिथक की संरचना में भी इतिहास के कालप्रवाह में बदलाव आता है। वस्तुतः मिथक कभी पूर्ण नहीं होते। एक काल का मिथक परवर्ती काल में वही नहीं रह जाता है। उसके अनुरूप उसमें कुछ जुड़ता है और उससे कुछ घटता है। इस संबंध में कुणाल चक्रवर्ती लिखते हैं --- **"[redacted].....myths are never completed . They are adapted by successive generations to their cultural standards. They undergo changes corresponding to their social and historical context."**[2]

अवतार का मिथक इसका अपवाद नहीं है। काल के बदलाव के साथ उसकी संरचना और उसके उद्देश्य में भी बदलाव आ जाता है। "गीता" में अवतार

---

1. कल्चरल हेरिटेज ऑफ इंडिया : खंड-2, पृ. 236.
2. सव्यसाची भट्टाचार्य एवं रोमिला थापर (सं0) : सिचुएटिंग इंडियन हिस्ट्री, पृ. 387-388.

के जो उद्देश्य बतलाये गए हैं, "श्रीमद्भागवत" में वही नहीं हैं और परवर्ती हिन्दी के भक्त कवियों के हाथ में पहुँचकर उनमें कुछ और बदलाव घटित होता है। यथाप्रसंग इस संदर्भ में विवेचन किया जाएगा।

मिथक कभी जड़ नहीं होता। उसमें विकास की संभावना बराबर बनी रहती है। मिथक संघर्ष की जीवंत प्रक्रिया से गुजरते हैं और नई अनुभूतियों से उनका घात-प्रतिघात चलता रहता है। डॉ. द्विजेन्द्र नारायण सिंह मिथक को "कालानुरूप समाभियोजन की क्षमता" से युक्त मानते हैं। उनके शब्दों में "मिथक की आवश्यकता इतनी गहरी और महत्वपूर्ण होती है कि एक मिथक तरल रूप में रहता है, जो कुछ भी सृजनीय और विकासशील है उसे सदा समायोजित करने के लिए प्रस्तुत तथा जो कुछ जड़ और बँधा है उसे सत्वर अस्वीकार करते हुए मिथक कभी भी एक निश्चित व्यवस्था (Crystalised system) के रूप में दृढ़ीभूत नहीं होता है। उसमें कालानुरूप समाभियोजन की क्षमता रहती है।"[1]

अवतार का मिथक डॉ. सिंह की उपर्युक्त मान्यता को पुष्ट करता है। अवतार का मिथक न अगतिशील है और न विलासिता की वस्तु ही। उसका संबंध लोगों की भौतिक, आध्यात्मिक आवश्यकताओं से रहा है और उसमें उनके सपनों, उनकी आशाओं और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति हुई है, उनका प्रक्षेपण हुआ है। आकस्मिक नहीं कि डॉ. द्विजेन्द्र नारायण सिंह कृष्णावतार के मिथक को एक "गहन मिथक"[2] की संज्ञा देते हैं।

मिथक की केन्द्रीय वस्तु होती हैं अतीत की महान् घटनाएँ, जैसे : विश्व की उत्पत्ति, मनुष्यों और देवताओं की उत्पत्ति,

---

1. द्विजेन्द्र नारायण सिंह : काव्यालोचन की समस्याएँ, पृ. 43.
2. वही : पृ. 36.

राजत्व का औचित्य-प्रतिपादन आदि। विश्व की उत्पत्ति और उसकी आधारभूत घटनाओं और वास्तविकता पर मिथक अधिक बल देता है। अवतार के मिथक में यह चीज़ बराबर मिलती है। विभिन्न अवतारों से संबंधित मिथकों में विश्व की उत्पत्ति, देवों की उत्पत्ति, चराचर जीवों की उत्पत्ति आदि के संबंध में अनेक कथाएँ-उपकथाएँ मिलती हैं, विवरण मिलते हैं। अर्न्स्ट कैसीरर मिथक में सिर्फ़ उत्पत्ति नहीं, बल्कि काल विशेष में उत्पत्ति के तत्व को रेखांकित करते हैं, उस पर जोर देते हैं। उनका मत है कि सच्चा मिथक विश्व और उसके अंगों तथा शक्तियों की अंतर्दृष्टि के निश्चित बिंबों या रूपों में---देवों, दानवों के रूपों में---ढलने के साथ आरंभ नहीं होता है। वह आरंभ तभी होता है, जब काल विशेष में इनकी उत्पत्ति की बात की जाती है, काल के संदर्भ में इनकी चर्चा की जाती है। वहाँ मनुष्य दिव्य के अवलोकन या चिन्तन में संतोष पाता है, जहाँ दिव्य के अस्तित्व और उसकी प्रकृति को काल में स्पष्ट किया जाता है, जहाँ मानव-चेतना देवों के बिम्बों से आगे इतिहास तक कदम बढ़ाती है, उनके आख्यान तक जाती है और तभी अपने सीमित और विशिष्ट अर्थ में मिथक हमारे सरोकार की वस्तु होता है। कैसीरर के शब्दों में ---- **"True myth does not begin when the intuition of the universe and its parts and forces is merely formed into definite images, into the figures of demons and Gods; it begins only when a genesis, a becoming, a life in time, is attributed to these figures. Only when man ceases to content himself with a static contemplation of divine, where the divine explicates its existence and nature in time, where the human consciousness takes the step forward from the figures of the Gods to the history, the narratike, of the Gods - only then have we to do with "myths" in the restricted, specific meaning of the word."**[1]

---

1. अर्न्स्ट कैसीरर : दि फिलॉसफी ऑफ सिम्बॉलिक फॉर्म्स, भाग-2, पृ. 104.

मिथक के संबंध में कैसीरर की उपर्युक्त स्थापना के संदर्भ में भारतीय साहित्य में अवतार की अवधारणा पर विचार करने पर हम पाते हैं कि उसमें काल का संकेत साफ़ है। "गीता" में अवतार के संबंध में श्रीकृष्ण अपना जो विख्यात सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं, उसमें काल का विशेष महत्व है। अवतार तभी होते हैं जब उस काल की परिस्थितियाँ इसके लिए आवश्यक जमीन तैयार कर देती हैं, उसके पहले नहीं। "यदा यदा हि....." से काल और उस काल का स्पष्ट संकेत है, बल्कि उस पर जोर दिया गया है, जब धर्म का नाश और अधर्म का बोलबाला होताहैआदि। हमारे यहाँ अवतार के मिथक में काल का विशेष महत्व है, उसे बराबर रेखांकित किया गया है। राम, कृष्ण आदि अवतारों के मिथकों में युग विशेष के सामाजिक अंतर्विरोधों की अभिव्यक्ति हुई है। ध्यातव्य है कि सिर्फ़ अतीत के अवतार ही नहीं, बल्कि भविष्य में होने वाला "कल्कि" अवतार भी काल की चेतना से बंधा हुआ है। कल्कि अवतार भविष्य में तभी घटित होगा, जब समाज खास परिस्थितियों के दौर से गुजर रहा होगा, जब "कलियुग" अपने चरम पर होगा। स्पष्ट ही, अवतार के मिथक में काल-चेतना सन्निहित है।

1.4 मिथक का स्वरूप तथा उसका गठन

मिथक अंग्रेजी शब्द "मिथ" का पर्याय है। अंग्रेजी का "मिथ" शब्द ग्रीक भाषा के मूल शब्द "मुथोस" (Muthos) से विकसित हुआ है, जिसका अर्थ है शब्द या वाणी। यह ऐसी कथा का शब्द माना जाता था, जिसका संबंध देवताओं तथा अलौकिक प्राणियों से होता था। कहना न होगा कि मिथक का मूल अर्थ आज भी कहीं-न-कहीं उससे जुड़ा है।

बहुत सारे विचारकों ने मिथक को समझने-समझाने के क्रम में उसे परिभाषित करने का प्रयास किया है, उसके लक्षण निर्धारित किये हैं। मिथक की सही समझ के लिए, उसके स्वरूप की जानकारी के लिए उनकी संक्षिप्त चर्चा अपेक्षित है।

मिथक का आधुनिक विवेचन ग्याम्बतिस्ता विको से माना जाता है। उनका मत है कि मिथक सत्य से बहुत दूर नहीं होता। वह कविता की तरह का सत्य है। उन्होंने मिथक को वास्तविक भाषा माना। उनके अनुसार मिथक एक प्रकार की काव्यात्मक भाषा है, एकमात्र भाषा जिसके लिए आदिम मानव समर्थ था। वह वास्तविक भाषा है, जिसके अपने रूपात्मक सिद्धांत तथा तर्क हैं। उन्होंने भाषा, कला एवं मिथक को मानव संस्कृति की एकता का प्रतिनिधि माना। विको ने मिथक को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखा।

फ्रायड ने मिथक की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की। स्वभावतः उन्होंने मिथक को कामवासना का रूपान्तर और छद्मवेश बताया। उन्होंने मिथक और स्वप्न में गहरी समानता पर बल दिया और बताया कि दोनों एक ही तरह कार्यशील होते हैं। उन्होंने मिथकीय प्रतीकों को स्वप्न-प्रतीकों से जोड़ा। उनका मत है कि मिथक और स्वप्न दोनों में ही व्यक्तित्व का विभाजन होता है। किन्तु, मिथक और स्वप्न एक दूसरे के समरूप नहीं होते हैं। दोनों में सबसे महत्वपूर्ण अंतर यह है कि जहाँ स्वप्न एक व्यक्ति का सरोकार है, वहाँ मिथक अभिव्यक्तिशील संदेश है। उसका सरोकार सामाजिक होता है और उसमें संस्कृति के आदर्शों और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति होती है।

युंग ने मिथक के गठन और विकास के संदर्भ में आद्य रूप का सिद्धांत प्रतिपादित किया। उनके अनुसार मानव मस्तिष्क उन आद्य रूपों

की भाषा में सोचता है, जो सामूहिक अचेतन में गहरे जमें होते हैं। मिथक इन्हीं आद्य रूपों के प्रक्षेपण हैं। युंग का मत है कि आदिम मानव का चेतन मन अपेक्षाकृत कम विकसित था। वह यह नहीं सोच पाता था कि वह सोच रहा है, बल्कि उसे लगता था कि कोई उसके अंदर सोच रहा है। शक्तिशाली अचेतन मन से वह इतना अभिभूत रहता था कि प्रत्यक्ष की व्याख्या में उसे कोई रुचि नहीं रहती थी। वह भौतिक तथ्यों से आगे नहीं बढ़ता है, वह इसका वर्णन करता है कि उसका मन उन्हें कैसा अनुभव करता है। युंग के शब्दों में --- **"Primitive mentality differs from the civilized chiefly in that the conscious mind is far less developed in extent and intensity. The primitive cannot assert that he thinks, it is rather that "something thinks in him........The archetype does not proceed from physical facts; it describes how the psyche experiences the physical facts."[1]**

युंग मानते हैं कि मिथक आदिम मनुष्य के मन के प्रतिनिधि ही नहीं, स्वयं उसका जीवन हैं। आदिम मनुष्य का मन मिथक का निर्माण नहीं करता, उसका अनुभव करता है। मिथक उसके पूर्व-चेतन मन का प्रकाशन है, अचेतन मन की घटनाओं का अनैच्छिक बयान है। युंग लिखते हैं --- **"The primitive mentality does not invent myths, it experiences them. Myths are original revelations of the pre-conscious psyche, involuntary statements about unconscious psychic happenings."[2]**

---

1. सी.जे. युंग : इंट्रोडक्शन टू ए साइंस ऑफ मिथॉलॉजी, पृ. 100-101.
2. वही : पृ. 101.

मिथक की उत्पत्ति के संबंध में युंग के मत की सीमाएँ हैं। वे उसके सामाजिक पक्ष की उपेक्षा करते हैं। साथ ही, वे मिथक-रचना में कर्मकांड की भूमिका को भी नजरंदाज करते हैं।

फ्रेजर ने मिथक का गहरा संबंध कर्मकांड से बतलाया और उन्होंने मिथक की व्याख्या उसी संदर्भ में की। उनका मत है कि समानता पर आधारित आदिम विश्वासों ने जादू, धर्म और मिथक को जन्म दिया।

मिथक के स्वरूप और उसकी व्याख्या के संबंध में अन्स्र्ट कैसीरर ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। उन्होंने इस बात पर आपत्ति की कि मिथक का जन्म अज्ञान से होता है। उनका मत है कि जब चेतना के लिए यह संसार अनुभववादी वस्तुओं की संपूर्णता तथा अनुभववादी तत्वों की जटिलता जैसा प्रतीत हुआ, तब उसके काफी पहले वह मिथकीय शक्तियों और प्रभावों के योग के रूप में प्रकट हो चुका था। उनके शब्दों में--

"Long before the world appeared to consciousness as a totality of empirical things and a complex of empirical attributes it was manifested as an aggregate of mythical powers and effects."[1]

---

1. अन्स्र्ट कैसीरर : दि फिलॉसफी ऑफ सिम्बॉलिक फार्म्स, भाग-2, पृ. 1.

कैसीरर का विचार है कि मिथक और भाषा को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है। वे एक-दूसरे को अनुकूलित करते हैं --- " Myth and language are inseparable and mutually condition each other."[1]

वे मिथक की संरचना में बौद्धिकता के तत्वों का अभाव मानते हैं। उनके अनुसार --- ".....it would be impossible to characterize the structure of myth as rational."[2]

कैसीरर मिथक को सैद्धांतिक मतों की प्रणाली मानने से इनकार करते हैं। वे मिथकीय संवेदना को मानव जीवन के एक विशिष्ट ढाँचे के रूप में देखते हैं। वे मिथक को एक तरह का प्रतीकात्मक रूप मानते हैं एवं विश्वास को उसका केन्द्र।

लेवी-स्ट्रॉस संपूर्ण संस्कृति को संप्रेषण की प्रणाली और मिथक को संप्रेषण का विशिष्ट रूप मानते हैं। उनके अनुसार --- "The whole of culture may be regarded as a communications system. Myth is but a particular form of communication."[3]

मिथक के संबंध में यह उनका बुनियादी दृष्टिकोण है। साथ ही वे यह मानते हैं कि मिथक का विश्लेषण उसकी संरचना के आधार पर किया जाना

---

1. अर्न्स्ट कैसीरर : दि फिलॉसफी ऑफ सिम्बॉलिक फॉर्म्स, भाग-2, पृ. 40.
2. अर्न्स्ट कैसीरर : एन एसे ऑन मैन, पृ. 25.
3. एडमंड लीच [सं0] : स्ट्रक्चरल स्टडी ऑफ मिथ एण्ड टोटेमिज्म, पृ. 98.

चाहिए। वे मिथक के विश्लेषण को भाषा के विश्लेषण के समान मानते हैं। भाषा के समान मिथक की अलग-अलग इकाइयों का अपने आप में कोई अर्थ नहीं होता। अपनी संपूर्णता में ही वे सार्थक हैं, अलग-अलग नहीं। ठीक उसी तरह जिस तरह संगीत-ध्वनि की एक अलग इकाई नहीं, समग्र संगीत-ध्वनि सार्थक होती है। लेवी-स्ट्रॉस का मत है कि वर्तमान काल में इतिहास ने मिथकशास्त्र का स्थान ग्रहण कर लिया है।

मिथक का विवेचन करने वाले विद्वानों में एक महत्वपूर्ण नाम है मर्सिया इलियड का। इलियड मिथक को पवित्र यथार्थ मानते हैं। उनके अनुसार मिथक आदिम और प्राचीन समाज में लोगों के सामाजिक जीवन और संस्कृति का मुख्य आधार है। उस समाज में मिथक परम सत्य की अभिव्यक्ति माना जाता है। इसलिए वह परम सत्य की अभिव्यक्ति माना जाता है क्योंकि वह महान् काल की प्रभात वेला में, पावन काल की प्रभात वेला के इतिहास का बयान करता है। स्पष्ट है कि वे मिथक को ऐसी घटनाओं का वृत्तान्त मानते हैं जो पावन काल में घटी थीं। वे लिखते हैं —— ".....a myth is a true history of what came to pass at the beginning of Time, and one which provides the pattern for human behaviour. In imitating the exemplary acts of a God or of a mythic hero, or simply by recounting their adventures, the man of an archaic society detatches himself from profane time and magically re-enters the Great Time, the sacred time."[1]

---

1. मर्सिया इलियड : मिथ्स, ड्रीम्स एण्ड मिस्ट्रिज, पृ. 23.

अर्थात्—"मिथक काल के आरंभ की घटनाओं का इतिहास है, जो मानवीय व्यवहार के लिए प्रतिमान हैं। किसी देवता अथवा मिथकीय नायक के अनुकरणीय कार्यों की नकल के द्वारा अथवा उनके साहसिक कार्यों का स्मरण करके, प्राचीन समाज का मनुष्य अपने को अपावन काल से अलग कर लेता है और महान काल, पावन काल में प्रवेश कर जाता है।" "सैक्रेड" तथा "प्रोफेन" काल के अर्थ को स्पष्ट करते हुए डॉ. रमेश कुन्तल मेघ ने लिखा है—"मिथक के दर्शनशास्त्र में पुनीत काल (Sacred time) और धर्मनिरपेक्ष काल (profane time) ये दो धारणाएँ हैं। मिथकीय इतिहास पुनीत काल में घटता है तथा कार्यकारण की श्रृंखला से संचालित अनुभवगम्य इतिहास धर्मनिरपेक्ष काल में घटता है। मिथकीय इतिहास में यथार्थता अनिवार्य रूप से पुनीत भी है अर्थात् जो यथार्थता है, वह पावनता भी है। यथार्थ और पुनीत समीकरणबद्ध हैं। मिथकीय काल कालातीत (Nontemporal) है जो बिना क्रम और चक्र के घटने के कारण प्रत्यावर्तित भी हो जाता है। ......मिथक इसलिए सत्य है क्योंकि वह पुनीत है।"[1]

स्पष्ट ही, इलियड कहना चाहते हैं कि मिथक मानव समाज के आरंभ के प्रति मनुष्य के मोह को प्रतिबिंबित करता है और उस रचनात्मक युग में वापसी का आह्वान करता है। वस्तुतः मनुष्य मिथक इस अर्थ में जीता है कि वह प्राचीन घटनाओं के प्रभाव में रहता है। अतः वैसा ही वह अपने जीवन में कुछ विशेष अवसरों पर दुहराता है। इलियड विभिन्न मिथकीय प्रणालियों में सामान्य ढाँचों, प्रतिमानों की खोज और इन सामान्य ढाँचों की सांस्कृतिक जड़ों की पड़ताल करते हैं। वे मिथक को जनता के सजीव अनुभवों का प्रक्षेपण मानते हैं। उन सजीव अनुभवों के

---

1. रमेश कुन्तल मेघ : तुलसी : आधुनिक वातायन से, पृ. 263-264.

विवेचन में वे गहरे जाते हैं। मिथकों की व्याख्या की यह प्रणाली काफ़ी प्रभावशाली एवं संभावनापूर्ण है।

"इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन्स" में मिथक को इस प्रकार परिभाषित किया गया है --- **"A myth is an expression of the sacred in words: it reports realities and events from the origin of the world that remain valid for the basis and the purpose of all there is. Consequently, a myth functions as a model for human activity, society, wisdom and knowledge."**[1]

कहने की आवश्यकता नहीं कि मिथक की इस परिभाषा और उसके स्वरूप पर इलियड का प्रभाव एकदम स्पष्ट है। यहाँ भी पावन को सामान्य, दैनन्दिन जीवन की सांसारिक वस्तुओं से भिन्न माना गया है। साथ ही बताया गया है कि मिथक भी भाषा बहस आरंभ नहीं करती है, तर्क प्रस्तुत नहीं करती है।

स्पष्ट ही, मिथक के लक्षण और स्वरूप के संबंध में विद्वानों के बीच मतैक्य का अभाव है। यह स्वाभाविक ही है। किसी भी वस्तु या सिद्धांत को देखने की दृष्टियाँ अलग-अलग हो सकती हैं, होती हैं। उसे समझने या उसका स्वरूप स्पष्ट करने में उन सबकी भूमिका से इनकार नहीं किया जा सकता। एक दृष्टिकोण से देखने पर उसके कुछ पहलू छूट जा सकते हैं, तो वे दूसरे की पकड़ में आ जाते हैं और इस प्रकार मिथक के सारे पहलू सामने आ सकते हैं और उसे समग्रता में समझने में सुविधा हो सकती है। सारे मतों, विचारों के मंथन से एक बात बहुत साफ है कि मिथक एक मायने में आदिपुरुष इतिहास है क्योंकि वह कथात्मक रूप में रचे

---

1. इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन, खंड-10, पृ. 261.

गए विचारों का चयन है, जिसका उद्देश्य है अतीत के किसी महत्वपूर्ण पहलू को सुरक्षित रखना और उसे महत्व प्रदान करना। डॉ. शंभुनाथ के अनुसार — "मिथक को मनुष्य के ऐतिहासिक अस्तित्व का सामाजिक कथ्य मानना चाहिए। ....इसके माध्यम से किसी जाति के सामाजिक मनोविज्ञान, अर्थव्यवस्था और सौन्दर्य बोध को समझने में भारी मदद मिली है।"[1]

चूँकि मिथक सामाजिक विश्वासों से जुड़े होते हैं, इसलिए उनकी रचना-प्रक्रिया का विवेचन इनके संदर्भ में ही किया जा सकता है। उनकी संरचना में सामाजिक अंतर्वस्तु निहित रहती है। संसार के किसी भी देश के आदिम मिथकों को लें, तो एक बात साफ दिखती है कि उनमें प्रकृति सर्वाधिक ताकतवर तत्व है। वस्तुतः मिथकों का आरंभ मनुष्य की बुद्धि द्वारा प्रकृति की विभिन्न घटनाओं और विभिन्न शक्तियों की व्याख्या के प्रयास में होता है। एक तरह से वह समस्त प्रकृति का मानवीकरण कर डालता है और प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या मूर्त प्राणियों के रूप में करता है। सूर्य और चन्द्रमा के शक्तिशाली मिथक इसी तरह के हैं।

मिथक किसी काल में स्वरूप ग्रहण करता है। उसकी संरचना के गठन में काल की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। अतः मिथक का विश्लेषण कहीं-न-कहीं उस काल के रेशों को भी उभारता है, जो उसकी संरचना में मौजूद रहते हैं। बहुत सारे मिथकों का निर्माण सादृश्य-विधान के द्वारा होता है। आदिम मनुष्य विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों को देखकर विभिन्न वस्तुओं की कल्पना इसी आधार पर करता था। संभव है कि बादल के सफेद टुकड़े को देखकर उसने ऐरावत हाथी की कल्पना कर ली हो और उसके इर्द-गिर्द कथाएँ गढ़ दी हों। इसी तरह मिथक रूपकों की भाषा

---

1. शंभुनाथ : मिथक और आधुनिक कविता, पृ. 3.

में भी अभिव्यक्त होते हैं। रूपक असंबद्ध चिन्तन के आरंभिक रूप हैं। कुणाल चक्रवर्ती के अनुसार ---

"Myths express themselves in metaphors and metaphors are a primary form of discursive thought."[1]

मिथक के विकास की प्रक्रिया द्वन्द्वात्मक होती है। यह द्वन्द्व सृजनात्मक होता है। अनेक भारतीय देवों का विकास इसी तरह हुआ है। यहाँ देवों की आपसी लड़ाई बहुत आम बात है। आपसी प्रतिद्वन्द्विता में जो टिक गये, वे बड़े देव बनकर पूजे जाते रहे और जो नहीं टिके, वे जनमानस से भी लुप्त हो गए। कई वैदिक देवताओं के मिथक इस बात के प्रमाण हैं, जो उस युग में तो काफी शक्तिशाली और प्रभावशाली थे, परंतु परवर्ती युग में अपनी शक्ति और अपना तेज़ खोते चले गए और अपेक्षाकृत गौण देवताओं ने उन्हें अपदस्थ करके उनका स्थान ग्रहण कर लिया। मिथक परिवर्तनशील होते हैं, उनके स्वरूप में काल के दबाव से बदलाव आते हैं, इस बात की चर्चा की जा चुकी है। निश्चय ही, मिथक की रचना या उसके स्वरूप-गठन के संबंध में किसी सिद्धांत विशेष को यांत्रिक ढंग से लागू नहीं किया जा सकता है।

1.5 मिथक का सामाजिक संदर्भ

मिथक और समाज के बीच गहरा संबंध है। मिथक की रचना देश और काल में होती है, समाज में सक्रिय लोगों के बीच होती

---

1. एस. भट्टाचार्य एवं रोमिला थापर (सं.) सिचुएटिंग इंडियन हिस्ट्री, पृ. 387.

है। पुनः मिथक भाषा में रचे जाते हैं और भाषा व्यक्तिगत नहीं होती है। यह सामाजिक वस्तु है। निश्चय ही, मिथक एक सामाजिक वस्तु है। हम यह भी जानते हैं कि मिथक की रचना कोई एक व्यक्ति नहीं करता है, वह पूरे समाज की रचना है। यह बात अवश्य है कि मिथक की संरचना सरल नहीं, जटिल होती है। इसलिए उसमें निहित सामाजिक वस्तुओं की पहचान उतनी सरलता से नहीं होती, उसके लिए गहरे विवेचन की आवश्यकता होती है।

हालाँकि मिथक अतीत के वर्णनात्मक स्रोत के रूप में इस्तेमाल नहीं किये जा सकते, किन्तु उनका विश्लेषण किसी समाज की सुनिश्चित मान्यताओं का उद्घाटन कर सकता है। वस्तुतः समाज का यथार्थ ही मिथक में रूपान्तरित होता है। डॉ. रोमिला थापर का मत है कि मिथक की संरचना का विश्लेषण कमोबेश उस समाज की संरचना को उद्घाटित कर सकता है, जिसमें वह रचा गया है। यह विश्लेषण दो में से एक परिप्रेक्ष्य पर केन्द्रित हो सकता है--घटनाओं के सिलसिले तथा क्रम पर अथवा विभिन्न स्तरों पर सिलसिलों की रूपरेखा तथा उनके संगठन पर। डॉ. थापर के शब्दों में --- **"The analysis of the structure of a myth can reveal (to a lesser or greater extent) the structure of the society from which it emanates. The analysis may centre on one of two perspectives : either the sequence and the order of events or the schemata and organisation of the sequences at different levels."[1]**

---

1. देवीप्रसाद-चट्टोपाध्याय [सं.] : हिस्ट्री एंड सोसायटी, पृ. 273.

कहने की आवश्यकता नहीं कि डॉ. थापर का उपर्युक्त मत मिथक और समाज के गहरे अंतर्सम्बंधों का सूचक है। साथ ही, यह उनके बारीक और गहरे विश्लेषण की आवश्यकता पर बल देता है।

मिथक कोई अगतिशील वस्तु नहीं होता। उसमें परिवर्तन होता रहता है। यह परिवर्तन समाज की विभिन्न परिस्थितियों के संदर्भ में घटित होता है और उस पर उनकी छाप स्पष्ट होती है। आदिम मिथकों में प्रकृति सर्वाधिक शक्तिशाली तत्व है। उनमें प्राकृतिक शक्तियों का मानवीकरण सबसे अधिक मिलता है और इस प्रकार विभिन्न देवताओं का विकास होता है। बाद में, राज्य के उदय के साथ, राज्य को चलाने वाले राजा के समानान्तर एक सर्वशक्तिमान ईश्वर की अवधारणा आकार ग्रहण करती है। इस संदर्भ में चर्चा की जा चुकी है। प्रस्तुत प्रसंग में समाज और मिथक के आपसी संबंधों के विवेचन के क्रम में उसका उल्लेख अपेक्षित था।

मिथक का इतिहास मनुष्य के जीवन-संघर्षों के इतिहास से अलग नहीं है। दोनों को जोड़कर देखा जाना चाहिए। प्रत्येक युग का मिथक ऐतिहासिक द्वन्द्ववाद की प्रक्रिया में मानवीय सृजन का ही अवशिष्ट चिह्न है। मिथक के विकास की पद्धति द्वन्द्वात्मक होती है। मनुष्य के सामाजिक जीवन के यथार्थ और उसके आदर्श का द्वन्द्व मिथक में द्वन्द्वात्मकता लाता है और इस प्रक्रिया में मिथक गतिशील होता है, विकासशील होता है। इस संबंध में डॉ. विजेन्द्र नारायण सिंह ने लिखा है---".....मनुष्य जिस संसार में जीता है और जिस संसार में वह जीना चाहता है, इन दोनों के बीच जो असंगति या अंतर है वह मिथक में एक ऐसे द्वन्द्वात्मक संबंध को जन्म देता है जिससे स्वर्ग और नरक की रचना होती है।"[1]

---

1. विजेन्द्र नारायण सिंह : काव्यालोचन की समस्याएँ, पृ. 29.

मिथक में मनुष्य के सामाजिक जीवन का प्रक्षेपण होता है, उसके विकास का संकेत होता है। मिथक और मनुष्य के सामाजिक जीवन के गहरे संबंधों की पुष्टि करते हुए अन्स्ट कैसीरर ने इस संदर्भ में फ्रांसीसी समाजशास्त्रीय स्कूल के प्रमुख विचारक दुर्खीम के विचारों का हवाला दिया है और उनसे अपनी सहमति प्रकट की है। दुर्खीम प्रकृति नहीं, समाज को मिथक का सच्चा प्रतिमान मानते हैं। उनका मत है कि मनुष्य के सामाजिक जीवन का प्रक्षेपण ही मिथक का मूलभूत प्रयोजन है। इन प्रक्षेपणों में प्रकृति सामाजिक संसार का बिंब बन जाती है और वह उसकी बुनियादी विशेषताओं, उसके संगठनों और संरचनाओं, उसके विभागों तथा उपविभागों को प्रतिबिंबित करती है। कैसीरर के शब्दों में ----

"Not nature but society is the true model of myth. All its fundamental motives are projections of man's social life. By these projections nature becomes the image of the social world; it reflects all its fundamental features, its organization and architecture, divisions and sub-divisions."[1]

मिथक का प्रयोजन है सामाजिक जीवन का प्रतिबिंबन, उसका प्रक्षेपण। समाज और मिथक के आपसी संबंध को व्यक्त करने के लिए इससे अच्छी भाषा और क्या हो सकती है?

मिथक के सरोकार मानवीय सरोकार होते हैं, सामाजिक सरोकार होते हैं। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है, जिसे अस्वीकार करना कठिन है। अगर इसका सरोकार सामाजिक न हो, तो इसके अध्ययन और विश्लेषण की कोई अपेक्षा न होगी, इसका हमारे लिए कोई मूल्य नहीं

---

1. अन्स्ट कैसीरर : एन एसे ऑन मैन, पृ. 79.

होगा। मिथक पर विचार करने वाले विद्वानों में इस बारे में शायद ही कोई मतभेद हो। मिथक के अध्ययन में उसके सामाजिक संदर्भों पर जोर दिया जाना चाहिए। मिथक का विश्लेषण उस समाज के जीवन तथा उसकी स्थितियों का उद्घाटन करता है, इसमें संदेह नहीं। इस तथ्य पर जोर देते हुए "एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन" में कहा गया है --- "Of course, myths are language and speech and literature. Of course, myths may reveal something of the society in which they were formulated. Of course, myths may manifest deeper human drives than those displayed in civilized life."[1]

अर्थात् "निस्संदेह, मिथक भाषा, वाणी और साहित्य हैं। निस्संदेह, मिथक उस समाज का उद्घाटन कर सकते हैं जिसमें उनकी रचना हुई है। निस्संदेह, मिथक सभ्य जीवन में प्रकट की गई प्रवृत्तियों से ज्यादा गहरी मानवीय प्रवृत्तियों को प्रकट कर सकते हैं।" इस प्रकार, मिथक में सामाजिक प्रवृत्तियों, मानवीय प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति की काफी गुंजाइश है, संभावना है।

इस प्रकार, मिथक मानव प्रकृति का ही सार तत्व है। निश्चय ही, वह व्यक्ति की प्रकृति का लेखा-जोखा नहीं, वरन् सामाजिक मनुष्य की प्रकृति का लेखा-जोखा है। मिथक समाज में रचे जाते हैं और वहीं उनके स्वरूप में परिवर्तन भी घटित होता है। उनके उद्भव और विकास

---

1. एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन, खंड-10, पृ. 262.

का सबसे गहरा संबंध समाज से होता है और इसके लिए वही उत्तरदायी होता है। उनके जन्म के कारण सामाजिक होते हैं। प्रसंगात् डॉ. शंभुनाथ ने लिखा है---"सामाजिक व्यवस्था में जहाँ कदम-कदम पर अत्याचार हो, वाणी-स्वतंत्रता न हो, वहाँ भी लोग कुछ कहना चाहते हैं। इसलिए वे मिथक की तलाश में रहते हैं। मिथक का सौंदर्यबोध सिर्फ़ संरचना का बोध नहीं, बल्कि जीवन-मूल्यों का वस्तुगत बोध है।"[1]

मिथक की रचना सिर्फ आदिम समाज में ही नहीं होती, हालाँकि यह अवश्य है कि हमारे सबसे मूल्यवान मिथक उसी समाज की उपज हैं। आवश्यकता पड़ने पर किसी भी काल और किसी भी समाज का मानस उसकी रचना कर सकता है, करता है। इतना ही नहीं, वह उपलब्ध पुराने मिथकों की नई व्याख्या अपने समय और समाज के संदर्भ में प्रस्तुत करता है और इस प्रक्रिया में उन मिथकों की गहरी परतों का उद्घाटन तो होता ही है, उनमें कुछ नया जुड़ता भी है, उनकी नई अर्थछटाएँ सामने आती हैं। हमारे यहाँ अवतार का मिथक एक ऐसा ही मिथक है, ऐसा ही विकासशील मिथक है, जिसका प्रभाव भारतीय जनमानस पर हज़ारों वर्षों से कायम है। अवतार के मिथक की समृद्धि और गहनता का यह ठोस प्रमाण है।

समाज की दशा से मिथक के गहरे संबंध को रेखांकित करते हुए लेवी-स्ट्रॉस ने लिखा है ---

"Myths are reservoirs of articulate thought on the level of the collective. But they are not simply 'articulate thought' in a vacuum. They represent the thought of people about themselves and their condition."[2]

---

1. शंभुनाथ : मिथक और आधुनिक कविता, पृ. 17.
2. एडमण्ड लीच (सं.) : स्ट्रक्चरल स्टडी ऑफ मिथ एंड टोटेमिज्म में उद्धृत, पृ. 92.

अर्थात् "मिथक सामूहिक स्तर पर स्पष्ट विचारों के खजाने हैं। किन्तु, वे विचार शून्य में स्थित नहीं हैं। वे लोगों तथा उनकी दशा का प्रतिनिधित्व करते हैं।"

कहा जा सकता है कि ऐसे ही मिथक किसी समाज के सेवे-जोवे हैं, उसकी संस्कृति के सेवे-जोवे हैं। ऐसे ही मिथक काल का अतिक्रमण करने की क्षमता से युक्त होते हैं और कोई भी साहित्य इन्हें पाकर गौरवान्वित होता है। आकस्मिक नहीं कि आई.ए. रिचर्ड्स मिथकरहित मनुष्य को आत्मरहित प्राणी की संज्ञा देते हैं। वे मिथक को मनुष्य की "संपूर्ण आत्मा"[1] मानते हैं।

वस्तुतः मानव जीवन और समाज से गहरे जुड़े मिथक किसी भी जाति की संपत्ति हैं, किसी भी साहित्य की पवित्र निधि हैं। वे न केवल साहित्य के लिए प्रेरणा के अक्षय स्रोत हैं, बल्कि डॉ. विजेन्द्र नारायण सिंह के शब्दों में साहित्य का "गर्भाशय" हैं। उनके अनुसार —— "मिथक एक संपूर्ण संरचना है जिसमें एक समाज के धार्मिक विश्वास, ऐतिहासिक परंपराएँ, वैश्विक मीमांसायें अर्थात् शाब्दिक अभिव्यंजना का पूरा क्षेत्र ही इसमें समाहित है और यहीं साहित्य का गर्भाशय है तथा महत् काव्य इस ओर बार-बार उन्मुख होते हैं।"[2]

1.6 अर्थ समाज का मूलाधार एवं धर्म, दर्शन और साहित्य अधिरचना

साहित्य समाज में रचा जाता है। साहित्यकार समाज का सक्रिय सदस्य होता है। हाथी दाँत की मीनार में रहने वाला

---

1. आई.ए. रिचर्ड्स : कॉलरिज ऑन इमैजिनेशन, पृ. 181.
2. विजेन्द्र नारायण सिंह : काव्यालोचन की समस्याएँ, पृ. 29.

व्यक्ति साहित्य नहीं लिख सकता है। अगर वह ऐसी रचना करता है, जिसे साहित्य कहना ही हो, तो उसे बेजान साहित्य कहा जा सकता है और बेजान साहित्य कोई साहित्य नहीं होता। साहित्यकार जिस समाज में रहता है, जिस व्यवस्था में रहता है, उसकी रचनाशीलता के रेशों का निर्माण उसी समाज, उसी व्यवस्था में होता है। उसकी रचना में उसके समाज की धड़कन सुनी जा सकती है, उसके समय की धड़कन सुनी जा सकती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि साहित्य का समाज से गहरा संबंध होता है। इसलिए उसकी समझ के लिए उसके सामाजिक संदर्भ की जानकारी आवश्यक है। साहित्य की चर्चा उसके आर्थिक, सामाजिक आधार से पृथक् करके नहीं की जा सकती है। प्रस्तुत प्रसंग में अर्थ व्यवस्था के साथ जो समाज का वास्तविक आधार है, उसकी अधिरचना के रूपों जैसे धर्म, ध्वनि एवं साहित्य के संबंधों के विवेचन का प्रयास किया जा रहा है।

आधार और अधिरचना के स्वरूप की चर्चा के सिलसिले में सर्वप्रथम हमारा ध्यान कार्ल मार्क्स के विख्यात कथन की ओर जाता है। उनके शब्दों में----"अपने जीवन के सामाजिक उत्पादन में मनुष्य ऐसे निश्चित संबंधों में बंधते हैं, जो अपरिहार्य एवं उनकी इच्छा से स्वतंत्र होते हैं। उत्पादन के ये संबंध उत्पादन की भौतिक शक्तियों के विकास की एक निश्चित मंजिल के अनुरूप होते हैं। इन उत्पादन संबंधों का पूर्ण योग ही समाज का आर्थिक ढाँचा है---वह असली बुनियाद है, जिसपर कानून और राजनीति का ऊपरी ढाँचा खड़ा हो जाता है और जिसके अनुकूल ही सामाजिक चेतना के निश्चित रूप होते हैं। भौतिक जीवन की उत्पादन प्रणाली जीवन की आम सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक प्रक्रिया को निर्धारित करती है। मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती, बल्कि उलटे उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना को निर्धारित करता है।"[1]

---

1. मार्क्स - एंगेल्स : साहित्य तथा कला, पृ.47.

स्पष्ट है कि समाज की आर्थिक संरचना ही उसका आधार है और यह आधार है उत्पादन संबंधों का कुल योग। उत्पादन के संबंधों का अर्थ है संपत्ति के संबंध। मनुष्य की चेतना का निर्धारण ये संबंध ही करते हैं। यह बात जोर देकर कही गई है। ध्यान देने की बात है कि मार्क्स ने समाज के वास्तविक आधार पर कानून और राजनीति के ऊपरी ढाँचे के खड़े होने की बात कही है। यह ऊपरी ढाँचा ही अधिरचना कहलाता है। यहाँ अधिरचना के सिलसिले में मार्क्स ने पहले कानून और राजनीति की चर्चा की है और आर्थिक बुनियाद से उनका सीधा संबंध स्थापित किया है। अधिरचना के ये ही दो घटक नहीं हैं। धर्म, दर्शन, साहित्य आदि भी अधिरचना के ही घटक हैं, लेकिन उनका आर्थिक बुनियाद से उतना सीधा संबंध नहीं है। यह तथ्य एंगेल्स ने श्मिद्त को लिखे अपने पत्र में स्पष्ट किया था--"जहाँ तक विचारधारा के क्षेत्रों का, आकाश में और ऊपरे उठते क्षेत्रों का, यानी, धर्म, दर्शनशास्त्र आदि.....।"[1]

एंगेल्स के उपर्युक्त मत के आलोक में बुनियाद से अधिरचना के विभिन्न घटकों का संबंध और स्पष्ट हो जाता है। उनका विचार है कि कानून और राजनीति की तुलना में धर्म, दर्शन आदि हवा में और भी ऊँचे उड़ते हैं। इससे एक बात जाहिर है कि स्वयं एंगेल्स भी मानते हैं कि अधिरचना के घटकों में से कोई भी बुनियाद से एकदम चिपका नहीं है। कोई उससे कम दूर है, तो कोई ज्यादा दूर। निश्चय ही, अधिरचना को बुनियाद का प्रतिबिंब नहीं कहा जा सकता है।

बुनियाद और अधिरचना में बदलाव लगभग एक ही साथ होता है, ऐसा मार्क्स का विचार था। उनके शब्दों में "आर्थिक बुनियाद के बदलने के साथ समस्त बृहदाकार ढाँचा भी कमोबेश तेजी से

---

1. मार्क्स - एंगेल्स : साहित्य तथा कला, पृ.69.

बदल जाता है।"[1] यहाँ "कमोबेश" शब्द महत्वपूर्ण है। यह इस तथ्य का संकेत है कि अधिरचना के सभी घटक एक जैसी तेज़ी से नहीं बदलते हैं। कोई शीघ्र बदल जाता है और कोई विलम्ब से। समूची अधिरचना एक साथ नहीं बदलती है। इतना ही नहीं, अधिरचना के विभिन्न घटक एक-दूसरे को प्रभावित तो करते ही हैं, वे बुनियाद को भी प्रभावित करते हैं, कर सकते हैं। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि सब कुछ आर्थिक विकास से ही निर्धारित होता है। इस संबंध में एंगेल्स के विचार एकदम स्पष्ट हैं। उनके शब्दों में -- "राजनीति, न्याय, दर्शन, धर्म, साहित्य, कला आदि का विकास आर्थिक विकास पर आश्रित होता है। परंतु ये सब एक-दूसरे को तथा आर्थिक आधार को भी प्रभावित करते हैं। बात यह नहीं है कि आर्थिक परिस्थिति ही कारण है, एकमात्र सक्रिय तत्व है, जबकि बाकी सभी चीज़ें निष्क्रिय परिणाम मात्र हैं। बल्कि बात यह है कि आर्थिक अनिवार्यता के आधार पर, जो अंततोगत्वा सदा प्रभावी होती है, अन्योन्य क्रिया चलती है।"[2]

इस प्रकार, बुनियाद और अधिरचना के बीच एक-एक का संबंध नहीं होता अर्थात् यह संबंध यांत्रिक नहीं होता। दोनों का संबंध द्वन्द्वात्मक होता है। अधिरचना के घटक सापेक्ष रूप से स्वतंत्र होते हैं और बुनियाद से उनका फासला भी एक-सा नहीं होता। कहने की आवश्यकता नहीं कि कानून और राजनीति की तुलना में साहित्य आदि को अधिक स्वायत्तता प्राप्त है।

---

1. मार्क्स - एंगेल्स : साहित्य तथा कला, पृ. 47.

2. वही : पृ. 68.

इस सम्बन्ध में जी.बी. मोहन ने लिखा है --- "**Specific forms of social consciousness are more or less remote from the material base and enjoy relative autonomy. Literature as a form of consciousness, for example, enjoys greater relative autonomy than political ideas and institutions, since the latter are more immediately determined by relationsin the economic realm. This relative autonomy has certain far-reaching implications.**"[1]

निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आधार और अधिरचना के परस्पर संबंध के संदर्भ में यह वस्तुपरक दृष्टिकोण है।

चेतना सामाजिक होती है। किन्तु, उसे आर्थिक संबंधों का प्रतिबिंब मात्र नहीं माना जा सकता है। धर्म अथवा साहित्य में व्यक्त होने वाली चेतना आर्थिक संबंधों से प्रभावित जरूर होती है। किन्तु, उनकी सापेक्ष स्वाधीनता से इनकार नहीं किया जा सकता है। डॉ. राम विलास शर्मा लिखते हैं --- "सब कुछ परिस्थितियों द्वारा अनिवार्यतः निर्धारित नहीं हो जाता। यदि मनुष्य परिस्थितियों का नियामक नहीं है, तो परिस्थितियाँ भी मनुष्य की नियामक नहीं हैं। दोनों का संबंध द्वन्द्वात्मक है। यही कारण है कि साहित्य सापेक्ष रूप में स्वाधीन होता है।"[2]

धर्म अधिरचना का एक प्रमुख घटक है। वस्तुतः प्राचीन तथा मध्यकालीन साहित्य में धर्म साहित्य से बहुत दूर नहीं था। दोनों सहचर हुआ करते थे। ऐसे अनेक दृष्टांत हैं जहाँ धार्मिक साहित्य ही श्रेष्ठ

---

1. सोशल साइंटिस्ट, दिसम्बर, 1979 - जनवरी-1980, पृ. 12.
2. रामविलास शर्मा : परंपरा का मूल्यांकन, पृ. 12.

साहित्य है अथवा कहा जा सकता है कि जो श्रेष्ठ साहित्य है, वह धार्मिक साहित्य भी है। अतः धर्म के स्वरूप और समाज से उसके संबंध की संक्षिप्त चर्चा यहाँ प्रासंगिक होगी।

वस्तुतः धर्म मनुष्य की आत्मचेतना है, उसके आत्मसम्मान का भाव है। उसके जन्म के कारण मनुष्य के सामाजिक जीवन में निहित होते हैं। मनुष्य के वास्तविक जीवन की आवश्यकता से धर्म उत्पन्न होता है। धर्म के इस पहलू पर बल देते हुए मार्क्स ने लिखा है ----

"Religious distress is at the same time the expression of real distress and also the protest against real distress. Religion is the sigh of the oppressed creature, the heart of a heartless world, Just as it is the spirit of the spiritless conditions. It is the opium of the people."[1]

अर्थात् "धर्म की वेदना वास्तविक वेदना की अभिव्यक्ति है, साथ ही वह इस वेदना के विरुद्ध प्रतिरोध की अभिव्यक्ति भी है। धर्म पीड़ित प्राणी की कराह है, हृदयहीन संसार का हृदय है, ठीक वैसे ही जैसे वह आत्माहीन परिस्थितियों की आत्मा है। वह जनता के लिए अफीम है।"

मार्क्स द्वारा दी गई धर्म की यह परिभाषा धर्म के सामाजिक आधार को एकदम स्पष्ट कर देती है। धर्म में जो वेदना अभिव्यक्त होती है, वह कोई हवाई चीज़ नहीं, बल्कि मनुष्य के जीवन की वास्तविक वेदना होती है। यहाँ मार्क्स धर्म के दो परस्पर विरोधी पक्षों की चर्चा करते हैं। वह एक

---

1. मार्क्स - एंगेल्स : ऑन रिलीज़न, पृ. 39.

ही साथ शोक और पीड़ा की अभिव्यक्ति भी है और उसके विरुद्ध विद्रोह भी। यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण तथ्य है। किसी भी धर्म के विकास के मूल कारण सामाजिक होते हैं और वह अपने समय के समाज से गहरे विक्षोभ तथा उसके प्रति विरोधभाव से विकसित होता है। भारत में चाहे वह बौद्ध धर्म हो, जैन धर्म हो या वैष्णव धर्म, सब इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। वैष्णव धर्म के विकास के प्रसंग में इसका विवेचन किया जाएगा। प्रायः मार्क्स के उपर्युक्त कथन का अंतिम वाक्य जिसमें धर्म को जनता के लिए अफीम कहा गया है, संदर्भ से काटकर उद्धृत किया जाता है, जिससे गलतफहमी होना स्वाभाविक है। प्रसंगात् राम विलास शर्मा ने लिखा है ---"मार्क्स ने अर्धसामन्ती जर्मनी में ईसाई धर्म की वास्तविक स्थिति देखकर धर्म को जनता की अफीम कहा था। किंतु धर्म यदि स्वर्ग सुख की राह देखने को न कहे, इसी संसार में सुखी जीवन के लिए संघर्ष करने को कहे, तो यह उसकी क्रांतिकारी भूमिका होगी, उसे अफीम कहना किसी तरह भी उचित न होगा।"[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि कई मामलों में भारत में धर्म ने क्रांतिकारी भूमिका निभाई है। मध्ययुग का भक्ति आन्दोलन एक इसका श्रेष्ठ प्रमाण है।

स्पष्ट है कि आधार और अधिरचना दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। किन्तु, निर्णायक शक्ति अंततः आधार में ही निहित है। कोई भी बड़ी सामाजिक क्रांति आधार के स्तर पर ही घटित होती है, जिसमें धर्म, साहित्य आदि की भूमिका होती है। साथ ही, बदलाव के लिए अपेक्षित जमीन तैयार करने में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है, हो सकती है। साहित्य के क्षेत्र में प्रतिभाशाली मनुष्य की ताकत को, उसकी भूमिका को नज़र अंदाज नहीं किया जा सकता है।

---

1. रामविलास शर्मा : मार्क्स और पिछड़े हुए समाज, पृ. 55.

साहित्य में समाज मात्र अपने विवरणों में उपस्थित नहीं होता है। सिर्फ़ सूचनाओं से साहित्यकार का काम नहीं चलता है। प्रत्येक साहित्यकार सामाजिक यथार्थ का अपने ढंग से भावन करता है। सामाजिक यथार्थ के ग्रहण और प्रकाशन के बीच उसका व्यक्तित्व क्रियाशील होता है। तब जाकर रचना आकार लेती है। यह एक जटिल प्रक्रिया है, जिसमें रचनाकार की विचारधारा, उसके वर्ग चरित्र आदि की भूमिका होती है। वास्तव में, साहित्य का वस्तुपरक विवेचन समाज के संदर्भ में ही किया जा सकता है। साहित्य को बहुत दूर तक अनुकूलित करने वाली सामाजिक परिस्थितियों को अनदेखा करके किया जाने वाला साहित्य का कोई भी विवेचन अपूर्ण है। टेरी इगल्टन के शब्दों में -----

"......literature is in fact deeply conditioned by its social context, and any critical account of it which omits this fact is therefore automatically deficient."[1]

---

1. क्रिटिकल इन्क्वाइरी, वसंत 1988, पृ० 469.

द्वितीय अध्याय

द्वितीय अध्याय

भारतीय समाज एवं साहित्य में अवतारवाद

2.1 वेदोत्तर भारत का आर्थिक, सामाजिक परिवेश

2.1.1 सामंतवाद का विकास

2.2 वैष्णव धर्म के उद्भव एवं विकास का सामाजिक संदर्भ

2.2.1 वैदिक साहित्य में विष्णु

2.2.2 महाकाव्यों में विष्णु अर्थात् वैष्णव भक्ति का विकास

2.2.3 वैष्णव धर्म जनता का धर्म

2.2.4 पौराणिक साहित्य और वैष्णव भक्ति

2.3 अवतारवाद वैष्णव धर्म की महत्वपूर्ण विशेषता

2.4 "भगवद्गीता" : अवतारवाद का घोषणा-पत्र

2.4.1 अवतार सामाजिक चिंता की उपज

25 "महाभारत" में अवतारवाद

2.6 "रामायण" में अवतारवाद

2.7 पौराणिक साहित्य में अवतारवाद

2.7.1 पुराणों में गतिशील अवतारवाद

2.7.2 "भागवत पुराण" के अवतारवाद का वैशिष्ट्य

----

2. भारतीय समाज एवं साहित्य में अवतारवाद

2.1 वेदोत्तर भारत का आर्थिक, सामाजिक परिवेश

धर्म और साहित्य का समाज से गहरा संबंध होता है। जिस काल और जिस समाज में उनकी रचना होती है, उस काल और समाज की धड़कन कमोबेश उनमें सुनाई पड़ती है। स्पष्ट ही, धर्म और साहित्य की सही समझ के लिए सामाजिक परिवेश का ज्ञान अपेक्षित है। धर्म या साहित्य के क्षेत्र में अवतार के सिद्धांत के प्रवेश के पहले लोक में, लोकमानस में उसका प्रवेश होता है। लोक और लोकमानस की ऐतिहासिक जानकारी के अभाव में

उसे सही परिप्रेक्ष्य में समझना कठिन है। वैष्णव धर्म के साथ ही उसका महत्वपूर्ण सिद्धांत--अवतार का सिद्धांत--वैदिक काल के पश्चात् आकार ग्रहण करता है। अतः उसके विवेचन के पूर्व वेदोत्तर भारत के आर्थिक, सामाजिक परिवेश का ऐतिहासिक संदर्भ में विवेचन अपेक्षित है।

प्राचीन भारतीय समाज अगतिशील नहीं था। वह विकास और परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरने वाला समाज था। वैदिक काल तक वर्ग-पूर्व आदि साम्यवादी सामाजिक संरचना वर्ग समाज के रूप में विकसित हो चुकी थी। भारत में 1500 ई.पू. से 500 ई.पू. तक का काल "वैदिक काल" के नाम से जाना जाता है। प्राचीनतम भारतीय ग्रंथ "ऋग्वेद" की रचना 1000 ई.पू. के आस-पास मानी जाती है। 1000 ई.पू. से 600 ई.पू. तक का काल उत्तर वैदिक काल है, जिसमें अन्य वेदों के साथ ही उनसे जुड़े ग्रन्थों-ब्राह्मण, उपनिषद्--आदि की रचना हुई। इस संबंध में इतिहासकारों में शायद ही कोई मतभेद हो। किसी समाज के गठन और विकास के विभिन्न चरणों की जानकारी से ही उस समाज की प्रकृति को समझा जा सकता है। समाज के विकास के महत्वपूर्ण चरणों के आधार पर क्रमिक ऐतिहासिक कालों का निर्धारण किया जाता है, हालांकि विकास के महत्वपूर्ण चरणों की पहचान और उनका निर्धारण कोई आसान काम नहीं है। सामाजिक संबंधों तथा राजनीतिक संगठन की दृष्टि से एक ओर वैदिक काल मौर्य काल से और मौर्यकाल अपने परवर्ती गुप्त काल से काफी अलग दिखता है, तो दूसरी ओर प्राचीन भारतीय इतिहास के किसी विशेष काल में विकास के विभिन्न चरणों में विभिन्न समाजों और संस्कृतियों का जटिल संश्लेषण देखने को मिलता है। प्राचीन समाजों के ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक विकास की प्रवृत्ति एक समान नहीं होती। प्राचीन भारतीय समाज के विकास और उसकी विभिन्न परिस्थितियों के विवेचन के सिलसिले में यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्राचीन भारतीय

इतिहास के रूसी अध्येता बोंगर्द-लेविन ने अपने एक लेख में गुप्तकाल में गंगाघाटी के कुछ क्षेत्रों का हवाला देते हुए बताया है कि उनमें वर्गों का गठन उस काल तक नहीं हो पाया था।[1] हालाँकि वैदिक काल में ही समाज का वर्गों में विभाजन एक सामान्य स्वीकृत तथ्य है।

वैदिक काल के पश्चात् लोगों के भौतिक जीवन में बड़ा रूपांतर आया। लोहे के फाल तथा अन्य औजारों के प्रचलन से कृषि के क्षेत्र में काफी प्रगति हुई। बड़े पैमाने पर धान आदि की खेती आरंभ हो गई तथा उपज में पर्याप्त वृद्धि हुई। खेती के विकास से समाज की स्थिति में सुधार हुआ। इसके साथ ही व्यापार को बढ़ावा मिला। इसमें धातु के सिक्कों के प्रयोग ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसके पूर्ववर्ती काल में सिक्कों के चलन का कोई प्रमाण नहीं मिलता है। खेती और व्यापार की प्रगति का सीधा प्रभाव सामाजिक स्थितियों पर पड़ा, हालाँकि सबसे अधिक उन्नति हुई वैश्यों की, व्यापार करने वालों की। डॉ. रोमिला थापर के शब्दों में ---

"ईसा पूर्व की छठी से चौथी शताब्दी तक की अवधि में उल्लेखनीय आर्थिक प्रगति हुई, जिसका कारण विशेष रूप से व्यापार का विस्तार था। राजनीतिक सत्ता यद्यपि आज भी अधिकांशतया क्षत्रियों और ब्राह्मणों के हाथों में रही, आर्थिक दृष्टि से वणिक्वर्ग उन्नतिशील था। बौद्धमत और जैनमत उसके लिए ब्राह्मणवाद के विकल्प थे।"[2]

उपर्युक्त काल में बौद्ध और जैन धर्म के विकास के ऐतिहासिक और सामाजिक कारण थे, जिनका संकेत डॉ. थापर ने किया है। इन धर्मों को सर्वाधिक संरक्षण तथा प्रोत्साहन वणिक् वर्ग से मिला, इसमें संदेह नहीं।

---

1. इंडियन हिस्टोरिकल रिव्यू, जिल्द-5, संख्या: 1-2, जुलाई, 1978 -- जनवरी, 1979, पृ. 17.

2. रोमिला थापर : भारत का इतिहास, पृ. 49.

वर्ण व्यवस्था की चर्चा के बिना भारतीय समाज का कोई भी विवेचन अधूरा माना जाएगा। वैदिक काल में ही वर्ण व्यवस्था पैदा हो गई थी। समाज चार वर्णों में विभाजित हो चुका था —— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। वैदिक ग्रंथों में आदि पुरुष के मुँह से ब्राह्मण की, बाँहों से क्षत्रिय की, जाँघों से वैश्य की तथा पाँवों से शूद्र की उत्पत्ति की बात कही गई है। वर्णों के उदय की यह व्याख्या गले के नीचे नहीं उतरती। वास्तव में, वर्ण व्यवस्था श्रम-विभाजन का परिणाम है। श्रम का विभाजन उत्पादन की शक्तियों के विकास तथा युग की आवश्यकता के फलस्वरूप होता है। विभिन्न व्यक्ति अपनी योग्यता और क्षमता के अनुसार अलग-अलग कार्यों में लगते हैं और यही कार्यात्मक विभाजन बन जाता है। वर्ण किसी देवता का आविष्कार नहीं, बल्कि सामाजिक विकास की एक विशेष अवस्था की देन है। सभी वर्णों के लिए विशिष्ट कर्तव्य और दायित्व का निर्धारण सामाजिक ढाँचे को स्थिरता प्रदान करने के लिए किया गया था। भारतीय समाज का वर्णों में विभाजन वस्तुतः वर्गों में विभाजन से अभिन्न है। वर्ण और वर्ग दोनों का आधार है उत्पादन के साधनों का असमान बँटवारा। डॉ. रामशरण शर्मा भी वर्ण और वर्ग को अभिन्न मानते हैं। प्राचीन भारतीय इतिहास के संदर्भ में इन दोनों के संबंध पर विचार करते हुए वे लिखते हैं ——

"उत्पादन के साधनों का असमान बँटवारा ही समाज में वर्गों को जन्म देता है। वर्ण व्यवस्था में वह बँटवारा हुआ, हालाँकि असमानता उत्पादन के साधनों के बँटवारे में उतनी नहीं आई जितनी उत्पादन के फल के बँटवारे में आई। यह असमानता बढ़ती गई तो गुप्तकाल तक आते-आते साधनों के बँटवारे में भी बढ़ गई। इसलिए मेरी दृष्टि में प्राचीन काल में जो वर्ण है, वही वर्ग भी है।"[1]

ईसा पूर्व की चौथी शताब्दी में मौर्य साम्राज्य की स्थापना हुई, जो डेढ़-दो सौ वर्ष तक चला। मौर्य साम्राज्य का ध्वंसावशेष शुंगवंश के

---

1. कथन, मई-जून, 1982.

शासन की नींव बना। मौर्य तथा शुंग के शासन काल का भारत के आर्थिक, सामाजिक इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। वस्तुतः इस युग की कालक्रमिक परिधि मौर्य वंश के वास्तविक इतिहास की सीमाओं से कहीं व्यापक है। प्राचीन भारतीय इतिहास का यह चरण देश के ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक विकास के सबसे महत्वपूर्ण चरणों में एक है। इस काल में भारत के इतिहास में पहली बार एक संयुक्त राज्य का निर्माण हुआ, उल्लेखनीय आर्थिक तथा सांस्कृतिक प्रगति हुई। लेखन कला का प्रसार भी इसी काल में हुआ। मौर्य काल बौद्ध धर्म के सुदृढ़ीकरण तथा प्रसार से एवं वैष्णव धर्म के उदय से भी जुड़ा हुआ है। इस दृष्टि से यह एक बहुत महत्वपूर्ण काल है।

इस काल में प्राचीन भारतीय समाज के सामाजिक एवं आर्थिक ढाँचे के आधारभूत मुख्य सिद्धान्तों ने रूप ग्रहण किया। खेती उत्पादन का मुख्य क्षेत्र बन गई थी। साथ ही पशुपालन का महत्व भी कम नहीं था। पशुपालन के महत्व का कारण यह था कि खेती के अलावा पशुओं का व्यापार के कार्यों में भी इस्तेमाल होता था। व्यापार की प्रगति का एक सीधा परिणाम हुआ नगरों का विकास। नगर दस्तकारियों और व्यापार के केन्द्र बनते जा रहे थे। दस्तकारों तथा व्यापारियों के अपने-अपने संगठन इस काल में बन गये थे। दस्तकारी के साथ-साथ व्यापार में भी विशिष्टीकरण था। हर विशेष प्रदेश के व्यापारी एक विशेष प्रकार के सामान का व्यापार करते थे। सड़कों के निर्माण तथा विभिन्न प्रांतों की राजधानियों के बीच व्यापार मार्गों की स्थापना से व्यापार के क्षेत्र में काफ़ी सुविधा हुई और उसकी पर्याप्त प्रगति हुई। पहले जहाँ जंगल था, वहाँ ज़मीन की सफ़ाई के बाद नई किसान बस्तियाँ आबाद हुईं और एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की सुविधा हो गई। इससे घरेलू व्यापार की उन्नति में काफ़ी सहायता मिली। मुद्रा के व्यापक प्रयोग से व्यापार का कार्य आसान हो गया। भारी संख्या में मिले आहत सिक्के मौर्य काल के ही माने जाते हैं।

प्राचीन भारतीय समाज में दास-प्रथा थी, यह बात अब अधिकांश इतिहासकार स्वीकार करते हैं। निश्चय ही, दास-प्रथा का उदय पूर्ववर्ती काल में हुआ था, लेकिन मौर्य काल में उसका तेज़ी से विकास हुआ। इस काल के अधिकांश स्रोत गंगा घाटी और उसके आस-पास के इलाकों में दासों और उनके उपयोग के बारे में विवरण प्रदान करते हैं। राजदरबार के साथ-साथ संभ्रांत नागरिकों के घरों तथा ग्राम-समुदायों में भी दास होते थे। ध्यातव्य है कि भारत में दास-प्रथा रोम अथवा यूनान की "श्रम दासता" से भिन्न थी। भारतीय दास-प्रथा को "घरेलू दासता" की संज्ञा दी गई है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि कृषि उत्पादन का मुख्य रूप यह नहीं था कि दासों के स्वामियों के खेतों में दास समूहों द्वारा वह किया जाता था। खेतों में उनसे काम लिया जाता था, लेकिन यही मुख्य नहीं था। नगरों में दस्तकारी के कार्य में दासों को बड़ी संख्या में लगाया जाता था। भारतीय दास-प्रथा की विशिष्टता की चर्चा करते हुए श्रीपाद अमृत डांगे ने लिखा है ---

"भारतीय दासता का विशेष लक्षण यह है कि पारिवारिक समाज में घरेलू दासता को घनिष्ठ रूप से मिश्रित कर दिया गया था और यह व्यवस्था बिना अपने को अन्य रूप में परिवर्तित किये हुए दीर्घकाल तक स्थायी रही थी।"[1]

दास जिस प्रकार प्राप्त किये जाते थे, उसके अनुसार उनकी भिन्न-भिन्न कोटियाँ होती थीं। मनु ने सात प्रकार के दासों का उल्लेख किया है तथा नारद ने दासों के पंद्रह प्रकार गिनाए हैं। किंतु, दासों की मुख्य तीन कोटियाँ थीं --- जन्मजात दास, क्रीत दास तथा ध्वजाहृत अर्थात् ऐसे दास जो युद्ध में बंदी बनाये गये हैं। दास चाहे किसी भी कोटि के हों, अपनी नियति के बारे में उनकी कोई आवाज नहीं होती थी। प्राचीन ग्रंथों में इस बात के

---

1. श्रीपाद अमृत डांगे : भारत आदिम साम्यवाद से दास-व्यवस्था तक का इतिहास, भूमिका, पृ.4.

प्रमाण मिलते हैं कि दासों को दान में दिया जा सकता था, गिरवी रखा जा सकता था, बेचा जा सकता था और जुए में दाँव पर लगाया जा सकता था। मौर्यकालीन समाज में दासों का व्यापक उपयोग था। दासत्व शोषण का एक महत्वपूर्ण रूप था। बोंगर्द-लेविन के अनुसार---
"समूचे तौर पर प्राचीन भारतीय संदर्भ में अपने अनेक विशिष्ट लक्षणों के बावजूद दास प्रथा मगध-मौर्ययुगीन समाज की समग्र संरचना में महत्वपूर्ण भूमिका निबाहती थी।"[1]

एक ओर हम व्यापार की प्रगति पाते हैं, तो दूसरी ओर देखते हैं कि व्यापार के प्रति ब्राह्मणों की धारणा अच्छी नहीं थी। आरंभिक धर्मशास्त्रों में व्यापार तथा कृषि-कर्म वैश्यों के लिए निर्धारित किये गये थे। लेकिन इस काल में थोड़ी-सी छूट यह कहकर दी गई कि कष्ट के समय ब्राह्मण भी सीमित प्रकृति का व्यापार कर सकते हैं। फिर भी मनुष्य, द्रव्य, इत्र, कपड़े, चमड़े, अनाज आदि का व्यापार करने की अनुमति उन्हें नहीं थी। स्पष्ट है कि ब्राह्मणों की दृष्टि में वे लोग हेय थे जो इन चीज़ों का व्यापार करते थे। मगध, अंग आदि प्रदेशों के निवासी इसी कारण ब्राह्मणों द्वारा तिरस्कृत समझे जाते थे। उन्होंने इन क्षेत्रों के लोगों की मिश्रित उत्पत्ति बतलायी और उन्हें शराब पीने, कपड़े, पशु, हथियार आदि का व्यापार करने तथा समुद्र-यात्रा करने का दोषी ठहराया। आखिर क्या कारण है कि इन्हीं क्षेत्रों में बौद्ध धर्म जैसा गैर ब्राह्मणवादी और काफ़ी हद तक उदार धर्म फलता-फूलता है? कृषि और व्यापार की सम्यक् उन्नति के काल में क्षत्रिय तथा उन्नतिशील वैश्य वर्ग ने उसके प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

नई परिस्थितियों ने सामाजिक पदसोपान के समग्र ढाँचे को किसी-न-किसी रूप में प्रभावित किया। संकट के समय सीमित प्रकृति का

---

1. जी.म. बोंगार्द-लेविन तथा अन्य : भारत का इतिहास, पृ. 123.

ही क्यों न रही ब्राह्मणों को व्यापार की अनुमति मिलना इसका स्पष्ट प्रमाण है। ब्राह्मणों के पारंपरिक कार्यों में काफी बदलाव इस काल में देखने को मिलता है। ब्राह्मण भूस्वामी, ब्राह्मण व्यापारी, ब्राह्मण शिल्पकार यहाँ तक कि ब्राह्मण नौकर तक के उल्लेख तत्कालीन ग्रंथों में मिलने की बात कही जाती है।[1] अलबत्ता क्षत्रियों की राजनीतिक शक्ति में वृद्धि हुई। लोहे के आविष्कार के बाद उससे बने हथियारों के व्यापक प्रयोग ने सैनिक क्षेत्र में क्रांति ला दी। स्वभावतः इससे योद्धाओं की शक्ति बढ़ी, उनका महत्व बढ़ा। अतः क्षत्रियों ने ब्राह्मणों की बराबरी का दावा किया। यही कारण है कि क्षत्रियों और ब्राह्मणों के बीच संघर्ष उस समय आम बात थी। आरंभिक बौद्ध ग्रंथों में क्षत्रिय प्रथम स्थान का अधिकारी माना गया है, ब्राह्मण नहीं। जहाँ पहले विचारधारा के क्षेत्र में ब्राह्मणों को असीम सत्ता प्राप्त थी, वहाँ अब क्षत्रिय भी इस क्षेत्र में स्वतंत्र भूमिका का दावा करने लगे। वैश्यों की स्थिति में कृषि, व्यापार आदि के चलते सुधार हुआ। अधिक संपन्न वैश्य उच्च वर्णों के नज़दीक पहुँच रहे थे और दरिद्र वैश्य शूद्र के नज़दीक। वैश्यों के मुकाबले शूद्रों की स्थिति में कम सुधार हुआ। फिर भी व्यापार और शिल्प के जरिये उनमें से कुछ धनवान बन जाते थे और इससे उनकी सामाजिक हैसियत स्वभावतः सुधर जाती थी। नई आर्थिक परिस्थितियों के विकास से यह संभव हो सका था। चूँकि शूद्र वर्ण के कुछ लोग ही आर्थिक दृष्टि से संपन्न हो पाये थे, उनका व्यापक समुदाय अब भी समाज का सबसे निचला हिस्सा था, सबसे शोषित हिस्सा था। इसलिए अपने जीवन की स्थितियों के प्रति उनमें गहरा असंतोष और उनमें बदलाव की बलवती कामना मिलती है।

मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद देश में एक तरह के राजनीतिक विघटन का दौर शुरू हो गया। मौर्योत्तर काल की सबसे महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटना यह है कि उत्तर-पश्चिम से देश पर विदेशियों ने आक्रमण शुरू

---

1. को.अ. अंतोनोवा तथा अन्य : भारत का इतिहास, पृ. 126.

कर दिया। सबसे पहला आक्रमण यवनों अर्थात् यूनानियों का था। उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों पर भारतीय-यूनानी राजाओं ने कई छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना की। बाद में ईरान से आये शक कबीलों ने उन्हें पराजित कर शक राज्य की स्थापना की। शक शासन के पराभव के बाद उक्त प्रदेशों पर कुषाण तथा दक्षिण में सातवाहन साम्राज्य की नींव पड़ी। लेकिन इन दोनों राजवंशों के शासक मजबूत केन्द्रीकृत राजनीतिक सत्ता की स्थापना नहीं कर सके। देश के विशाल भूभाग पर उनका प्रत्यक्ष प्रशासनिक नियंत्रण नहीं था। स्पष्ट ही, यह दौर देश में राजनीतिक अस्थिरता का दौर था। यह दौर शक्तिशाली गुप्त साम्राज्य की स्थापना तक कायम रहा।

कई शताब्दियों के राजनीतिक विघटन के बाद चौथी शताब्दी के आरंभ में गुप्त साम्राज्य की नींव पड़ी और मगध एक बार फिर राजनीतिक इकाई का केंद्र बन गया। प्रथम गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त के मगध के सिंहासन पर आरूढ़ होने के साथ आरंभ हुआ गुप्त साम्राज्य का काल भारत के आर्थिक तथा सांस्कृतिक इतिहास में एक उल्लेखनीय काल है। इसी काल में भारत में भूमि-संपत्ति पर सामंती आधिपत्य के प्रथम तत्व अपने आरंभिक रूप में प्रकट हुए अर्थात भारत में सामंतवाद का उदय मोटे तौर पर इसी काल से माना जाता है। साथ ही यह काल भारतीय इतिहास के प्राचीन काल तथा मध्यकाल के आरंभ के बीच की विभाजन-रेखा है। भारतीय समाज और संस्कृति के विकास में गुप्तकाल का सर्वाधिक योगदान माना जाता है। श्रेष्ठ साहित्य की रचना इस काल में हुई। पुराणों का रचनाकाल मोटे तौर पर यही माना जाता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में ——

"जो पुराण और स्मृतियाँ निस्संदिग्ध रूप से आज प्रमाण मानी जाती हैं, वे अंतिम तौर पर गुप्तकाल में ही संपादित हुई थीं।"[1]

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी रचनावली, खंड 10, पृ. 195-196.

गुप्तकाल व्यापारिक समृद्धि का काल है। वित्तीय अर्थतंत्र के विस्तार के फलस्वरूप इस काल में व्यापार की अभूतपूर्व प्रगति हुई। परिवहन-व्यवस्था के बेहतर होने से व्यापार के मार्ग सुधर गये थे। देश के विभिन्न भागों में घनिष्ठ संपर्क स्थापित हो गया था। विभिन्न क्षेत्रों के आर्थिक विशिष्टीकरण ने माल के स्थायी विनिमय को अनिवार्य बना दिया था। व्यापार के विस्तार से नगरों का विकास हुआ था। नगर व्यापार के विशेष केन्द्र थे। उनमें खास व्यापार क्षेत्र होते थे जहाँ दुकानें होती थीं। "पूर्वी भारत में वाराणसी, कोशांबी तथा पाटलिपुत्र और पश्चिम में उज्जैन अपने उच्च कोटि के मालों के लिए मशहूर थे।"[1] ये नगर बड़े व्यापार केन्द्र थे। व्यापक घरेलू व्यापार के साथ ही गुप्त काल में विदेशी व्यापार के क्षेत्र में बहुत तीव्र विकास हुआ। यह व्यापार मुख्यतः समुद्री मार्ग से होता था। अरब, अफ्रीका तथा रोम के साथ भारत का विशेष व्यापार-संबंध था। भारतीय माल इन देशों में काफ़ी लोकप्रिय थे और उनकी काफ़ी माँग थी। इस प्रकार, घरेलू व्यापार तथा विदेशी व्यापार दोनों की दृष्टि से गुप्तकाल व्यापारिक समृद्धि का काल था। इस काल के समृद्ध व्यापार का भारत के लोगों के जीवन और उनकी संस्कृति पर बहुत ही अच्छा प्रभाव पड़ा।

गुप्तकाल में सामाजिक श्रेणीगत ढाँचे के भीतर बदलाव की प्रक्रिया कमोबेश जारी रही। समाज में व्यक्ति की वास्तविक स्थिति, उसकी आर्थिक स्थिति प्रमुखता प्राप्त करती गई। साथ ही उसके वंश का अब वह महत्व नहीं रह गया, जो पहले था। विभिन्न वर्णों की स्थिति और उनकी भूमिका में भी कमोबेश बदलाव देखने को मिलता है। उच्च वर्णों की आर्थिक स्थिति में बदलाव के कारण वे जीविका के अन्य साधन-धर्मग्रंथों में उल्लिखित साधनों के अतिरिक्त —— अपनाने को विवश हुए। इस काल में निर्धन ब्राह्मणों तथा निर्धन क्षत्रियों के ढेर सारे उल्लेख मिलते हैं। बोंगर्द-लेविन के अनुसार ——

---

1. को.अ. अंतोनोवा तथा अन्य : भारत का इतिहास, पृ. 178.

"बहुत से ब्राह्मण कुटुंब निर्धन हो गये थे और ब्राह्मण वर्ण के प्रतिनिधियों के लिए अब जीविका के अन्य स्रोत ढूँढ़ना और अंगीकार करना आवश्यक हो गया था। वैचारिक क्षेत्र में भी ब्राह्मणों की भूमिका घटी, यद्यपि बाद में हिंदु धर्म के पुनरूत्थान के साथ उनके प्रभाव में वृद्धि हुई। अन्य नये विकासों के परिणामस्वरूप क्षत्रिय वर्ण की भूमिका पर भी प्रभाव पड़ा। .... सेना में भृतिजीवी सैनिकों की भरती ने स्वभावतः युद्धजीवी क्षत्रिय वर्ण की स्थिति को प्रभावित किया। ब्राह्मण कुलों की ही भाँति क्षत्रिय कुल भी अब निर्धनता के शिकार होने लगे थे, शासकीय पदों पर अन्य वर्णों के सदस्यों को अधिकाधिक नियुक्त किया जाने लगा था, जिसकी पहले कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।"[1]

उपर्युक्त उद्धरण से गुप्तकाल में विभिन्न वर्णों की आर्थिक और उसके अनुसार सामाजिक स्थिति में बदलाव की प्रक्रिया की स्पष्ट झलक मिलती है। ब्राह्मण और क्षत्रिय निर्धनता के शिकार होने लगे थे, इसका सीधा संबंध है क्रमशः वैचारिक तथा शासकीय क्षेत्रों में उनकी भूमिका के घटने से। पहले के कालों में जो स्थिति अकल्पनीय थी, अब वह प्रत्यक्ष थी। प्राचीन भारत में आधार और अधिरचना के गहरे संबंध का यह श्रेष्ठ दृष्टांत है।

गुप्तकाल में वैश्य और शूद्र वर्णों की स्थिति अपेक्षाकृत सुधरी। व्यापार के कारण वैश्य वर्ण के बहुत-से लोग आर्थिक रूप से समृद्ध हो गए थे। ऐसे लोगों की सामाजिक हैसियत स्वभावतः बढ़ गई थी। शूद्र वर्ण के लोगों की आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ था। इतिहासकार इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। अब शिल्पकर्म उनका सामान्य कर्तव्य बन गया था। डॉ. रामशरण शर्मा के अनुसार गुप्तकाल में "शूद्र शिल्पियों की आर्थिक स्थिति सुधरी थी और समाज में उनका महत्त्व बढ़ा था। "कामसूत्र" के एक संदर्भ की

---

1. को.अ. अंतोनोवा तथा अन्य : भारत का इतिहास, पृ. 180.

टीका से प्रकट होता है कि शूद्र भी शिल्पी, अभिनेता आदि के व्यवसाय से धन अर्जित करके नागरिक अर्थात् सम्मानित एवं प्रतिष्ठित नागरिक बन सकते थे।"[1]

यहाँ ध्यातव्य है कि गुप्तकाल में सामाजिक प्रतिष्ठा का निर्धारक है अर्थ, न कि वर्ण। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है। प्रसंगात् "महाभारत" में मनुष्य को अर्थ का दास बतलाया गया है -----

"अर्थस्य पुरुषो दासो दासास्त्वर्थो ना कश्यचित् ।"[2]

यह महाभारतकार के वस्तुपरक दृष्टिकोण का सूचक है।

गुप्तकाल में कई कारणों से शूद्रों की स्थिति बेहतर हुई थी। वर्ण व्यवस्था के आरंभिक काल में उन्हें उच्च वर्णों की सेवा का कार्य सौंपा गया था। खेती, व्यापार आदि का दायित्व वैश्यों पर था। गुप्तकाल तक आते-आते शूद्रों की भूमिका बहुत कुछ बदल गई और उन्होंने व्यापार, शिल्पकर्म आदि के साथ ही बड़े पैमाने पर खेती का कार्य आरंभ किया। किसान वर्ग में उनका महत्वपूर्ण भाग शामिल था। डॉ. रामशरण शर्मा के अनुसार -----

"कृषक वर्गों में बहुत बड़ा भाग शूद्र का है, यह धारणा गुप्तकाल के विषय में जितनी सही होगी उतनी शायद पूर्ववर्ती काल के विषय में नहीं।"[3]

दस्तकारी, खेती, व्यापार आदि क्षेत्रों में प्रगति का परिणाम हुआ इनमें लगे लोगों की आर्थिक स्थिति में सुधार। आर्थिक स्थिति से सामाजिक स्थिति का संबंध स्पष्ट है। जो लोग यह मानते हैं कि भारतीय समाज में वर्ण या जाति एक अटल सत्य है और उसका लोगों की आर्थिक स्थिति से कोई संबंध नहीं है,

---

1. रामशरण शर्मा : शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ. 230.
2. महाभारत, भीष्म पर्व 43.71.
3. रामशरण शर्मा : शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ. 229.

उन्हें गुप्तकाल की सामाजिक स्थिति के संबंध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के विचारों पर ध्यान देना चाहिए। उनके शब्दों में ---

"समृद्ध रईस ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों में से ही हुआ करते थे। परंतु शूद्रों का उल्लेख न मिलने से यह नहीं समझना चाहिए कि शूद्र लोग समृद्ध कभी होते ही नहीं थे। सच्ची बात यह है कि समृद्ध लोग शूद्र नहीं हुआ करते थे। समृद्ध होने के बाद लोग या तो ब्राह्मण या वैश्य--अधिकतर वैश्य --- सेठ हो जाया करते थे, या क्षत्रिय सामन्त। उन दिनों भारतवर्ष का व्यापार बहुत समृद्ध था और ब्राह्मण और क्षत्रिय भी सेठ हुआ करते थे।"[1]

विशिष्ट आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों के कारण गुप्तकाल में पारंपरिक वर्ण व्यवस्था को धक्का लगा, इसमें संदेह नहीं। वर्ण व्यवस्था का वंशगत रूप बहुत कुछ ध्वस्त हो गया। पारंपरिक वर्ण अपना पुराना महत्व धीरे-धीरे खोते जा रहे थे। इस काल में विभिन्न शिल्पों के विकास से जातियों का विकास हुआ। वर्ण की तरह ही जाति भी वंशागत ही थी और विशेष व्यवसायों से संबद्ध थी। ध्यातव्य है कि विभिन्न जातियों का विकास मुख्यतः शूद्रों तथा वैश्यों से ही हुआ क्योंकि इन्होंने विभिन्न व्यवसायों को अपनाया। निश्चय ही, जातियों के उदय का संबंध श्रम से जुड़ता है, उसकी भूमिका से जुड़ता है। किंतु वर्ण की तरह ही जाति बाद में जन्म पर आधारित मान ली गयी हालाँकि कुछ मामलों में जातियों के लिए अपने पारंपरिक व्यवसायों को बदल पाना इस काल में संभव था। बहुत सारी जातियों के विकास ने भी वर्ण व्यवस्था की कठोरता को कम किया, उसे ढीला किया। डॉ॰डी॰एन॰झा के अनुसार गुप्तकाल में "जातियों के बहुविध होने से वर्ण व्यवस्था ढीली पड़ गई।"[2]

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी : प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, पृ॰ 28.
2. डी॰एन॰झा : प्राचीन भारत : एक रूपरेखा, पृ॰ 112.

इस प्रकार, गुप्तकालीन भारतीय समाज में बहुसंख्यक शूद्र समुदाय की दशा में सुधार से इनकार नहीं किया जा सकता। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। समाज के इतने बड़े वर्ग पर नई परिस्थितियों का अनुकूल प्रभाव न सिर्फ उस वर्ग के जीवन के विविध पक्षों पर, बल्कि संपूर्ण समाज पर पड़ा। यह स्वाभाविक है। उस काल में दास प्रथा में शिथिलता आई। दास-प्रथा में आई शिथिलता का संबंध वर्ण व्यवस्था में आई शिथिलता से है। ऐसी स्थिति में गुप्तकाल में लोगों की धार्मिक अवस्था या मान्यता में बदलाव या किसी विशेष धर्म के प्रति झुकाव हुआ हो, तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। डॉ. रामशरण शर्मा के अनुसार ---

"गुप्तकाल में शूद्रों की स्थिति में जो आर्थिक, राजनीतिक-सह-विधिक, सामाजिक और धार्मिक परिवर्तन हुए, वे उक्त समुदाय की बदलती हुई सामाजिक स्थिति के सूचक हैं।"[1]

स्पष्ट ही, गुप्तकाल न केवल आर्थिक समृद्धि बल्कि धार्मिक, सांस्कृतिक समृद्धि का भी काल था। इसी कारण उसे "स्वर्णयुग" की संज्ञा दी गई। "स्वर्णयुग" की धारणा में निश्चय ही, अतिशयोक्ति अधिक है। इसका अर्थ यह बिल्कुल नहीं है कि वह ऐसा काल था जिसमें शोषण, दमन नहीं था। ऐसी आदर्श राज्य-व्यवस्था की कल्पना तो आज के अत्यंत विकसित वैज्ञानिक युग में साकार नहीं हो पायी है, उस काल में भला क्या रही होगी। लेकिन, इतना जरूर है कि उस काल की आर्थिक राजनीतिक, धार्मिक व्यवस्था का परवर्ती भारतीय समाज पर गहरा असर पड़ा। संस्कृति और साहित्य के क्षेत्र में गुप्तकाल की देन अत्यंत मूल्यवान है। अतः कुछ सीमाओं के साथ इतिहासकार ए.एल. बाशम से सहमत हुआ जा सकता है जो गुप्तकाल को एक ऐसा काल मानते हैं जब प्रेम अपने सही अर्थ में विकीर्ण था।

---

1. रामशरण शर्मा : शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ. 258.

वैसा प्रेम न पूर्ववर्ती काल में था और न बाद में कभी संभव हुआ। गुप्तकाल के जीवन के प्रायः हर क्षेत्र में प्रेम का बहुविध रूप मुखर हुआ है। डॉ. बाशम के शब्दों में ---

"Perhaps the Gupta period was an age when love, in all the senses of the word, was more widely diffused in India than at any other time in her history --love of the Gods and love of one's fellow men, love of the things of the spirit and love of the things of sense, love of pomp and splendour and love of simplicity, love of nature and love of life. In almost every relic of the Gupta age this love is apparent...."[1]

2.1.1 <u>सामंतवाद का विकास</u>

गुप्तकाल का अवसान पाँचवीं शताब्दी के अंत तक हो गया। इसके साथ ही सामंतवाद के गठन की प्रक्रिया तीव्र हो गई। वैसे तो यह प्रक्रिया आरंभ हो गई थी गुप्तकाल में ही, लेकिन ज़ोर पकड़ती है उसके बाद ही। उसी के साथ भारतीय इतिहास के प्राचीन काल का अंत तथा मध्यकाल का आरम्भ होता है। चूँकि भारत का मध्यकालीन समाज सामंती ढाँचे पर आधारित था, इसलिए उसे समझने के लिए सामंतवाद को समझना आवश्यक है। यूरोप में सामंतवाद को ऐसी आर्थिक व्यवस्था माना गया है, जिसके अंतर्गत उत्पादन में किसानों की दासता प्रधान भूमिका अदा करती है। सामंतवाद का यही लक्षण सर्वत्र मिले, यह आवश्यक नहीं। इसमें

---

1. डॉ.एस.के.मैती की पुस्तक "इकॉनॉमिक लाइफ इन नॉर्दर्न इंडिया इन दि गुप्ता पीरियड" की प्रस्तावना, पृ. 14.

देशगत भेद स्वाभाविक है। भारतीय संदर्भ में डॉ. रामशरण शर्मा सामंतवाद को एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था मानते हैं "जिसमें किसानों की जमीन और देह पर अपने उच्चतर अधिकारों के द्वारा श्रीमन्त-वर्ग उपज का सारा अतिरिक्त हिस्सा हड़प लेता था और किसानों के पास उतना ही छोड़ता था जितना खा-पहनकर वे उस वर्ग के लाभ के लिए आगे भी मेहनत-मशक्कत करते रह सकें।"[1]

भारत में सामंतवाद के उदय का मूल कारण था राज्य द्वारा ब्राह्मणों को भूमि-अनुदान दिया जाना। गुप्तकाल में आरंभ हुई इस प्रवृत्ति ने बाद में जोर पकड़ा। ऐसे अनुदानों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ती गई और इस प्रकार सामंतवाद मजबूत होता गया। अनुदानग्रहीता को न सिर्फ़ भूमि दी जाती थी, बल्कि राजस्व के सभी साधनों का उसके नाम हस्तांतरण भी कर दिया जाता था। इतना ही नहीं, उसे आंतरिक सुरक्षा का दायित्व तथा प्रशासनिक अधिकार भी सौंप दिये जाते थे। डॉ. रामशरण शर्मा के अनुसार ----

"यह बात भी उतना ही महत्व रखती है कि दाता राजस्व के परिहार के साथ-साथ दान किये गये गाँवों के निवासियों पर शासन करने का अधिकार भी ग्रहीता को देता था। गुप्त-काल में मध्य भारत के बड़े-बड़े सामंत राजाओं द्वारा ब्राह्मणों को दानस्वरूप बसे-बसाये गाँव देने के ऐसे कम-से-कम आधे दर्जन तो उदाहरण मिलते ही हैं। इन अनुदानों में सामंत राजाओं ने संबंधित गाँवों के निवासियों को, जिनमें किसान और कारीगर दोनों शामिल थे, स्पष्ट निर्देश दिया है कि वे ग्रहीताओं को केवल प्रचलित कर ही न दें, बल्कि उनके आदेशों का भी पालन करें।"[2] इस प्रकार, किसान जमींदारों के अधिकाधिक अधीन होते चले गये, उनपर जमींदारों का

---

1. रामशरण शर्मा : भारतीय सामंतवाद, पृ. 279.
2. वही : पृ. 3.

शिकंजा मजबूत होता चला गया। इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि किसानों से बेगार लिया जाता था।

भारतीय सामंतवाद का एक लक्षण यह था कि भूमि-अनुदान न सिर्फ ब्राह्मणों को, बल्कि मंदिरों और मठों को भी दिये जाते थे। इतिहासकार अंतोनोवा ने लिखा है ---

"वास्तविक शासकों को छोड़कर सामंती सीस्तर में सबसे संपन्न निस्संदेह "सामूहिक स्वामी"---हिंदू मंदिर और मठ-विहार ही थे।"[1]

स्पष्ट है कि मध्यकालीन भारत का राजनीतिक-आर्थिक ढाँचा भूमि-अनुदानों के आधार पर खड़ा किया गया था और भोक्ताओं का यह परम ध्येय बन गया था कि वे अपने प्रतिद्वन्द्वियों तथा किसानों के विद्रोह का सामना करते हुए, उनका दमन करते हुए सामंती राज्यों का अस्तित्व बनाये रखें, जिससे कि उनके हित सुरक्षित रहें। इस तरह, भारतीय सामंतवाद की कुछ विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं। डॉ॰ रामशरण शर्मा के अनुसार ये विशेषताएँ हैं ---

"परती और आबाद दोनों तरह की जमीनें अनुदान में देना; अनुदान में दी गई भूमि के साथ-साथ किसानों का हस्तांतरण; बेगारी प्रथा का प्रसार; किसानों, शिल्पियों और व्यापारियों के अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहें वहाँ जाकर बसने पर रोक लगाना; मुद्रा का अभाव, व्यापार का ह्रास; राजस्व-व्यवस्था तथा दण्ड-प्रशासन का धार्मिक अनुदानभोगियों के हाथों सौंप दिया जाना; अधिकारियों को वेतन स्वरूप अलग-अलग क्षेत्रों का राजस्व सौंप देने की प्रवृत्ति का प्रारंभ और सामंती दायित्वों का विकास।"[2]

वस्तुतः भारतीय सामंतवाद का ढाँचा अत्यंत जटिल था। इसमें कई तरह की संबंध-व्यवस्थाएँ शामिल थीं। तत्कालीन समाज में प्रचलित

---

1. को.अ. अंतोनोवा तथा अन्य : भारत का इतिहास, पृ॰ 248.
2. रामशरण शर्मा : भारतीय सामंतवाद, पृ॰ 78-79.

उत्पादन-प्रणाली के कारण दो प्रमुख वर्गों का विकास हुआ, अभिजात सामंत वर्ग तथा गरीब किसानों का विशाल वर्ग। कहने की आवश्यकता नहीं कि धर्मनिरपेक्ष तथा धार्मिक भूमि-अनुदानों, देशी तथा जनजातीय तत्वों के सम्मिलन तथा राजपूतों के सैनिक समूहों की वजह से सामंत वर्ग का विकास हुआ तथा इन्हीं आर्थिक-सामाजिक बदलावों और भूमि के साथ किसानों, दस्तकारों आदि के हस्तांतरण के कारण शोषित लोगों के विशाल वर्ग ने आकार ग्रहण किया। ये सारी प्रवृत्तियाँ तथा घटनाएँ परस्पर जुड़ी हुई थीं। अभिजात शासक सामंत वर्ग के कई स्तर थे---राजा से लेकर ग्राम-प्रधान तक। धार्मिक जमींदार भी इसी वर्ग का एक अलग हिस्सा होता था। सामंती पदसोपान के सबसे निचले स्तर पर ग्राम-प्रधान होते थे। नवीं शताब्दी तक गाँवों के मालिक "ग्रामस्वामी" की धारणा एक इतना प्रचलित सामान्य तथ्य बन गयी थी कि शंकराचार्य "ब्रह्मसूत्र" के भाष्य में "देहस्वामी" की तुलना "ग्रामस्वामी" से करते हैं --- "ग्राम्यस्वाम्य निवृत्तिवत् देहस्वाम्यनिवृत्य।"[1]

डॉ. बी. एन. एस. यादव ने अपने एक लेख में जिनेश्वर सूरी-कृत "कथाकोश प्रकरण" में आरंभिक मध्यकालीन भारतीय समाज में आर्थिक आधार पर वर्गों और समूहों की पदानुक्रमानुसार दी गई सूची का हवाला दिया है। उनके अनुसार उस काल में शासक जमींदार वर्ग के दो स्तर थे --- सर्वोच्च शासक या राजा तथा सामंत अभिजात वर्ग की विभिन्न श्रेणियाँ, जिनमें उच्च शासकीय अधिकारी भी शामिल थे। पुरोहित, धर्मोपदेशक आदि यहाँ अलग समूह के रूप में मान्य थे। यहाँ एक ऐसा युग था, जिसमें भू-संपत्ति का विशेष महत्व था। यहाँ यह ध्यातव्य है कि प्रसरणशील जमींदार वर्ग में दोनों उच्च वर्णों अर्थात् ब्राह्मण और क्षत्रिय के साथ-साथ अन्य वर्णों के लोग भी होते थे। स्पष्ट है कि इस काल में भूमि-संपत्ति तथा सामंती संबंधों के व्यक्ति की सामाजिक तथा राजनीतिक स्थिति के मुख्य निर्धारक तत्व के रूप में उभरने के कारण पारंपरिक चातुर्वर्ण्य व्यवस्था की सीमाएँ टूटने लगी थीं। डॉ. यादव के शब्दों में ----

---

1. ब्रह्मसूत्र [शांकर भाष्य सहित], 2.3.13.20.

".....the ruling landed aristocracy composed of two strata -- the paramount rulers and the different grades of feudal elite -- actually enjoyed the highest status in society and emerged as a chief socio-economic class. The priests, religious preachers, monks etc., are regarded here as a separate group. It was an age when landed property acquired special significance. The social status of the expanding landed aristocracy, which could not be confined to one particular varna or even to the first two upper varnas, clearly shows that the ascriptive lines of the fourfold varna system, connected with different social, economic, religious and legal privilages and disabilities, began to be cut across when landed property, along with the samanta relations, emerged in this age as the most tangible basis for the differentiation of social and political status."[1]

2.1.2 वर्ण-विघटन की प्रक्रिया

सामंती व्यवस्था में विशेष आर्थिक, सामाजिक कारणों से वर्णों की सीमाएँ टूट रही थीं और आर्थिक आधार पर लोगों का समूह गठित होने लगा था अर्थात् लोग वर्ग के आधार पर संगठित होने लगे थे, यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है। उस काल के समाज के निम्न वर्ग में किसान, छोटे व्यापारी, दस्तकार, मजदूर, चांडाल तथा अन्य अंत्यज शामिल थे। एक वर्ग के रूप में किसानों का एक निश्चित स्थान था। जैसा कि चर्चा की

---

1. इंडियन हिस्टोरिकल रिव्यू, खंड3, सं. 1, जुलाई 1976, पृ.45.

जा चुकी है, किसानों में सभी वर्णों के लोग शामिल थे। पहले ब्राह्मणों, क्षत्रियों के लिए खेती का कार्य निषिद्ध माना गया था और शूद्रों को इसका अधिकार नहीं दिया गया था, लेकिन आरंभिक मध्यकाल में यह स्थिति नहीं रही। हालाँकि शूद्र वर्ण के लोग गुप्तोत्तर काल में औद्योगिक कलाओं तथा शिल्पों के साथ-साथ अन्य व्यवसायों में भी लगे थे, किंतु मुख्य रूप से वे किसान थे, किसान बन गये थे। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है और डॉ. रामशरण शर्मा इसका गहरा संबंध सामंतवाद से मानते हैं। उनके अनुसार ---

"एक चीज़ से भारतीय सामंतवाद के आर्थिक पहलू का बड़ा गहरा संबंध था। वह यह थी कि गुप्त-काल से शूद्र लोग, जिन्हें ऊपर के तीन वर्णों का सेवक और दास माना जाता था, किसान बनते जा रहे थे और पुराने किसान अर्ध-दासत्व की अवस्था में पहुँच गये थे। पहली प्रक्रिया का संकेत हमें ह्वेनसांग के विवरण में मिलता है। उसने शूद्रों को किसान कहा है। उसके इस कथन की पुष्टि चार सदी बाद अलबरूनी के विवरण से भी होती है। गुप्तोत्तर काल की कई कृतियों में शूद्रों को किसान बतलाया गया है।"[1]

इस परिवर्तन का संकेत उस काल की कई कृतियों में मिलता है। "स्कन्द पुराण" में शूद्र को "अन्नद"[2] अर्थात् अन्न देने वाला कहा गया है। कलियुग के मुख्य लक्षणों की चर्चा करते हुए "भागवत पुराण" में शूद्रों तथा दासों की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति में पूर्ववर्ती युग की अपेक्षा काफ़ी सुधार का उल्लेख किया गया है। जहाँ एक ओर द्वापर युग में क्षत्रिय और ब्राह्मण दो वर्णों की प्रधानता रहती है --- "वर्णाः क्षत्रद्विजोत्तराः"[3], वहीं कलियुग में शूद्र, कैवट आदि की

---

1. रामशरण शर्मा : भारतीय सामंतवाद, पृ. 272.
2. स्कन्द पुराण, 6. 242. 31.
3. श्रीमद्भागवत महापुराण, 12. 3. 23.

प्रधानता रहती है---"शूद्रदासोत्तराः प्रजाः।"[1] स्पष्ट है कि उस युग में ऐसी स्थिति के आगमन की भविष्यवाणी ही नहीं की जा रही थी, बल्कि यह एक सचाई बन रही थी।

इस बात की चर्चा की जा चुकी है कि जमींदार वर्ग में कमोबेश सभी वर्णों के लोग शामिल थे। जमींदारी पर किसी वर्ण विशेष का कब्जा नहीं था। इसी प्रसंग में निम्न वर्ग की संरचना पर भी एक नज़र डालना आवश्यक है। बहुसंख्यक शोषित वर्ग में भी किसी वर्ण विशेष के लोग नहीं, सभी वर्णों के लोग शामिल थे। इसके ढेर सारे प्रमाण तत्कालीन कृतियों में उपलब्ध हैं। वैश्य किसानों का निचला तबका खेतिहर मजदूर बन गया था। उनकी स्थिति में गिरावट का सीधा परिणाम यह हुआ कि जहाँ पहले उन्हें वेदों के अध्ययन का अधिकार प्राप्त था, वहाँ अब छिन गया। अलबरूनी के हवाले से डॉ.बी.एन.एस. यादव ने लिखा है ----

" By the eleventh century such vaisyas as were considered to be degraded in this manner appear to have lost the right of vedic study."[2]

लोगों की आर्थिक स्थिति में परिवर्तन होने के साथ उनकी सामाजिक स्थिति में परिवर्तन आता है, उपर्युक्त तथ्य से इसकी पुष्टि होती है। यही कारण है कि ढेर सारे ब्राह्मण और क्षत्रिय किसान बन गये थे---"सामान्य किसान"। डॉ. यादव के शब्दों में -----

" A number of poor brahmanas also appear to have become karsakas. In the parasara Smrti agriculture has been recommended for the common ksatriyas as well. Thus, many of them may have been rank-and-file peasants."[3]

---

1. श्रीमद्भागवत महापुराण, 12.3.25.
2. इंडियन हिस्टोरिकल रिव्यू, जिल्द 3, सं.1, जुलाई,1976, पृ.49.
3. वही ।

इस प्रकार, सिर्फ़ उच्च स्तर पर ही नहीं, बल्कि निम्न स्तर भी वर्ण और जाति की सीमाएँ टूट रही थीं। नई आर्थिक-सामाजिक शक्तियों के विकास का यह सीधा और स्वाभाविक परिणाम था।

किन्तु, यह स्थिति शासक जमींदार वर्ग के अनुकूल नहीं थी। वर्ण या जाति-व्यवस्था सदा से शासक वर्ग के लिए फायदे की चीज़ रही है और अलग-अलग जातियों, समूहों में बँटे लोगों को वे बारी-बारी लूटते रहे हैं। आकस्मिक नहीं कि शासक वर्ग और उसके पिट्ठू पुरोहित बार-बार विभिन्न वर्णों और जातियों के लिए कर्तव्य निर्धारित करते हैं और उनके पालन पर बल देते हैं। वे यह कैसे बर्दाश्त करते कि विभिन्न वर्णों के लोग आर्थिक आधार पर, अपनी सामान्य जरूरतों के आधार पर अपने अधिकारों की लड़ाई लड़ने के लिए एकजुट हों? इसलिए उनकी ओर से इस व्यवस्था को बनाये रखने के लिए, इसे मजबूत करने के लिए तरह-तरह के प्रयास किये जातेरहे हैं, "साम, दाम, दंड, भेद" की नीति अपनायी जाती रही है। सिर्फ़ धार्मिक फरमान से काम नहीं चलता। इसलिए तत्कालीन शासक सामंत वर्ग जाति शुल्क की व्यवस्था लागू करता है और मेहनतकश जनता के विभिन्न जाति-समूहों से विभिन्न तरह के शुल्क और सेवाएँ लेता है। उच्च वर्ग की इस तरह की नीति आरंभिक मध्यकाल में जातिव्यवस्था के बंधन को कठोर बनाती है। डॉ. यादव इस संबंध में लिखते हैं ---

"......the ruling class did make vigorous efforts to enforce caste duties, which was of course condutive to its interest. The different kinds of dues and services secured from the caste groups of the toiling masses were greatly needed to support the closed agrarian set-up. This may be regarded as one of the factors responsible for the tightening of the caste system during the early medieval period."[1]

---

1. इंडियन हिस्टोरिकल रिव्यू, जिल्द 3, सं-1, जुलाई, 1976, पृ. 50.

अवरुद्ध अर्थव्यवस्था

आरंभिक मध्यकालीन भारत की अर्थव्यवस्था को बंद या "अवरुद्ध अर्थव्यवस्था"[1] कहा गया है, जिसमें गतिशीलता नहीं रह गई थी। बड़े पैमाने पर ब्राह्मणों, मंदिरों आदि को दिये गये भूमिअनुदान, ग्राम-अनुदान आदि के कारण यह स्थिति उत्पन्न हुई थी। भूमि या गाँव के साथ-साथ वहाँ के निवासी भी अनुदान में दिये जाते थे और अनुदान-ग्रहीता का उनपर पूरा अधिकार रहता था। ग्रामवासियों से मनमानी सेवाएँ ली जाती थीं। साथ ही, उनकी गतिशीलता पर रोक भी थी। इससे स्थानीयवाद को बढ़ावा मिला! डॉ. रामशरण शर्मा के शब्दों में ----

"Since peasents, artisans and merchants were attache to their respective habitations, this fostered a closed economy and generated a sense of strong localism. Their masters -- princes, priests and various kinds of beneficiaries -- might change, but there would be no charge in the position of labourers, artisans, cultivators etc., who were attached to the soil whoever happened to be their master. Peasants and artisans found it difficult to go independently from one place to another. They stayed on at the same place unless they were compelled by intolerable oppression or removed for the benifit of the grantees under the terms of the grant, as in central and western India."[2]

किसानों, ग्रामवासियों की गतिशीलता पर रोक लगाकर शोषण, उत्पीड़न को झेलने के लिए उन्हें बाध्य कर दिया गया था। अनुदानभोगी अपने लाभ के लिए

---

1. रामशरण शर्मा : सोशल चैंज इन अर्ली मेडिएवल इंडिया{500ई-1200ई}, पृ. 6
2. रामशरण शर्मा : सोशल चैंज इन अर्ली मेडिएवल इंडिया, पृ. 9.

किसानों से तरह-तरह की सेवाएँ प्राप्त करते थे। इसके साथ ही उनपर अनेक तरह के कर लगाये जाते थे, जिन्हें काफी कड़ाई से वसूल किया जाता था। इन सबके फलस्वरूप किसान आर्थिक दृष्टि से पराधीन हो गए। इन्हीं कारणों से प्रत्येक गाँव में अलग प्रकार की प्रथाएँ विकसित हुई। डॉ. बी.एन. एस. यादव लिखते हैं ---

"गाँवों का आपेक्षिक अलगाव सदा से भारतीय सामाजिक आर्थिक ढाँचे की विशेषता रही है, लेकिन इस काल में सामंतवादी प्रवृत्तियों के कारण, किसी हद तक परिसीमित अर्थव्यवस्था से पोषित स्थानीयवाद इतना अधिक बढ़ गया कि प्रत्येक गाँव में अपनी अलग ही प्रकार की प्रथाएँ और मान्यताएँ विकसित हो गई।"[1]

फिर भी गाँव अलग-अलग इकाई नहीं कहे जा सकते। विवाहादि के अवसरों पर दूसरे गाँवों से उनका संपर्क होता था।

आरंभिक मध्यकाल में व्यापार का काफी ह्रास हुआ। गुप्तकाल में व्यापार की समृद्धि की चर्चा की जा चुकी है। उसके बाद के काल में विभिन्न सामंतवादी प्रवृत्तियों के कारण व्यापार का पतन होता है। इस काल में सिक्कों के अभाव से भी व्यापार के ह्रास का पता चलता है। शहरों का पतन इसका एक प्रमुख परिणाम हुआ। शहर वहाँ विकसित होते हैं, जहाँ व्यापार मजबूत होता है। आर्थिक जीवन में गिरावट का व्यापार और शहरों की स्थिति में गिरावट से घनिष्ठ संबंध है। व्यापार के ह्रास से समुद्र किनारे स्थित शहरों का अन्य शहरों से और शहरों का गाँवों से आर्थिक संबंध कम हो गया। डॉ. रामशरण शर्मा के अनुसार ---

---

1. मध्यकालीन भारत, अंक 1, 1981, पृ. 7.

".....the overall decline of trade weakendd the economic links between the coastal towns and the towns situated in the interior and again between towns and villages."[1]

यह स्वाभाविक था।

गुप्तकाल के बाद वित्तीय अर्थतंत्र में संकोच हुआ। इसमें कोई संदेह नहीं। 1912 ई. के पहले के भारतीय समाज की आर्थिक परिस्थितियों के बारे में विचार करते हुए साइमन डिग्बी भी इसे स्वीकार करते हैं। उनके शब्दों में ---

"with the fragmentation of power, the volume of internal as will as external trade diminished and highways deteriorated. As in western Europe, the monetary economy contracted. Gold coins were rarely issued after the fall of the Guptas and even the silver and copper coinages are scarce and poor. This was notwithstanding the very great quantities of precious metals which entered India, and were either hoarded or employed in the adornment of religious establishments or the palaces and persons of the dominant classes. The trade guilds which were such a prominent feature of ancient Indian sociaty declined and in some cases vanished from history."[2]

---

1. रामशरण शर्मा : सोशल चैंजिज इन अर्ली मेडिएवल इंडिया, पृ. 7.
2. तपन रायचौधरी तथा इरफान हबीब द्वारा संपादित "दि कैम्ब्रिज इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया,' खंड-1, पृ. 46.

अर्थात् "सत्ता के विखंडन के कारण भीतरी तथा बाहरी व्यापार के परिमाण में कमी आई और बड़ी सड़कों की हालत बिगड़ी। पश्चिमी यूरोप की तरह, वित्तीय अर्थतंत्र का संकोच हुआ। गुप्त सम्राटों के पतन के बाद स्वर्णमुद्राएँ विरले ही जारी की गई। चाँदी और ताँबे के सिक्के भी मामूली किस्म के हैं। भारत में सोने-चाँदी की भारी मात्रा की आमद के बावजूद यह स्थिति थी। इसे या तो खजाने में डाल दिया गया या धर्मस्थानों के अथवा प्रभुत्वशाली वर्गों के भवनों तथा उनके शरीर के अलंकरण के रूप में इसका उपयोग किया गया। व्यापारसंघों का, जो प्राचीन भारत की प्रमुख विशेषता थे, ह्रास हुआ और कहीं-कहीं तो इतिहास से उनका लोप हो गया।"

साइमन डिग्बी के उपर्युक्त कथन से तत्कालीन सामंतवादी व्यवस्था में व्यापार आदि के ह्रास की जानकारी के साथ-साथ उस समय के प्रभुत्वशाली वर्ग की जीवन-पद्धति पर भी प्रकाश पड़ता है। एक ओर जहाँ सामान्य जनता के लिए परिस्थितियाँ प्रतिकूल थीं, कष्टदायक थीं, वहीं दूसरी ओर यह वर्ग सोने-चाँदी के बेशकीमती अलंकरण बनवाने में मगन था। जनता भले ही कराहे, उनके भवनों पर सोने-चाँदि के कंगूरे होने ही चाहिए। आरामतलब, विलासी सामंत वर्ग के चरित्र का यह सुंदर विवेचन है। इसके साथ ही धार्मिक स्थानों तथा उनसे जुड़े पंडे-पुरोहितों की वास्तविक स्थिति भी स्पष्ट हो जाती है, जहाँ धार्मिक वर्ग सही अर्थों में चाँदी काटता था। समाज के अगुआ वर्गों और सामान्य जनता के बीच इतनी चौड़ी खाई जहाँ हो, विरोध की आवाज भी वहीं उठ सकती है, उठी है। परवर्ती काल के भक्ति काव्य में उसकी अनुगूँज साफ-साफ सुनाई पड़ती है जहाँ विलासिता के प्रति नफरत, विलासी वर्ग के प्रति उपेक्षाभाव तथा धर्म के संस्थागत रूप मंदिर एवं पंडितों, पुजारियों की निन्दा की गई है, उनका विरोध किया गया है और सच्ची भक्ति की जिसके लिए किसी बाहरी तामझाम की आवश्यकता नहीं, वकालत की गई है, उसे अपनाने पर बल दिया गया है।

उक्त काल में सिर्फ किसानों की गतिशीलता पर ही रोक लगी हो, तो बात नहीं है, हालाँकि इसका सबसे प्रतिकूल प्रभाव उन्हीं पर पड़ा था। ब्राह्मणों की गतिशीलता भी कमोबेश बाधित थी। यह मध्यकालीन सीमित या बंद अर्थव्यवस्था के सर्वथा अनुकूल था। ब्राह्मणों के लिए कलियुग में कुछ अकरणीय कृत्य बताते गये थे, जिन्हें "कलिवर्ज्य" कहा जाता था। इसमें ब्राह्मणों की गतिशीलता पर रोक भी शामिल थी। हालाँकि यज्ञ आदि अनुष्ठानों में भाग लेने के लिए यात्रा करने की अनुमति ब्राह्मणों को थी, किंतु लंबी यात्रा की अनुमति नहीं थी, क्योंकि इससे उनके घर में वैदिक अग्नि को सतत प्रज्ज्वलित रखने में बाधा होती और समुद्र यात्रा की उन्हें मनाही थी। समुद्र-यात्रा करने पर जातिच्युत होने का खतरा होता था। अलबरूनी के हवाले से डॉ. रामशरण शर्मा ने बताया है कि ब्राह्मण के आवास का क्षेत्र नियत होता था और सामान्यतः किसी हिन्दू को तुर्कों के इलाके में प्रवेश की अनुमति नहीं होती थी।[1] ये सारे तथ्य सामंती स्थानीयवाद की उपज थे और उसके प्रमाण भी। यह आकस्मिक बात नहीं है कि जहाँ आरंभिक ग्रंथों में "देशधर्म" की चर्चा मिलती है, वहाँ मध्यकालीन ग्रंथों में "ग्राम्यधर्म" या "ग्रामधर्म" की चर्चा बहुतायत से मिलती है। ये विवरण आत्मनिर्भर आर्थिक तथा राजनीतिक इकाई के रूप में गाँवों के बढ़ते महत्व के सूचक हैं।[2]

जैसी कि चर्चा की जा चुकी है, आरंभिक मध्यकाल विखंडन का काल था। सत्ता के साथ-साथ व्यवसायों का विखंडन हुआ। अर्थ-व्यवस्था भला इसका अपवाद कैसे रह सकती थी? इस काल में बड़े पैमाने पर वर्णों का जातियों में विभाजन हुआ--अनेक जातियों में विभाजन हुआ। साथ ही, अनेक नई जनजातियों एवं जातियों को उसमें शामिल किया गया।

---

1. रामशरण शर्मा : सोशल चेंजेज इन अर्ली मेडिएवल इंडिया, पृ. 10-11.
2. वही ।

इसी तरह ढेर सारी अछूत जातियों को भी हिन्दू धर्म में स्थान दिया गया। यह एक तरह से ब्राह्मणीकरण के कारण संभव हो सका। इतिहासकार इस काल में जातियों की संख्या में व्यापक बढ़ोत्तरी की चर्चा करते हैं। पेशों का जाति में रूपांतरण इसका एक महत्वपूर्ण कारण रहा है। इन सभी जातियों तथा अछूत जातियों को हिन्दू धर्म में स्वीकार किया गया। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है। ब्राह्मणों ने अछूत जातियों को धर्म में शामिल ही नहीं किया, बल्कि उन्हें नये कर्मकाण्डों के साथ मौसम, नई फसल, हल की खेती, पंचांग आदि से संबंधित जानकारी भी दी।[1] वस्तुतः यदि उस काल में ब्राह्मणों में इतनी उदारता आती है, तो इसका श्रेय कहीं-न-कहीं वैष्णव धर्म को है, जो उक्त काल तक बहुत लोकप्रिय हो चुका था और जो आरंभ से ही अपनी उदारता के लिए विख्यात रहा है। वैष्णव धर्म के विकास के संदर्भ में किंचित विस्तार के साथ इसका विवेचन किया जाएगा।

इस प्रकार, भारतीय इतिहास के आरंभिक मध्यकाल के समाज के आर्थिक, सामाजिक परिवेश का एक मोटा सर्वेक्षण हमारे सामने उसका एक ऐसा चित्र उपस्थित करता है, जिसके आधार पर उसे प्राचीन समाज और उत्तर मध्यकालीन समाज से अलग कर सकते हैं। वह एक ऐसा समाज था, जिसमें जमींदार वर्ग का जबर्दस्त प्रभुत्व, किसानों की दासता तथा उनकी गतिशीलता पर रोक, उनपर भारी कर का बोझ, मुद्रा का अभाव, व्यापार का ह्रास, दस्तकारी का ह्रास, अकाल, बंद या सीमित अर्थव्यवस्था, अनेक नई जातियों का विकास, अछूतों का हिन्दू धर्म में सम्मिलन, बेगार की प्रथा आदि सामंती व्यवस्था की मजबूत जकड़न के प्रमाण हैं। फिर भी, प्रारंभिक भारतीय सामंतवाद की ऐतिहासिक भूमिका को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। मध्य भारत तथा अन्य प्रदेशों में भूमि-अनुदान परती ज़मीन के आबाद किये जाने में काफी सहायक सिद्ध हुए। ऐसे इलाकों में खेती के नये

---

1. रामशरण शर्मा : सोशल चैंज इन अर्ली मेडिएवल इंडिया, पृ. 23-24.

तरीकों का इस्तेमाल किया गया। गो-हत्या को जघन्य अपराध बतलाकर खेती के कार्य के लिए गोधन की रक्षा की गई। साथ ही, विभिन्न जनजातियों, अछूतों को हिन्दू धर्म में शामिल करके देश के एकीकरण की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया गया आदि। हालाँकि राजनीतिक, आर्थिक सत्ता के विभाजन से क्षेत्रीयतावाद की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला, इस तथ्य से भी इनकार नहीं किया जा सकता है।[1]

लेकिन, ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में धारा का प्रवाह बदल रहा था। "ग्यारहवीं सदी से पश्चिमी और मध्य भारत में मुद्रा का चलन फिर से काफी बड़े पैमाने पर प्रारंभ हो गया। इसका संबंध इस काल में उद्योग-व्यापार के पुनरुद्धार और बेठ-बेगार प्रथा की समाप्ति से था।"[2] स्पष्ट है कि यहाँ आकर सामंतवाद ह्रासोन्मुख हो चला। डॉ. रामशरण शर्मा मुस्लिम सल्तनत की स्थापना से पूर्व के मध्य-काल को "पुरातन सामंतवाद का चरमोत्कर्ष काल"[3] की संज्ञा देते हैं। व्यापार की वृद्धि, मुद्रा के व्यापक प्रयोग आदि से स्थानीयवाद को धक्का लगना स्वाभाविक है। डॉ. बी. एन. एस. यादव के अनुसार ——

"सल्तनत काल में प्राचीन भारतीय सामंती व्यवस्था का ह्रास होता दिखाई देता है। आर्थिक शक्तियों ने पश्चिमी भारत में 11वीं और 12वीं शताब्दियों में ही रास्ते में अवरोध खड़े करने शुरू कर दिए थे, यद्यपि इसका ह्रास मुख्यतः प्राचीन शासक वर्गक्रम के टूटने के फलस्वरूप अभिजात शासक वर्ग की संरचना और प्रकृति में आए परिवर्तन तथा किसानों को नकद

---

1. रामशरण शर्मा : भारतीय सामंतवाद, पृ. 278.
2. वही, पृ. 276.
3. वही, पृ. 280.

भुगतान की नियमित प्रथा के फलस्वरूप मुद्रा के व्यापक प्रचलन के कारण हुआ। यह भी माना जाता है कि शहर और गाँव के बीच बड़े पैमाने पर चलने वाला व्यापार भी 14वीं शताब्दी में ही विकसित हुआ।"[1]

इस प्रकार, बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के बाद और सल्तनत की स्थापना के साथ नई आर्थिक परिस्थितियों के कारण भारतीय सामंतवाद अपने दूसरे दौर में पहुँचता है, जिसके अंतर्गत उस काल की सामाजिक संरचना गठित होती है, जिसमें महान् भक्ति आंदोलन का उदय, प्रचार और प्रसार होता है तथा महान् भक्ति काव्य की रचना होती है।

2.2 वैष्णव धर्म के उद्भव एवं विकास का सामाजिक संदर्भ

प्राचीन भारतीय धर्मों में वैष्णव धर्म का विशिष्ट महत्व है। यह एक ऐसा धर्म है, जिसने भारतीय जनमानस को सदियों से प्रभावित किया है और आज भी किसी-न-किसी रूप में व्यापक तौर पर प्रचलित है। वैष्णव धर्म अपने मूल सिद्धान्तों की व्यापकता और उदारता के लिए विख्यात है। सामान्य जनता के बीच विकसित यह धर्म लोक धर्म है। आकस्मिक नहीं कि मोनियर विलियम्स इसे हिन्दू धार्मिक मतों में एकमात्र ऐसा मत मानते हैं, जिसे सही अर्थों में धर्म कहा जा सकता है ---

" This is the only Hindu system worthy of being called a religion."[2]

वैष्णव धर्म वह भक्ति धर्म है, जो विष्णु को, जो भगवत, नारायण, हरि आदि नामों से भी जाने जाते हैं, परमेश्वर मानता है और

---

1. मध्यकालीन भारत, अंक-1, 1981, पृ. 9.
2. जॉन ए. शेरॉक की पुस्तक "हिन्दुइज्म : एन्शिएंट एण्ड मार्डन" में उद्धृत, पृ. 47.

उनकी भक्ति पर बल देता है। वस्तुत: भक्ति की अवधारणा का विकास वैष्णव धर्म के साथ ही होता है। अपने विकास की आरंभिक अवस्था में भक्ति वैष्णव भक्ति ही है। कहने की आवश्यकता नहीं कि भक्ति सिद्धांत का भारतीय धर्म और साहित्य के विकास में कितना महत्वपूर्ण योगदान है। समस्त प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय भाषाओं का श्रेष्ठ साहित्य भक्ति सिद्धांत के इर्द-गिर्द रचा गया है। हिन्दी का भक्तिकालीन साहित्य वैष्णव भक्ति का साहित्य है। "भगवद्गीता" से लेकर "रामचरितमानस" तक इसी वैष्णव भक्ति की देन हैं। चाहे अनुयायियों की संख्या को आधार माना जाया या सिद्धांत की आंतरिक मूल्यवत्ता को, किसी भी आधार पर वैष्णव धर्म बहुत महत्वपूर्ण धर्म माना जाएगा। हेमचन्द्र रायचौधरी इस संबंध में लिखते हैं ---

"Whatever be the right kind of test in determining the importance of a religious system -- the amount of the following, or the intrinsic worth of the system --Vaishnavism must be regarded as one of the most important religions of India. It was the religion of Heliodoros, of the Gupta Emperors, of Ramanaja, of Kabira, of Chaitanya and of Tukarama. It still counts as its votaries many among the teeming millions of India. It is the religion which produced the Bhagavadgita, the songs of the Tamil Alwars, the splendid padavalis of medieval Bengal, and the Ramacharitamanas of Tulsi Das."[1]

स्पष्ट है कि वैष्णव धर्म किसी एक प्रांत या किन्हीं विशेष प्रांतों तक सीमित नहीं था, यह संपूर्ण देश में व्याप्त था। इसके मानने वालों में सभी वर्णों, सभी वर्गों के लोग थे। इससे वैष्णव धर्म की लोकप्रियता का अनुमान लगाया जा सकता है। इसलिए यदि इसे "धर्मों का महान् संघ"[2] माना गया हो, तो आश्चर्य नहीं।

---

1. हेमचन्द्र रायचौधरी : मैटेरियल्स फॉर द स्टडी ऑफ द अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैष्णव सेक्ट, पृ. 1-2.
2. वही : भूमिका, पृ. 7

किसी धार्मिक मत के विकास और प्रसार के कारणों की तलाश सामाजिक परिस्थितियों में की जानी चाहिए। अगर किसी धार्मिक मत के बड़ी संख्या में अनुयायी बनते हैं, तो उसके आकर्षण में कोई ऐसी बात अवश्य होगी जो उसका समर्थन करने वाले लोगों के लिए सार्थक हो। किसी नये धर्म या मत का उदय तभी होता है, जब उससे उस समाज की कोई आवश्यकता पूरी होती हो, जिसमें उसकी जड़ें हैं। इस दृष्टि से वैष्णव धर्म के विकास का विवेचन अपेक्षित है। सर्वप्रथम परमाराध्य देव विष्णु की अवधारणा को ऐतिहासिक संदर्भ में देखा जाय।

2.2.1 वैदिक साहित्य में विष्णु

विष्णु उतने ही प्राचीन हैं जितना "ऋग्वेद"। "ऋग्वेद" में विष्णु एक महत्वपूर्ण देवता हैं। यहाँ विष्णु को संबोधित ऋचाओं की संख्या पाँच है और उनके नाम का उल्लेख लगभग सौ बार हुआ है। इस दृष्टि से देवताओं में उनकी श्रेणी चतुर्थ है[1], हालाँकि कई स्थलों पर विष्णु को अत्यंत महान देवता माना गया है। डॉ. डी.सी.सरकार के शब्दों में ----

"Visnu is represented as one of the great gods even in some sections of the Rgveda; but he was not regarded as the greatest god in early vedic times."[2]

---

1. ए.ए. मैकडोनेल : वैदिक माइथोलोजी, पृ.69-70.
2. डी.सी.सरकार : रिलीजियस लाइफ इन एन्शियण्ट एण्ड मेडिएवल इंडिया, पृ.1

"ऋग्वेद" में विष्णु के चरित्र की अनिवार्य विशेषता यह है कि वे तीन पग रखते हैं। उनके इस कार्य का उल्लेख लगभग एक दर्जन बार मिलता है। कहा गया है ---

"इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ।"[1]

अर्थात् "विष्णु ने इस संसार की तीन पगों से परिक्रमा की। उनके पाँव की धूल से सारा संसार छिप गया।"

आगे विष्णु को समस्त धर्मों को धारण करने वाला कहा गया है। साथ ही, उन्हें इन्द्र का सखा बतलाया गया है ---

त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः । अतो धर्माणि धारयन् ।
विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे । इन्द्रस्य युज्यः सखा ।।[2]

अर्थात् "विष्णु जगत के रक्षक हैं, उनको पराजित करने वाला कोई नहीं। उन्होंने समस्त धर्मों को धारण करके तीन पग रखे। विष्णु के पराक्रम को देखो, जिनके बल से सभी नियम स्थित हैं। वे इन्द्र के उपयुक्त सखा हैं। उनके बल से ही यजमान व्रतों का अनुष्ठान करते हैं।"[3]

उपर्युक्त मंत्र विष्णु की महत्ता के सूचक हैं, जहाँ उन्हें संसार का रक्षक और अजेय बताया गया है। किन्तु, सवाल है कि उनके तीन पगों का क्या आशय है? अधिकांश विद्वानों का विचार है कि "ऋग्वेद" में विष्णु सूर्य के एक स्वरूप का प्रतिनिधित्व करते हैं और उनके तीन पग सूर्य के पथ के सूचक हैं। उनके तीन पगों

---

1. ऋग्वेद -- 1.22.17.
2. वही -- 1.22.18-19.
3. उक्त मंत्रों का यह अनुवाद जे.मूहर की पुस्तक "मूल संस्कृत उद्धरण" से लिया गया है, पृ.58.

का अर्थ क्रमशः सूर्य का उदय, मध्याह्न में सर्वोच्च बिन्दु पर उसकी स्थिति तथा अस्त होना है। "निरुक्त" के अपने भाष्य में दुर्गाचार्य विष्णु को सूर्य कहते हैं ---- "विष्णुर् आदित्यः।"[1] विष्णु को "शिपिविष्ट" कहा गया है, जिसका अर्थ है किरणों से आच्छादित। लेकिन, कुछ विद्वानों का मत है कि विष्णु के तृतीय पग में सूर्यास्त से संबद्ध होने का कोई भी संकेत नहीं मिलता है। मैकडौनेल उसे "उच्चतम पग" मानते हैं, जिसे विष्णु का "परम पद" माना गया है।[2] यह मत अपेक्षाकृत अधिक तर्कसंगत लगता है, जिसकी पुष्टि परवर्ती भारतीय परंपरा से होती है।

विष्णु के दो चरणों को मनुष्य देख सकते हैं या उन्हें प्राप्त कर सकते हैं, परंतु तृतीय का कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता है। वह पक्षियों की उड़ान से भी परे है।[3] आकाशधारी मरुद्गन भी वहाँ तक नहीं पहुँच सकते हैं। परवर्ती काल में विष्णु अधिकाधिक महत्व प्राप्त करते हैं, उसके पीछे उनके तृतीय चरण की भूमिका स्पष्ट है। डॉ. आर. जी. भण्डारकर के शब्दों में -----

"तृतीय चरण अथवा परम पद, जो सबकी पहुँच के परे है, के प्रति सम्मान की भावना ने विष्णु के उत्कर्ष में योग दिया।"[4]

प्रसंगात् इस बात की चर्चा की जानी चाहिए कि विष्णु के तीन पगों का आखिर क्या उद्देश्य है? उनपर इतना बल क्यों दिया गया है? "ऋग्वेद" में इसका उत्तर स्पष्ट है -- लोक-रक्षा, लोक-कल्याण के लिए। कहा गया है ---- "हम सबके स्वामी पालक, शत्रुरहित और तरुण विष्णु ने

क पथ क

---

1. मूल संस्कृत उद्धरण, पृ. 59 पर उद्धृत।
2. ए. ए. मैकडॉनेल : वैदिक माइथोलॉजी, पृ. 7।
3. ऋग्वेद, 1.155.5
4. आर. जी. भण्डारकर : वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, पृ. 38.

प्रशंसनीय लोक-रक्षा के लिए तीन बार पाद-विक्षेप द्वारा सारे पार्थिव लोकों की विस्तृत रूप से प्रदक्षिणा की है"[1] तथा "इस पृथ्वी को मनुष्य के निवास के लिए देने की इच्छा करके विष्णु ने पदक्रमण किया था।"[2] स्पष्ट है कि विष्णु जगत के पालनकर्ता हैं। वे लोक-कल्याण की कामना से युक्त देवता हैं और इसी के लिए तीन पद-विक्षेप करते हैं। उनके व्यक्तित्व का यह अत्यंत महत्वपूर्ण पक्ष है, जो बाद के साहित्य में अधिकाधिक स्पष्ट होता गया है। उनकी यह विशेषता उन्हें लोक देवता साबित करती है। विष्णु के तीन पग परवर्ती वामन अवतार के मिथक का आधार बनते हैं और उनका लोकरक्षक रूप अवतारमात्र की अवधारणा का मुख्य स्रोत प्रमाणित होता है। विष्णु के तीन पगों की पहुँच तीनों लोकों तक है, उनकी धूल से ये लोक ढँक जाते हैं। यह उनके प्रभाव का, उनके असीम विस्तार का सूचक है और इस प्रकार वैदिक देवताओं के बीच उनकी महत्वपूर्ण स्थिति का सूचक भी ।

वैदिक विष्णु पराक्रमी देवता हैं। "ऋग्वेद" के अनुसार वे सिंह के समान पराक्रमी हैं ---

"प्र तद् विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।"[3]

अर्थात् स्वतंत्रता से विचरण करने वाला सिंह जिस प्रकार प्राणियों में अपने पराक्रम से विख्यात है, उसी प्रकार विष्णु भी अपने पराक्रम के कारण ही मनुष्यों की स्तुति के पात्र हैं। इस प्रकार "ऋग्वेद" में विष्णु एक ऐसे देव के रूप में चित्रित किये गये हैं, जो सर्वव्यापक हैं, पराक्रमी हैं और लोक के लिए कल्याण-कारी तथा साथ ही ऊष्मा और ऊर्जा का स्रोत भी हैं। वस्तुतः उनके चरित्र

---

1. जे. म्यूर : मूल संस्कृत उद्धरण, पृ. 68.
2. वही, पृ. 80-81.
3. ऋग्वेद, 1. 154. 2.

की इन विशेषताओं को सूचित करने के लिए ही उनके तीन पगों की कल्पना की गई है, ऐसा गोंडा का मत है। वे लिखते हैं ----

" The general idea underlying this central mythical act seems to have been the eternal phenomenon of the pervading and omnipresent, mighty and blessing stream of celestial light, warmth, and energy."[1]

आश्चर्य नहीं कि बाद के साहित्य में विष्णु का सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान परमेश्वर के रूप में विकास होता है। स्पष्ट है कि "ऋग्वेद" में विष्णु कोई तुच्छ देवता नहीं हैं। उनके कार्य उन्हें एक महत्वपूर्ण देवता साबित करते हैं। वे एक संभावनापूर्ण देवता हैं। आकस्मिक नहीं कि जे. मुइर ने लिखा है कि "ऋग्वेद" में "कुछ स्थलों पर विष्णु के जिन गुणों की चर्चा की गई है, वे स्थल यदि ऋग्वेद में अकेले होते तो यह माना जाता कि वैदिक ऋषिगण इस देवता को देवाधिदेव मानते थे। ....जहाँ इस देवता की महिमा को अत्यधिक महत्व दिया गया है, इन्द्र भी इसके साथ संयुक्त हैं।"[2]

प्राचीन भारत में यज्ञों का काफी महत्व था। यज्ञसंस्था के विपुल विकास के साथ-साथ देवमंडली में विष्णु का महत्व भी बढ़ गया। विष्णु का तादात्म्य यज्ञ के साथ हो गया। "शतपथ ब्राह्मण" में विष्णु को यज्ञ कहा गया है ---

"स यः स विष्णुर् यज्ञः स ।"[3]

---

1. डायलॉग एण्ड अलायंस, जिल्द-1, सं. 2, ग्रीष्म 1987 अंक में उद्धृत, पृ. 27
2. जे. मुइर : मूल संस्कृत उद्धरण, पृ. 89.
3. शतपथ ब्राह्मण, 14. 1. 1. 6.

अर्थात् जो विष्णु हैं, वही यह यज्ञ हैं।

उस काल में विष्णु सभी देवताओं में श्रेष्ठ तथा पवित्रतम माने जाने लगे क्योंकि यज्ञ से बढ़कर पवित्र और श्रेयस्कर वस्तु दूसरी नहीं थी। "ऐतरेय ब्राह्मण" के आरंभ में ही अग्नि हीन और विष्णु श्रेष्ठ देवता माने गए हैं---

"अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमः, तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः।"[1]

अर्थात् देवों में अग्नि निम्नतम तथा विष्णु उच्चतम हैं। अन्य सब देवता इन्हीं के बीच में स्थित हैं। लेकिन, इसी ग्रंथ में अन्यत्र विष्णु को देवों का द्वारपाल कहा गया है ----

"विष्णुर् वै देवानां द्वारपः। स एवास्मा एतद् द्वारं विवृणोति।"[2]

अर्थात् विष्णु देवों के द्वारपाल हैं, वह उनके लिए द्वार खोलते हैं।" एक ओर विष्णु सर्वोच्च देव हैं और दूसरी ओर देवों के द्वारपाल। यह परस्पर विरोधी स्थिति लगती है। द्वारपाल निन्दात्मक विशेषण है, हालाँकि इसके पीछे यह धारणा हो सकती है कि विष्णु स्वर्ग में देवताओं के प्रवेश को नियंत्रित करने वाले देवता हैं, उनकी अनुमति से ही वहाँ प्रवेश संभव है। डॉ.डी.सी.सरकार का ऐसा ही मत है। उनके शब्दों में ---

"This is no doubt an uncomplimentary epithet, although the idea is probably that visnu regulated entrance into the heavenly wold."[3]

---

1. ऐतरेय ब्राह्मण, 1.1.
2. वही, 1.30.
3. डी.सी.सरकार : रिलीजियस लाइफ इन एन्शिएण्ट एण्ड मेडिएवल इण्डिया, पृ.5.

"शतपथ ब्राह्मण" में एक आख्यान के माध्यम से विष्णु की श्रेष्ठता प्रमाणित की गई है। तेज, ऐश्वर्य एवं अन्न की प्राप्ति के निमित्त देवों द्वारा एक यज्ञ का आयोजन किया गया। देवों ने आपस में यह प्रस्ताव किया कि उनके बीच जो अपने कर्म से यज्ञ की उत्पत्ति का ज्ञान सबसे पहले प्राप्त कर ले, वह सर्वोच्च पद प्राप्त करे। विष्णु ने सबसे पहले उसे प्राप्त कर लिया और वे सर्वश्रेष्ठ देव हो गए -- "विष्णुर देवानां श्रेष्ठः इति।"[1]

ब्राह्मण ग्रंथों में भी विष्णु के तीन पगों का उल्लेख मिलता है। वहाँ विष्णु को क्रमशः पृथ्वी, अंतरिक्ष तथा आकाश में तीन पाद-प्रक्षेप करने वाला कहा गया है। ब्राह्मण ग्रंथों में विष्णु तथा यज्ञ के बीच तादात्म्य स्थापित किया गया है। लेकिन एक बात स्पष्ट है कि इस काल तक विष्णु का महत्व अपेक्षया बढ़ गया था और वह निरंतर वर्धमान था। इस प्रकार, वैदिक साहित्य में विष्णु के चरित्र में ऐसी कई विशेषताएँ मिलती हैं, जो बाद में उनकी सर्वोच्चता में सहायक हुई।

2.2.2 महाकाव्यों में विष्णु अर्थात् वैष्णव भक्ति का विकास

वैष्णव धर्म के इतिहास में "रामायण" और "महाभारत" इन दो महाकाव्यों का असाधारण महत्व है। डॉ. सुवीरा जायसवाल के अनुसार--

"महाभारत" और "रामायण" जो प्रारंभ में पुराकथित चरित्रों की वीरतापूर्ण गाथाओं से संबद्ध लोकप्रिय काव्य के रूप में रचे गये थे, अपने वर्तमान रूप में वैष्णव कथाओं और उपदेशों के मुख्य कोष हैं; साथ ही, अब वे धार्मिक पूजनीयता भी अर्जित कर चुके हैं।"[2]

---

1. शतपथ ब्राह्मण, 14.1.1.5.
2. सुवीरा जायसवाल : वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास, पृ.8.

"रामायण" और "महाभारत" के रचनाकाल की सही जानकारी संभव नहीं है। विद्वानों का अनुमान है कि उनकी रचना में काफी समय लगा है और यही कारण है कि उनमें बाद में अनेक अंश जोड़े गए हैं। डॉ. ए.एल. बाशम के अनुसार ---

"To find an appropriate chronological niche for the two great epics of India in this time of changing events is almost impossible. For one thing we do not know their dates, and for another their composition covered a very long period."[1]

प्राय: सभी विद्वान् "रामायण" और "महाभारत" में प्रक्षिप्तांशों की उपस्थिति स्वीकार करते हैं। जिस युग में मुद्रण-कला का विकास न हुआ हो, पुस्तकों के प्रकाशन और इस प्रकार उन्हें निश्चित रूप प्रदान करने की सुविधा न हो और साथ ही जिसमें विभिन्न धार्मिक मतों का गठन हो रहा हो और स्वभावत: उनमें आपसी प्रतिद्वन्द्विता हो, उस युग में यदि ग्रंथों में प्रक्षेपण किये गये हों, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। लेकिन सिर्फ इसी के आधार पर यदि हम अपने महाकाव्यों और अन्य ग्रंथों की कटाई-छँटाई करने में ही लगे रहे, तो अंत में हमारे पास कितना ठोस बचेगा, कहना कठिन है। सच पूछा जाय तो आज के अति विकसित वैज्ञानिक युग में भी इस तरह के मामलों में किसी ग्रंथ की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता के संबंध में अंतिम रूप से कुछ कहना संभव नहीं। कहना न होगा कि ग्रंथ विशेष के संबंध में विभिन्न विद्वानों के परस्पर-विरोधी मतों से इसी बात की पुष्टि होती है। प्रसंगात् आचार्य क्षितिमोहन सेन के विचारों को उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं हो पा रहा है ---

"एक धर्म-मत का इतिहास ढूँढने के लिए यदि हम ग्रंथ, शिलालेख आदि के लिए कोई स्पष्ट Document [दलील] देखकर ही उसका

---

1. ए.एल. बाशम : दि ऑरिजिन्स एण्ड डेवलपमेंट ऑफ क्लासिकल हिन्दुइज़्म, पृ.69

आदि निर्णय करने लगें तो यह बड़ी भारी भूल होगी। मनुष्य अपने जन्म-दिन को पैदा होता है, फिर क्रमशः बड़ा होता है। इसके बाद अगर किसी दिन कोई वैषयिक प्रयोजन उपस्थित हुआ तो शायद किसी दिन वही दलील पर दस्तखत भी कर देता है। ऐसे भी कितने ही हैं, जिन्होंने इस जीवन में कभी दस्तखत ही नहीं किये। इसीलिए यह तो नहीं कहा जा सकता कि इन आदमियों का जन्म ही नहीं हुआ या इन्होंने जीवन-यात्रा का निर्वाह ही नहीं किया।"[1]

निश्चय ही, आचार्य सेन के उद्धरण का यह अर्थ कतई नहीं है कि धार्मिक मतों और ग्रंथों के अध्ययन और विवेचन में वैज्ञानिक दृष्टिकोण न अपनाया जाय। वस्तुतः वे उस दृष्टिकोण का नहीं, उसकी अतिवादिता का विरोध कर रहे हैं, उसकी कठोरता का विरोध कर रहे हैं और इस संदर्भ में विवेक के इस्तेमाल को रेखांकित कर रहे हैं।

"रामायण" को आदि काव्य माना गया है। स्पष्ट है कि उसकी रचना "महाभारत" से पहले मानी जाती है, हालाँकि "महाभारत" की अपेक्षा इसमें विकसित राजनीतिक अवस्था का चित्रण मिलता है। "रामायण" में विष्णु का परमेश्वर के रूप में चित्रण किया गया है या नहीं, इसका सीधा संबंध इस बात से है कि वहाँ राम विष्णु के अवतार माने गये हैं या नहीं। अधिकांश विद्वान् "रामायण" के प्रथम तथा सप्तम कांड को परवर्ती या प्रक्षिप्त मानते हैं। डॉ. सुवीरा जायसवाल ने लिखा है ----

"ई. सन् की प्रारंभिक शताब्दियों में राम को विष्णु के अवतार के रूप में मान्यता मिली तथा उसी काल में उनके ग्रंथ {रामायण} में प्रथम और

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी की पुस्तक "सूर साहित्य" की भूमिका, पृ. 9

सप्तम कांड जोड़े गये। हमारे अनुसार यह सिद्ध करने का कोई आधार नहीं है कि दाशरथी राम ईसा के जन्म से कई शताब्दी पहले से ही विष्णु के अवतार के रूप में पूजे जाते थे।"[1]

कुछ अन्य विद्वानों का भी ऐसा ही विचार है। विष्णु के अवतार के रूप में राम का उल्लेख जिन स्थलों पर हुआ है, उनको अप्रामाणिक एवं प्रक्षिप्त मानते हुए डॉ. आर.जी. भण्डारकर लिखते हैं ——

"राम को बहुत काल से विष्णु का अवतार माना जाता था। इस बात के संकेत रामायण में हैं। परंतु, यह मानने के पर्याप्त कारण हैं कि ये स्थल अप्रामाणिक एवं प्रक्षिप्त हैं।"[2] डॉ. भण्डारकर एक ओर तो अवतार-संबंधी उल्लेखों को प्रक्षिप्त मानते हैं, लेकिन दूसरी ओर कहते हैं कि "राम को बहुत काल से विष्णु का अवतार माना जाता था"। यह एक महत्वपूर्ण संकेत है, जो उन्हीं के मत के विपरीत जाता है। वैदिक साहित्य में "राम" शब्द के कई उल्लेख मिलते हैं। "ऋग्वेद", "ऐतरेय ब्राह्मण" तथा "शतपथ ब्राह्मण" में राम नाम के व्यक्तियों का उल्लेख है[3] हालाँकि इन उल्लेखों के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि "रामायण" के नायक राम के साथ इनका संबंध है। किन्तु, इनसे इतना पता तो चलता ही है कि "रामायण" की रचना के काल तक राम नामधारी व्यक्तियों का अभाव नहीं था। लोक में प्रचलित राम को वाल्मीकि ने अपने काव्य में उन्नत आत्मा महान वीर नायक के रूप में उपस्थित किया हो, तो यह कोई अस्वाभाविक बात नहीं है और उस समय तक विष्णु के

---

1. सुवीरा जायसवाल : वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास, पृ. 129.
2. आर.जी.भण्डारकर : वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, पृ. 53.
3. परशुराम चतुर्वेदी : वैष्णव धर्म, पृ. 51-52.

परमेश्वर रूप में मान्य हो जाने के कारण यदि राम का तादात्म्य विष्णु से कर दिया हो और इस प्रकार उन्हें अवतार बना दिया हो, तो इसमें भी कोई आश्चर्य की बात नहीं। इससे मूल कथा में कोई बाधा नहीं पड़ती, बल्कि कथा के अर्थ की दूसरी परत खुलती है। राम मात्र आदर्श मानव ही नहीं या वीर रूप में इन्द्र के उत्तराधिकारी ही नहीं रहते, बल्कि वे विष्णु के अवतार बन जाते हैं और यह प्रकारांतर से उनके महान आदर्श व्यक्तित्व का सम्मान है। फ्रैंक ह्वेलिंग के शब्दों में ----

"When we examine the Ramayana in its final version, we see two things which are important both in themselves and also for their future significance. First, the later portions of Val. Open up another level of meaning within the Rama symbol. Rama is no longer merely an ideal man or a successor of India, He is also an avatara of Visnu. This level of meaning could be then and can be now read back into the whole Ramayona. Rama is now seen as an avatara of Visnu who limits Himself and becomes conformed to the human condition. By His perfect adaptation to the conditions of human life, He shows what human life should be like. The fact that Rama has a divine nature, does not, however, minimise his humanity."[1]

वाल्मीकि-कृत "रामायण" में चित्रित राम के संबंध में यह अच्छी टिप्पणी है। "रामायण" में अवतारवाद के विवेचन-प्रसंग में मूल पाठ के आधार पर इस संबंध में आगे विचार किया जाएगा। यहाँ इतना निवेदन अभीष्ट है कि विष्णु के साथ राम के तादात्म्य से वैष्णव धर्म का कलेवर पुष्ट होता है, यह समुदय होता

---

1. फ्रैंक ह्वेलिंग : दि राइज ऑफ रिलीजियस सिग्निफिकेन्स ऑफ राम, पृ. 90.

है और फलस्वरूप परवर्ती काल में "रघुवंश", "उत्तर रामचरित" तथा "रामचरितमानस" जैसे श्रेष्ठ काव्य लिखे जाते हैं, जो किसी भी साहित्य के लिए गौरव की बात है।

वैष्णव धर्म के इतिहास में दूसरे महाकाव्य "महाभारत" का महत्व सर्वोपरि है, क्योंकि यह भक्तिमूलक धार्मिक संप्रदायों के उद्भव का तथा वैष्णव देवता वासुदेव कृष्ण एवं नारायण विष्णु का सांप्रदायिक परिचय देने वाला सबसे प्राचीन ग्रंथ है। संप्रदाय के अर्थ में "वैष्णव" शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग "महाभारत" के अंतिम पर्व में मिलता है ---

अष्टादश पुराणानां श्रवणाद्यत्फलं भवेत् ।
तत्फलं समवाप्नोति वैष्णवो नात्र संशयः ।।[1]

अर्थात् इसमें संदेह नहीं कि अठारह पुराणों के श्रवण करने का जो फल होता है, उसे मनुष्य केवल वैष्णव होकर ही प्राप्त कर लेता है।

"महाभारत" की रचना के समय तक वासुदेव कृष्ण देवता के रूप में मान्य हो चुके थे। संपूर्ण महाकाव्य में कृष्ण का यह रूप छाया हुआ है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में ---

"जब सात्वतों के वासुदेव की पूजा प्रधान हो गईतो महाभारत के युग में वासुदेव और नारायण को एक ही देवता समझा जाने लगा। यहाँ तक आकर वासुदेव कृष्ण, विष्णु और नारायण एक हो चुके थे।"[2]

---

1. महाभारत, स्वर्गारोहण पर्व, 6.97.

2. हजारी प्रसाद द्विवेदी : सूर-साहित्य, पृ.19.

इस प्रकार, "महाभारत" में कृष्ण परमेश्वर के रूप में चित्रित हैं --- ऐसे परमेश्वर के रूप में जो क्षीरसागर में सोने वाला नहीं, बल्कि लोक की रक्षा के लिए, लोक कल्याण के लिए संसार में उपस्थित होता है और जिसका मनुष्य-लोक से गहरा संबंध है। प्रसंगात इस बात की चर्चा अपेक्षित है कि वैष्णव धर्म में भक्ति की अवधारणा कैसी है, उसका स्वरूप कैसा है तथा उसका उदय तथा विकास किन परिस्थितियों में और कब हुआ? साथ ही, उसके विकास में वासुदेव कृष्ण और नारायण विष्णु के तादात्म्य की कैसी भूमिका है?

भक्ति के मूल में ईश्वर में निष्ठा और ईश्वर की दया या कृपा प्राप्त करने की कामना निहित है। "भक्ति" शब्द के इतिहास का अध्ययन करने वाले विद्वानों का मत है कि आरंभ में इसकी अवधारणा भौतिक और मूर्त थी और उस समय देवताओं के अनुग्रह को सांसारिक वस्तुओं के अर्थ या संदर्भ में ग्रहण किया जाता था। डॉ. सुवीरा जायसवाल के अनुसार उस काल में "भगवत" शब्द का तात्पर्य वह आदिम जनजातीय समूह था जो समस्त जनजातीय संपत्ति का स्वामी होता था; "भक्ति" का अर्थ उस संपत्ति का एक भाग या हिस्सा था और "भक्त" का अर्थ था--वह व्यक्ति, जिसे वह भाग प्राप्त होता था। आगे चलकर "भगवत" को एक देवता या भगवान के रूप में माना जाने लगा और "भक्त" को जो उस जनजाति का एक सदस्य होता था, उसके आश्रित तथा उपासक के रूप में।"[1] संभव है, उस युग में जब एक परमेश्वर की अवधारणा का विकास न हुआ था और समाज अविकसित था, लेकिन संपत्ति का केन्द्रीकरण आरंभ हो गया था, भक्ति का उपर्युक्त अर्थ में प्रयोग होता रहा हो। बाद में सामाजिक, आर्थिक परिवेश में बदलाव के साथ-साथ "भक्ति" के अर्थ में भी स्वाभाविक बदलाव आता है और अपने पूर्ववर्ती अर्थ से उसका संबंध छूट जाता है।

---

1. सुवीरा जायसवाल : वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास, पृ. 115.

अब भक्ति का अर्थ हो जाता है ईश्वर के प्रति श्रद्धायुक्त विशुद्ध प्रेम और इसी रूप में वह विष्णु की उपासना का महत्वपूर्ण सिद्धांत बन जाती है।

वेदों में भक्ति का कोई भाव नहीं मिलता है। उस युग में समाज में यज्ञ, बलि आदि बाहरी कर्मकांडों का प्रचलन था। स्वभावतः वेदों में इन्हीं का प्रचुर उल्लेख मिलता है और वहाँ इनकी महत्ता प्रतिपादित की गई है। वेदों के स्तोत्र विभिन्न देवताओं की स्तुति में रचे गए थे। कभी-कभी पिता तथा मित्र के रूप में भी उनकी चर्चा हुई है। वहाँ उनके प्रति श्रद्धा और समर्पण का भाव तो मिलता है, लेकिन प्रेम का भाव नहीं, जिसके अभाव में भक्ति संभव ही नहीं। कुछ विद्वान् वेदों में "भक्त", "अभक्त" आदि शब्दों का प्रयोग देखकर वहाँ भक्ति की उपस्थिति प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं। स्पष्ट ही, इस तरह के प्रयास की सार्थकता संदिग्ध है। महज शब्द देखकर खींच-खाँचकर उसे अभीष्ट अर्थ देने वाला प्रमाणित करना या किसी सिद्धांत की प्राचीनता प्रमाणित करने के लिए शब्द विशेष का वेदों में प्रचलित अर्थ में प्रयोग दिखलाना ऐसा ही प्रयास है। ध्यातव्य है कि विभिन्न युगों की विभिन्न कृतियों में शब्द विशेष के प्रयोग दिखलाकर उसके अर्थ की एकरूपता प्रमाणित करना वैज्ञानिक पद्धति नहीं है। ग्रंथ में उल्लेख मात्र प्रमाण नहीं हो सकता। नीरद सी.चौधरी के शब्दों में ——

"It might be pointed out here that the mere occurance of a word in books dating from different times does not prove that the meaning was the same in all the ages".[1]

कहने की आवश्यकता नहीं कि वेदों में भक्ति का वह रूप नहीं मिलता, जिस रूप में वह वैष्णव धर्म में विकसित होती है। किन्तु, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि जिस सर्वोच्च देवता विष्णु के इर्द-गिर्द भक्ति का ताना-बाना

---

1. नीरद सी. चौधरी : हिन्दुइज़्म, पृ. 258.

चुना गया, वह एक वैदिक देव हैं और उस काल में उनमें जो गुण मिलते हैं, परवर्ती काल में वे और विकसित रूप में उनके व्यक्तित्व के साथ जुड़कर उसे और महिमावान् तथा ऐश्वर्यवान बनाते हैं।

उपनिषदों में गहन दार्शनिक चिंतन मिलता है। धार्मिक चिंतन एवं उपासना के परवर्ती विकास में उपनिषदों के सिद्धांतों का सक्रिय योगदान है। उनमें परमेश्वर की उपासना पर बल दिया गया है। उनकी उपासना-विधि का प्रभाव परवर्ती ग्रंथों पर पड़ना स्वाभाविक है। उपनिषदों में यह बताया गया है कि ईश्वर समस्त भूतों का पालक है, सबका अधिपति है तथा वह मनुष्यों के हृदय में निवास करता है। ईश्वर जैसा है, उस रूप में एवं सर्वत्र उसका दर्शन करना शाश्वत आनन्द है। उपनिषदों में विष्णु का उल्लेख नहीं हुआ है, ऐसी बात नहीं है। परमात्मा के रूप में विष्णु की चर्चा कई उपनिषदों में मिलती है। विष्णु के परम पद की प्राप्ति के उपाय के संबंध में "कठोपनिषद्" में कहा गया है ---

विज्ञान सारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोःपरमं पदम् ।।[1]

अर्थात् जो मनुष्य विवेकयुक्त बुद्धि-सारथि से युक्त और मन को वश में रखनेवाला होता है, वह संसारमार्ग से पार होकर उस व्यापक परमात्मा के परम पद को प्राप्त कर लेता है।

पुनः "तैत्तिरीयोपनिषद्" के आरंभ में वरुण, इन्द्र आदि के साथ विष्णु से सुख की कामना की गई है ---

"शं नो विष्णुरुरुक्रमः ।"[2]

---

1. कठोपनिषद् , 3. 9.
2. तैत्तिरीयोपनिषद , 1. 1.

अर्थात् जिसका पादविक्षेप बहुत विस्तृत है, वह देवता विष्णु हमारे लिए सुखदायक हो।

स्पष्ट है कि "ऋग्वेद" तथा ब्राह्मण ग्रंथों में वर्णित विष्णु के तीन पग, जो वस्तुतः उनकी सर्वव्यापकता के सूचक हैं, यहाँ भी उनका मुख्य विशेषण हैं। उपनिषत्काल की प्रवृत्ति के अनुरूप यहाँ ब्रह्मा और विष्णु के तादात्म्य की चर्चा मिलती है ----

त्वं ब्रह्मा त्वं च वै विष्णुः ।[1]

स्पष्ट है कि परमेश्वर के रूप में विष्णु की चर्चा कई उपनिषदों में हुई है। किन्तु, इनमें कहीं भी भक्ति की चर्चा नहीं मिलती है। भक्ति की प्रचलित अवधारणा के अर्थ में सबसे प्रथम प्रयोग "श्वेताश्वतर उपनिषद्" के अंतिम श्लोक में हुआ है ---

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिताह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।।[2]

अर्थात् ये कथित बातें उस उच्च आत्मा वाले व्यक्ति में, जो परमात्मा में परम भक्ति रखता है और वही भक्ति जो भगवान में है, गुरु में रखता है, अपने-आप प्रकट हो जाती है।

उक्त श्लोक के संदर्भ में महामहोपाध्याय काणे महोदय ने लिखा है --

---

1. मैत्रिउपनिषद्, 5.1.
2. श्वेताश्वतर उपनिषद्, 6.23

"श्वेताश्वतरोपनिषद् ने "भक्ति" शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में किया है जो गीता तथा अन्य भक्ति-विषयक ग्रंथों में प्राप्त होता है।"[1]

उक्त उपनिषद् में वैष्णव धर्म में भक्ति की प्रचलित अवधारणा के अर्थ में "भक्ति" शब्द का प्रयोग मिलने के बावजूद यह माना जाना चाहिए कि एक सिद्धांत के रूप में भक्ति का प्रतिपादन यहाँ नहीं हुआ है। इस रूप में सर्वप्रथम भक्ति का व्यवस्थित प्रतिपादन जिस ग्रंथ में मिलता है, वह है "श्रीमद्भगवद्गीता" जो "महाभारत" का अभिन्न अंग है। "गीता" में प्रतिपादित भक्ति ही वैष्णव धर्म का मूल आधार है। डॉ. आर.जी. भण्डारकर का मत है कि "गीता" में आकर भक्ति सिद्धांत को निश्चित स्वरूप प्राप्त हुआ। उनके अनुसार ---

"भक्ति-उपासना के विचार का उदय तो पहले ही हो चुका था, परंतु इसे निश्चित स्वरूप तब प्राप्त हुआ जब वासुदेव ने अर्जुन को गीता का उपदेश दिया।"[2]

"गीता" में वर्णित भक्ति के स्वरूप का संक्षेप में विवेचन करने के पूर्व इस बात की पड़ताल लाजिमी है कि "भक्ति-उपासना" का वह कैसा विचार है, जिसका उदय "महाभारत" की रचना के पहले हो चुका था तथा जिसकी ओर डॉ. भण्डारकर ने संकेत किया है। यह लगभग सर्वस्वीकृत विचार है कि उपनिषदों की रचना 1000 ई.पू. से 500 ई.पू. के बीच संपन्न हो गई थी अर्थात् उपनिषद् बुद्ध-पूर्व हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं,

---

1. महामहोपाध्याय पा.वा.काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-4, पृ.456.
2. आर.जी. भण्डारकर : वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, पृ.9.

"श्वेताश्वतर उपनिषद्" में "भक्ति" का परवर्ती प्रचलित अर्थ में प्रयोग हुआ है। यह बात निश्चय के साथ कही जा सकती है कि ग्रंथों में जो विचार या मत व्यक्त होते हैं, वे कहीं आसमान से नहीं टपकते। उनका स्रोत होता है लोक, लोक जीवन। कोई भी अवधारणा पहले समाज में, फिर रचनाकार के मानस में और इस प्रकार रचना में प्रवेश करती है। देखा जाना चाहिए कि क्या कोई ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनसे "महाभारत" की रचना के पूर्व समाज में भक्ति या इससे मिलती-जुलती भावना के प्रचलित होने का पता चलता हो।

डॉ. हेमचन्द्र रायचौधरी का मत है कि ईस्वी सन् के आरंभ के काफी पूर्व भक्ति-संप्रदाय की उपस्थिति के पुरालेखीय प्रमाण मिलते हैं। उनके शब्दों में ------

"The date of the Bhagavadgita or ofthe Narayaniya is uncertain, but we have epigraphic evidence of the existence of the Bhagavata or Bhakti School long before the beginning of the christ..ian era."[1]

इस मत के समर्थन में कुछ अभिलेखों का हवाला दिया गया है। वर्तमान मध्य प्रदेश के विदिशा जिले के वेसनगर नामक स्थान में प्राप्त एक अभिलेख में होलिओदोर ने अपने को "देव-देव" वासुदेव के सम्मान में गरुड़ध्वज खड़ा करने वाला व्यक्ति बतलाया है। उसने स्वयं को भागवत कहा है। वह तक्षशिला का निवासी एक यवन दूत था। यह अभिलेख दूसरी शताब्दी ई.पू. का है। राजस्थान के चित्तौड़गढ़ जिले के घोसुंडी नामक स्थान में

---

1. हेमचन्द्र रायचौधरी : मैटेरियल्स फॉर द स्टडी ऑफ द अर्ली हिस्ट्री ऑफ द वैष्णव सेक्ट, पृष्ठ - 13.

प्रथम शताब्दी ई.पू. के एक अन्य अभिलेख में संकर्षण और वासुदेव दोनों को "भागवद्", "अनिहत" अर्थात् अजेय तथा "सर्वेश्वर" कहा गया है।[1] इन अभिलेखों से यह स्पष्ट है कि इनके निर्माण-काल तक वासुदेव देवाधिदेव रूप में पूजे जाते थे तथा उनके उपासक भागवत कहलाते थे। उस काल में भागवत धर्म के भारत के पश्चिमोत्तर भाग में बड़े पैमाने पर प्रचलन का पता चलता है।

महान वैयाकरण पाणिनि का काल पाँचवीं शताब्दी ई.पू. के आस-पास माना जाता है। पाणिनि ने एक सूत्र में "वासुदेव" और "वासुदेवक" शब्द की रचना का उल्लेख किया है और उसका अर्थ किया है वह व्यक्ति, जिसकी पूजा का आधार वासुदेव हो ---

वासुदेवः भक्तिः सेव्यः यस्य स वासुदेवकः।[2]

अतः यदि पाणिनि के समय में समाज में वासुदेव की पूजा होती रही हो, उनकी भक्ति होती रही हो और इस प्रकार भक्ति का आरंभिक रूप प्रचलित रहा हो, तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं मानी जानी चाहिए। डॉ. हेमचन्द्र रायचौधरी लिखते हैं ---

"Since Panini probably flourished in the fifth century B.C. the Bhagavata (Vasudevaka) sect must have arisen before that time. We learn from the sutras iv, 3.95 and iv, 3.98 that the new faith was even in the fifth century B.C. a religion of Bhakti."[3]

---

1. डी.सी.सरकार : रिलीजियस लाइफ इन एन्शियण्ट एण्ड मेडिएवल इंडिया, पृ. 20
2. महामहोपाध्याय काणे के ग्रंथ "धर्मशास्त्र का इतिहास", भाग-4 में उद्धृत, पृ.463.
3. हेमचन्द्र रायचौधरी : मैटेरियल्स फॉर द स्टडी ऑफ द अर्ली हिस्ट्री ऑफ द वैष्णव सेक्ट, पृ. 18.

इसी से मिलता-जुलता मत है डॉ.आर.जी. भण्डारकर का जो मानते हैं कि "अकाट्य साक्ष्य के आधार पर ई.पू. तीन-चार शताब्दियों के लगभग एक ऐसे धर्म का अस्तित्व सिद्ध होता है जिसके केन्द्र वासुदेव थे और जिसके अनुयायी भागवत कहलाते थे।"[1]

"भगवत्" शब्द वासुदेव के लिए प्रयुक्त होता था। जैसा कि कहा जा चुका है, भागवत वह है जो भगवत् अर्थात् वासुदेव की पूजा करता है। वासुदेव "भागवत धर्म" के केन्द्र थे। पाणिनि के काल में वासुदेव पूजा के आलंबन बन चुके थे, पाणिनि के सूत्र के हवाले से यह स्पष्ट होता है। इतना ही नहीं, "तैत्तिरीय आरण्यक" के दसवें प्रपाठक के एक अवतरण में भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है ---

नारायणाय विद्महे, वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्।[2]

यहाँ वासुदेव विष्णु का एक नाम है।

वैदिक देवता विष्णु परवर्ती काल में निरंतर अधिकाधिक महानता को प्राप्त करते गये और "महाभारत" की रचना के समय तक परमेश्वर बन गये। यहाँ तक आते-आते वे वासुदेव से अभिन्न हो गए। "महाभारत" के भीष्म पर्व में प्रजापति बतलाते हैं कि उन्होंने स्वयं परम ब्रह्म से वासुदेव रूप में भूतल पर आकर रहने की प्रार्थना की थी ---

मानुषं लोकमातिष्ठ वासुदेव इति श्रुतः ।
असुराणां वधार्थाय संभवस्व महीतले ।।[3]

---

1. आर.जी.भण्डारकर : वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, पृ. 5.
2. हेमचन्द्र रायचौधरी की पुस्तक "मैटेरियल्स फॉर द स्टडी ऑफ द अर्ली हिस्ट्री ऑफ द वैष्णव सेक्ट" में उद्धृत, पृ. 19.
3. महाभारत, भीष्म पर्व, 66.8.

इसी अध्याय में आगे भीष्म दुर्योधन से कहते हैं ---

स एष शाश्वतो देवः सर्वगुह्यमयः शिवः ।
वासुदेव इति ज्ञेयो यन्मां पृच्छसि भारत ।।[1]

अर्थात् जिनके विषय में तुम मुझसे पूछ रहे हो, वे सनातन देवता सर्वगुह्यमय कल्याण स्वरूप परमात्मा ही "वासुदेव" नाम से जानने योग्य हैं।

डॉ. भण्डारकर का यह मत उचित है कि "महाकाव्य-काल तक विष्णु हर दृष्टि से परमात्मा की कोटि पर पहुँच गये और विष्णु से वासुदेव का तादात्म्य हो गया।"[2]

वासुदेव का संबंध वृष्णि वंश से था। "गीता" में इसकी पुष्टि होती है, जहाँ कृष्ण कहते हैं कि वृष्णियों में मैं वासुदेव हूँ --

"वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि"।[3]

वासुदेव धर्म या भागवत संप्रदाय के उदय के समय उसके सर्वोच्च देव वासुदेव ही थे और उस समय यह नाम व्यक्तिवाचक रहा होगा, अपत्यवाचक नहीं, ऐसा विद्वानों का अनुमान है। साथ ही, यह भी बताया गया है कि वासुदेव के उनके पिता होने की धारणा का उदय आगे चलकर हुआ होगा। आरंभ में कृष्ण और वासुदेव अलग-अलग नाम थे। बाद में उन्हें एक मान

---

1. महाभारत, भीष्म पर्व, 66.38
2. आर.जी. भण्डारकर : वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, पृ. 39.
3. भगवद्गीता, 10.37.

लिया गया वासुदेव कृष्ण के रूप में। डॉ. आर.जी. भण्डारकर इस संबंध में लिखते हैं ----

"कृष्ण, जनार्दन एवं केशव, वृष्णि-नाम नहीं प्रतीत होते। आगे जाकर जबकि वासुदेवोपासना चतुर्दिक फैल चुकी थी ये नाम वासुदेव को दे दिये गये।"[1]

किसी व्यक्ति या धार्मिक संप्रदाय के लोकप्रिय हो जाने पर उससे अनेक नामों का जुड़ना एक सामान्य बात है। धर्म और संस्कृति के क्षेत्र में इस प्रकार की घटना स्वाभाविक है। जिस भागवत धर्म के अगले चरण के रूप में वैष्णव धर्म और भक्ति का विकास हुआ, उसकी संक्षिप्त चर्चा के बाद अब पुनः गीता में प्रतिपादित भक्ति के स्वरूप के विवेचन का प्रयास किया जा रहा है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से वैष्णव भक्ति का सैद्धांतिक प्रतिपादन करने वाला सबसे आरंभिक ग्रंथ है।

"भगवद्गीता" के अनुसार ईश्वर में विश्वास, उससे प्रेम, उसके प्रति श्रद्धा तथा उसी में लीन हो जाने का नाम भक्ति है। अर्जुन कृष्ण से कहते हैं ----

पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।[2]

अर्थात् हे देव। पिता जैसे पुत्र के और सखा जैसे सखा के और पति जैसे प्रिय स्त्री के, वैसे ही आप भी मेरे अपराध को सहन करने के लिए योग्य हैं।

---

1. आर.जी.भण्डारकर, वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, पृ. 12.
2. भगवद्गीता, 11.44.

यहाँ पहली बार भक्त अपने आराध्य के साथ वैसी आत्मीयता का अनुभव करता है, जैसी आत्मीयता मित्र और मित्र, पिता और पुत्र तथा पति और पत्नी के बीच होती है। इस तरह की भक्ति के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति होती है। अर्जुन से कृष्ण कहते हैं ---

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ।।[1]

अर्थात् हे पार्थ ! वह परम पुरुष जिसके अंतर्गत सारे पदार्थ स्थित हैं और जिससे यह सारा संसार व्याप्त है, सचमुच अनन्य भक्ति से प्राप्त होता है। भक्ति की महिमा ऐसी है कि भक्त कभी नष्ट नहीं हो सकता ---

"न मे भक्तः प्रणश्यति ।"[2]

किस-किस तरह के लोग भगवान् की भक्ति करते हैं, इस संबंध में कृष्ण का कहना है ---

चतुर्विधा भजन्ते माँ जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।।[3]

अर्थात् आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी--ये चार प्रकार के पुण्यकर्मा मनुष्य मुझको भजते हैं।

---

1. भगवद्गीता, 8.22.
2. वही, 9.31.
3. वही, 7.16.

यहाँ "आर्त" का तात्पर्य है उस व्यक्ति से जिसका ऐश्वर्य नष्ट हो गया, जिसकी प्रतिष्ठा समाप्त हो गई है, "अर्थार्थी" का अर्थ है वह व्यक्ति जिसको पहले से ही ऐश्वर्य प्राप्त नहीं है, अतः जो ऐश्वर्य की कामना करता है। आत्मस्वरूप को प्राप्त करने की इच्छा वाला व्यक्ति "जिज्ञासु" है। इन तीनों से भिन्न जो आत्मा के स्वरूप को जानने वाला है तथा केवल आत्मा को ही परम प्राप्य न मानकर भगवान् को प्राप्त करने की इच्छा वाला और भगवान् को ही परम प्राप्य समझने वाला है, वह "ज्ञानी" है। अगले श्लोक में श्रीकृष्ण बतलाते हैं कि इन चारों में से उन्हें सबसे प्रिय है ज्ञानी भक्त ---

> तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
> प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।।[1]

अर्थात् उनमें नित्ययुक्त और एक परमेश्वर में अर्थात् मुझमें भक्तिवाला ज्ञानी श्रेष्ठ है, क्योंकि मैं उसका प्रिय हूँ और वह मेरा प्रिय है। ध्यातव्य है कि यहाँ भक्त के लिए भगवान ही प्रिय नहीं, बल्कि भगवान के लिए भक्त भी प्रिय है। यह प्रेम का संबंध कोई एकतरफा नहीं, दोतरफा संबंध है।

गीता में प्रतिपादित भक्ति सबके लिए सुगम है। व्यक्ति दैनंदिन जीवन में जो कुछ भी करता है, उसे वह भगवान् को अर्पित कर सकता है। पत्र, पुष्प, फल और जल जो कुछ भी पवित्र मन से अर्पित किया जाय, भगवान् उसे पाकर प्रसन्न होते हैं।[2] भक्ति के क्षेत्र में किसी

---

1. भगवद्गीता, 7.17.
2. वही, 9.26.

प्रकार के भेदभाव की स्थिति नहीं मानी जाती। भक्ति का मार्ग सभी व्यक्तियों के लिए खुला है, चाहे वे किसी भी वर्ण के या किसी भी लिंग के क्यों न हों। कृष्ण कहते हैं ----

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि परां गतिम् ।।[1]

अर्थात् मेरा आश्रय लेकर स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र अथवा जो भी कोई पापयोनि हों, वे भी परमगति को प्राप्त हो जाते हैं।

वस्तुतः यहाँ भक्ति एक क्रांतिकारी अवधारणा के रूप में सामने आती है। जिस समाज में विभिन्न वर्णों के अलग-अलग कर्तव्य निर्धारित किये गये हों, उनके पालन पर बल दिया गया हो तथा पालन न करने की स्थिति में कड़ी-से-कड़ी सजा का प्रावधान रखा गया हो--हालाँकि यह प्रावधान मुख्य रूप से शोषित, पीड़ित वर्णाधम माने जाने वाले लोगों पर ही लागू होता था--जिस समाज में पवित्र वेदों के पठन-पाठन का अधिकार सिर्फ़ उच्च वर्णों को ही प्राप्त हो तथा इस तरह की कोशिश या कार्य करने पर निम्नवर्णा लोगों को कठोरतम अमानवीय सजा दी जाती रही हो, उस समाज में यदि गीता यह घोषणा करती है कि भगवान की भक्ति के संदर्भ में वर्ण आदि के भेदभाव निरर्थक हैं और इस मामले में सभी बराबर महत्व के अधिकारी हैं, तो मानना पड़ेगा कि यह तत्कालीन संदर्भ में कोई कम महत्वपूर्ण बात नहीं रही होगी। गीता में प्रतिपादित आरंभिक वैष्णव भक्ति सिद्धांत की इस उदारता

---

1. भगवद्गीता, 9.32.

का परवर्ती वैष्णव भक्ति की अवधारणा पर व्यापक अनुकूल प्रभाव पड़ा और इससे वैष्णव धर्म का जनाधार और व्यापक बना। गीता की भक्ति की उदारता के प्रभाव के संबंध में डॉ. भण्डारकर ने लिखा है ---

"निम्न जातियों पर वासुदेव-कृष्ण के मत का प्रभाव फैलने में इस प्रवृत्ति का अवश्य हाथ रहा होगा।"[1]

गीता ने सामान्य जन की जो समस्याएँ उठायीं, वे पुराणों में और अधिक प्रबलता के साथ उठाई गईं। "ब्रह्मपुराण" में कहा गया है ---

"मेरा भक्त भले ही वह चाण्डाल हो, सत्य श्रद्धा से अपनी कामना की तुष्टि पाता है, अन्यों के विषय में कहने की क्या आवश्यकता है।"[2]

"पद्मपुराण" के अनुसार "एक श्वपाक भी वैष्णव है यदि उसके अधरों पर हरि का नाम हो।"[3]

"भागवत पुराण" का कथन है ----

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकंका यवनाः खसादयः ।
येन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः।।[4]

---

1. आर.जी.भण्डारकर, वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, पृ.34-35.
2. ब्रह्मपुराण, 9.32.
3. पद्मपुराण, 4.10.66.
4. भागवत पुराण, 2.4.18.

अर्थात उस प्रभविष्णु को नमस्कार, जिसकी शरण में पहुँचने पर किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कंक, यवन, खस आदि तथा अन्य पापी व्यक्ति शुद्ध हो जाते हैं।"

ये सिर्फ़ सैद्धांतिक वचन नहीं है, बल्कि उस युग में इनका कार्यान्वयन होता था। असल में, प्रस्तुत प्रसंग में विचारणीय सवाल यह है कि महाकाव्य काल में आकर यदि धर्म और संस्कृति के क्षेत्र में पूर्ववर्ती वैदिक साहित्य की अपेक्षा स्वर में बदलाव आता है, तो ऐसा क्यों होता है, इसके क्या कारण हैं? कहा जा चुका है कि जनता की सामाजिक, आर्थिक स्थितियों में बदलाव का कमोबेश प्रभाव धर्म और साहित्य पर पड़ता ही है। महाकाव्यों में यदि सामान्य जनता को कोई अहमियत मिली है, उसकी समस्याएँ उठाई गई हैं, उसकी बातें न सिर्फ़ सुनी गई हैं, बल्कि अनेकत्र उसके प्रति सहानुभूतिपूर्ण मानवीय आचरण का वर्णन किया गया है, तो क्या यह कोई आकस्मिक बात है या इसके पीछे कुछ ठोस कारण मौजूद रहे हैं?

कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि यज्ञ तथा बलि पर आधारित वैदिक कर्मकांडी उपासना-पद्धति की प्रतिक्रिया के रूप में वैष्णव धर्म विकसित हुआ था। बौद्ध और जैन धर्म के उदय के भी प्रायः यही कारण बताए जाते हैं। डॉ. हेमचन्द्र रायचौधरी के शब्दों में ----

"....Bhagavatism, like the religions of Mahavira and Buddha, was the expression of a natural reaction from the sacrifice-ridden religion of the Brahmanic period."[1]

---

1. हेमचन्द्र रायचौधरी : मैटेरियल्स फॉर द स्टडी ऑफ द अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैष्णव सेक्ट, भूमिका, पृ. 7.

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि इन धर्मों के विकास में प्रतिक्रियावाला कारण भी कुछ दूर तक उत्तरदायी है, लेकिन वही सब कुछ नहीं है। किसी धार्मिक मत या आंदोलन का विकास विशेष सामाजिक स्थितियों में होता है, जनता के जीवन में बदलाव से होता है। डॉ. रामशरण शर्मा के शब्दों में ----

"....the real key to the understanding of the rise of new religious movements lies in certain significant developments in the material life of the people."[1]

इस दृष्टि से देखा जाय तो पशुओं की बलि पर आधारित वैदिक उपासना-पद्धति के विरोध के सामाजिक कारणों की पहचान कठिन नहीं है। वैदिक काल के बाद का समाज वर्गों में विभक्त समाज था जहाँ धन का केन्द्रीकरण आरंभ हो चुका था। खेती तथा व्यापार का कार्य बड़े पैमाने पर शुरू हो गया था। इस काल में लोहे के आविष्कार के बाद खेती के कार्य में काफ़ी सुविधा हो गई थी। खेती के लिए सबसे आवश्यक था पशुधन। अतः पशु बलि का विरोध ऐसे समय में एकदम अनिवार्य था और स्वाभाविक भी। बौद्ध ग्रंथों में पशु बलि की निंदा इसी संदर्भ में की गई है। यह सामाजिक स्थिति कर्मकांडरहित सरल वैष्णव भक्ति के विकास के लिए अनुकूल थी। वैष्णव भक्ति की अवधारणा के अंतर्गत सभी प्राणियों के प्रति दया और ममता तथा सबके प्रति प्रेम की आवश्यकता पर बराबर बल दिया गया है।

---

1. रामशरण शर्मा : मैटेरियल कल्चर एंड सोशल फॉर्मेशन्स इन एन्शिएण्ट इंडिया, पृ. 117.

2.2.3 वैष्णव धर्म जनता का धर्म

वैष्णव भक्ति के विकास में लोक की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। वस्तुतः वैष्णव धर्म सही अर्थों में लोक धर्म है। इसके विकास में समाज के निम्नवर्गीय लोगों की सबसे महत्वपूर्ण भूमिका है। पशु बलि तथा यज्ञ की वैदिक उपासना-पद्धति कितनी खर्चीली रही होगी, कहने की आवश्यकता नहीं। वह कुछ समृद्ध लोगों के बूते की ही चीज़ थी। ब्राह्मणों को उस उपासना-पद्धति में सबसे अधिक फायदा मिलता था भारी दान-दक्षिणादि के रूप में। अतः उसे बनाये रखने में ब्राह्मण पुरोहितों का स्वार्थ था। बाकी बचा व्यापक जनसमूह, जिसे विद्यार्जन का अधिकार तक प्राप्त नहीं था, अतः बाकी धार्मिक कृत्यों में उनकी भागीदारी का सवाल ही नहीं उठता। वैदिक उपासना-पद्धति में उसकी कोई भागीदारी नहीं थी और सूक्ष्म औपनिषदिक चिंतन तक, उसके परब्रह्म तक कोई गति नहीं। उसके लिए उपनिषदों के ब्रह्म की अपेक्षा अधिक सुस्पष्ट व्यक्तित्व वाले ईश्वर की आवश्यकता थी। अतएव लोक में प्रचलित प्राचीन वैदिक देव विष्णु उसकी पूजा के विषय बन गये और धीरे-धीरे वैष्णव धर्म का स्वरूप गठित हो गया। महाकाव्यों की रचना के काल तक वैष्णव धर्म ठोस आकार ग्रहण कर चुका था। अतः यदि उस समाज में, जो डॉ. रामशरण शर्मा के अनुसार "वैश्य-शूद्र आधारित समाज"[1] था, लिखे गए महाकाव्यों में वैश्य और शूद्र वर्ण के लोगों के प्रति बदला हुआ दृष्टिकोण मिलता है, तो यह एक स्वाभाविक बात मानी जानी चाहिए। लोक केदबाव से साहित्य और संस्कृति का क्षेत्र अछूता कैसे रह सकता है? वाल्मीकि ने "रामायण" पढ़ने में शूद्रों का निषेध नहीं किया। उन्होंने लिखा---"जनश्च शूद्रोपि महत्वमीयात्" अर्थात् शूद्र भी इसे पढ़कर बड़े बन सकते हैं। यही वह दबाव है जिसके कारण "महाभारत" को शूद्रों के लिए "वेद" माना गया है और इस प्रकार भक्ति के क्षेत्र में वर्णादि के भेदभाव को

---

1. रामशरण शर्मा: मैटेरियल कल्चर एण्ड सोशल फार्मेशन्स इन एन्शिएण्ट इंडिया, पृ.17

निरर्थक माना गया है। वैष्णव भक्ति का यह लोकतांत्रिक स्वरूप विकास की आरंभिक अवस्था से ही बना रहा है। रिचर्ड लैनॉय के शब्दों में ---

" From the earliest phase bhakti has always been regarded as a way to salvation open to all castes, including sudras and women."[1]

यह बात प्राय: सभी इतिहासकार स्वीकार करते हैं कि वैष्णव धर्म अपेक्षाकृत उदार धर्म था, यह लोक से उपजा हुआ धर्म था और इसने निम्न वर्णों के प्रति न सिर्फ सहिष्णुता दिखायी, बल्कि उन्हें धार्मिक अधिकार भी प्रदान किये। डॉ. रामशरण शर्मा ने लिखा है ----

"वैष्णव भावना के उदय से शूद्रों के प्रति ब्राह्मणों के दृष्टिकोण में उदारता आई और उन्हें धर्म के क्षेत्र में सीमित ही सही परंतु सुनिश्चित अधिकार मिले।"[2]

डॉ. शर्मा के इस मत से असहमति की गुंजाइश नहीं है। वैष्णव धर्म में शूद्रों के प्रति दिखाई गई उदारता तथा धार्मिक क्षेत्र में उन्हें प्राप्त अधिकार तत्कालीन समाज में उनकी स्थिति का प्रतिबिंब है। किन्तु, उन्हें प्राप्त अधिकार कैसे थे? सीमित। यह महत्वपूर्ण संकेत है। गीता में भक्ति की दृष्टि से विभिन्न वर्णों में कोई फ़र्क नहीं बताया गया है फिर भी यह बात रेखांकित की गई है कि दूसरे के धर्म से अपना गुणरहित धर्म भी श्रेष्ठ है। अपने धर्म में मरना भी श्रेष्ठ है और दूसरे का धर्म भयकारक है, अत: त्याज्य है--

---

1. रिचर्ड लैनॉय : दि स्पीकिंग ट्री, पृ. 206.
2. रामशरण शर्मा : शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ. 221.

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।[1]

कहने की आवश्यकता नहीं कि यहाँ वस्तुतः वर्ण धर्म या वर्ण कर्तव्य के पालन पर बल दिया गया है। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था आदिम, कबीली समाज से आगे बढ़ा हुआ कदम था। वर्ण-व्यवस्था के आरंभिक चरण में सभी वर्णों के लिए अलग-अलग कर्तव्य निर्धारित किये गये थे। ध्यातव्य है कि आरंभ में वर्ण गुण और कर्म के अनुसार निश्चित होते थे, जैसा कि गीता में श्रीकृष्ण के इस कथन से स्पष्ट होता है ---

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।[2]

उस काल में समाज को व्यवस्थित बनाये रखने के लिए यह व्यवस्था आवश्यक थी। समस्या तब आरंभ होती है जब वर्ण का निर्धारण गुण और कर्म नहीं, जन्म के आधार पर होने लगता है और तब स्वभावतः उसका विरोध होता है, उसे शक्तिशाली प्रतिरोध का सामना करना पड़ता है। गीता में इस व्यवस्था को धार्मिक सिद्धांतों के आधार पर कायम रखने का प्रयास दिखाई पड़ता है, जो वर्ण व्यवस्था को ईश्वर द्वारा निर्मित बताने तथा वर्ण धर्म के पालन पर दिये गए बल के रूप में सामने आता है। यहाँ तक कि भक्ति और निष्ठा को नई सामाजिक व्यवस्था के सुचारु रूप से संचालन के लिए आवश्यक तत्व माना गया है। इसी संदर्भ में डॉ. सुवीरा जायसवाल ने लिखा है ---

"गीता में उपासना और श्रद्धा पर जो विशेष बल दिया गया है, वह उस युग की आवश्यकताओं के सर्वथा अनुरूप है।"[3]

हालाँकि इस तरह के सामान्यीकरण के खतरे हैं, जिन्हें नज़रअंदाज नहीं किया जाना चाहिए।

---

1. भगवद्गीता, 3.35.
2. वही, 4.13.
3. सुवीरा जायसवाल : वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास, पृ. 118.

2.2.4 पौराणिक साहित्य और वैष्णव भक्ति

वैष्णव धर्म, जो वास्तव में लोक धर्म था, महाकाव्यों के काल तक पूरी तरह प्रतिष्ठित हो गया था। यहाँ आकर उसके मुख्य सिद्धांतों का प्रतिपादन हो जाता है और इस प्रकार उसे सुदृढ़ आधार मिल जाता है। जैसी कि चर्चा की जा चुकी है, मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद देश में एक तरह के राजनीतिक विघटन का दौर शुरू हो गया और इसी काल में विदेशियों के आक्रमण आरंभ हो गए। राजनीतिक अस्थिरता के इस दौर में किसी केन्द्रीकृत सत्ता की स्थापना संभव न थी। यह दौर चौथी शताब्दी के आरंभ में गुप्त साम्राज्य की स्थापना तक कायम रहा। गुप्त काल की आर्थिक, सामाजिक स्थितियों की चर्चा की जा चुकी है कि किस प्रकार इसमें व्यापार आदि का अभूतपूर्व विकास हुआ और उसका प्रभाव सामाजिक ढाँचे के भीतर बदलाव की प्रक्रिया में तेज़ी आदि के रूप में सामने आया। प्रस्तुत प्रसंग में विचारणीय यह है कि इस काल में वैष्णव धर्म की क्या स्थिति थी?

डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है -----

"व्यापार की प्रगति से पुराने सामाजिक संबंध शिथिल होते हैं, सामाजिक संबंधों की शिथिलता से भक्ति साहित्य का सीधा संबंध है।"[1]

यह मत काफ़ी हद तक सही है। गुप्तकाल में रचे गए साहित्य से इसकी पुष्टि होती है। अधिकांश पुराणों और स्मृति ग्रंथों का संपादन इसी काल में हुआ था। डॉ. रामशरण शर्मा के अनुसार गुप्तकाल के "स्मृति ग्रंथों की

---

1. रामविलास शर्मा: हिन्दी जाति का साहित्य, पृ. 27.

एक बात विशिष्टता है वैष्णव मत की ओर झुकाव। यह विशेष रूप से विष्णु स्मृति, बृहस्पति स्मृति, विष्णु पुराण और मत्स्य पुराण में लक्षित है। संभवतया कृष्ण की उपासना और वैष्णव मत के प्रभाव के कारण ही विचार में वह उदारता आई है जो महागाथा काव्य महाभारत में व्यापक रूप से प्रतिफलित होती है।"[1]

प्रारंभ में वाणिज्य कर्म शूद्रों के लिए निषिद्ध था। यह वैश्यों का कर्म था। लेकिन, गुप्तकाल में वाणिज्य को भी शूद्रों का कर्तव्य माना जाने लगा। "विष्णु पुराण" में कहा गया है कि शूद्र क्रय-विक्रय और व्यापारिक लाभ से जीवन-निर्वाह कर सकता है ---

क्रयविक्रयजैर्वापि धनैः कारूद्भवेन वा ।[2]

गुप्तकाल में वैष्णव भक्ति शासक वर्ग के बीच भी लोकप्रिय हो गई। गुप्त सम्राटों तथा उनके अधीनस्थ राजाओं के सिक्कों पर प्रायः वैष्णव देवताओं के चित्र एवं उनके चिह्न मिलते हैं। गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त की धार्मिक निष्ठा का पता उसके सिक्कों पर अंकित गरूड़ध्वज के चिह्न से भी चलता है। गुप्तकाल तक वैष्णवधर्म देश के सुदूर हिस्सों तक फैल गया था। उस काल के शिलालेखों तथा मूर्तियों से यह बात प्रमाणित होती है। गुप्त सम्राट अपने को "परम भागवत" कहते हैं। डॉ. हेमचन्द्र रायचौधरी के शब्दों में:

---

1. रामशरण शर्मा; शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ. 221.
2. विष्णुपुराण, 3.8.32.

"The great Gupta sovereigns of Magadha describe themselves as "paramabhagavatas",and were unquestionably great champions of the religion of vasudeva. With the rise of their power Bhagavatism, whichwas now synonymous with vaishnavism, naturally came to the forefront and spread to the remotest corners of India. The general prevalence of the religion throughout the Gupta Empire is attested by numerous inscriptions and sculptures."[1]

स्पष्ट है कि गुप्तकाल में वैष्णव धर्म सबसे प्रभुत्वशाली धर्म था। जैसा कि हम देख चुके हैं, वैष्णव धर्म जनता के बीच पैदा हुआ था और बाद में इसके व्यापक जनाधार को देखकर ब्राह्मणों ने इसे अपनाया और इसे अपने ढंग से — निश्चय ही अपने वर्गीय हितों को ध्यान में रखकर --- इसे शास्त्रीय जामा पहनाया तथा इसके सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। इस प्रक्रिया में स्वाभाविक है कि वैष्णव भक्ति के कुछ प्रगतिशील तत्व झड़ गए और उनके स्थान पर उसमें कुछ रूढ़िवादी विचार प्रवेश कर गए। विद्वानों ने इस प्रक्रिया को "ब्राह्मणीकरण" की संज्ञा दी है। इससे हुआ यह है कि वैष्णव धर्म समाज के सभी वर्गों में समान रूप से लोकप्रिय हो गया। सम्राट से लेकर भिखारी तक सब इससे जुड़ते चले गए। इतना ही नहीं अनेकानेक जनजातियों के देवताओं को भी इसने आत्मसात् कर लिया और इस प्रकार उन्हें भी अपने व्यापक दायरे में समेट लिया। डॉ. सुवीरा जायसवाल का

---

1. हेमचन्द्ररायचौधरी : मैटेरियल्स फॉर द स्टडी ऑफ द अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैष्णव सेक्ट, पृ. 101.

मत है कि "गुप्तकाल में गुप्त नरेशों का संरक्षण, पुरोहित वर्ग का समर्थन तथा संहतिमूलक सहिष्णु रूप का अपनाना, इन तीन बातों ने मिलकर वैष्णव धर्म की लोकप्रियता एवं प्रतिष्ठा में अभूतपूर्व वृद्धि की।"[1]

"विष्णु पुराण" में "विष्णु" नाम की व्याख्या इस प्रकार की गई है ---

यस्माद्विष्टमिदं विश्वं तस्य शक्त्या महात्मनः ।
तस्मात्स प्रोच्यते विष्णुर्विशेर्धातोः प्रवेशनात् ।।[2]

अर्थात् यह संपूर्ण विश्व उन परमात्मा की ही शक्ति से व्याप्त है, अतः वे विष्णु कहलाते हैं, क्योंकि "विश्" धातु का अर्थ प्रवेश करना है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि "विष्णु" का यह अर्थ गुप्तकाल में अपनी सार्थकता प्राप्त करता है जब वैष्णव धर्म न केवल भारत के कोने-कोने में बल्कि कंबोडिया, मलाया, जावा और बाली के भारतीय उपनिवेशों तक में फैल गया था। इस युग में अनेक वैष्णव पुराणों की रचना हुई, यहाँ तक कि एक-एक अवतार को केन्द्र में रखकर एक-एक पुराण रचा गया। वैष्णव भक्ति के प्रचार-प्रसार में उनकी भूमिका से इनकार नहीं किया जा सकता है। वस्तुतः यह स्वीकार करने में कोई हर्ज नहीं कि "गुप्त साम्राज्य के युग में वैष्णव धर्म, अपने महत्व एवं प्रचार की दृष्टि से स्वर्णयुग में प्रवेश कर गया।[3]

---

1. सुवीरा जायसवाल : वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास, पृ. 178.
2. विष्णु पुराण, 3.1.45.
3. परशुराम चतुर्वेदी : वैष्णव धर्म, पृ. 58.

2.2.5 आलवार और वैष्णव भक्ति

गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद वैष्णव धर्म का वह उत्कर्ष नहीं रह गया। परवर्ती राजा गैर वैष्णव संप्रदायों के समर्थक थे। किंतु, इसका अर्थ यह नहीं कि वहाँ वैष्णव धर्म का प्रचलन नहीं था। वह अब भी प्रचलित था, किंतु फ़र्क इतना था कि उसमें पहले वाली कांति नहीं थी, पहले वाला उत्कर्ष नहीं था। डॉ. रायचौधरी के शब्दों में ----

"With the fall of the Guptas Bhagavatism lost its pre eminence in Northern India. The most powerful sovereigns of the next period. e.g., Mihiragula, yasodharman and Harsha, were adherents of non-Bhagavata creeds. But there is reason to believe that though hurled from its eminent position, it was far from being extinct in Northern India."[1]

लेकिन, यह एक स्वीकृत तथ्य है कि इस काल में भागवत धर्म अर्थात् वैष्णव धर्म का मुख्य केन्द्र मध्य भारत नहीं रह गया। अब तमिलनाडु उसका मुख्य केन्द्र बन गया। दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म ईसवी सन् से पहले की शताब्दियों में ही पहुँच गया था। वहाँ प्राप्त प्रथम शताब्दी ई.पू. के शिलालेखों से यह प्रमाणित है।[2] किंतु "आलवार" संज्ञा से विख्यात वैष्णव भक्त कवियों का उदय बाद में हुआ। इन आलवारों की संख्या बारह मानी जाती है, जिनमें मुख्य हैं --- तिरुमंगै आलवार, कुलशेखर आलवार, तिरुप्पान आलवार,

---

1. हेमचन्द्र रायचौधरी : मैटेरियल्स फॉर द स्टडी ऑफ द अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैष्णव सेक्ट, पृ. 107.
2. वही : पृ. 108.

पेरियालुवार, नम्मालवार आदि। इनमें नम्मालवार सबसे लोकप्रिय थे।[1]

"आलवार उसे कहते हैं जिसे ईश्वर का सहज साक्षात ज्ञान हो और जो ईश्वर के ध्यान में डूबा रहता है।"[2] आलवारों के काल क्रम के बारे में इतिहासकारों में भारी मतभेद हैं। यह मतभेद न केवल उनके कालक्रम के बारे में हैं, बल्कि उनकी तिथि तथा पहले और अंतिम तथा मध्य आलवार कौन थे, इस संबंध में भी है। फिर भी मोटे तौर पर इनका काल छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी के बीच तक माना जाता है। इन वैष्णव संतों के भक्ति गीतों का संकलन "नालायिरप्रबन्धम्" अथवा "दिव्यप्रबन्धम्" कहलाता है। वे विष्णु को परम तत्त्व मानते थे तथा उनकी सहज भक्ति को सर्वाधिक महत्त्व देते थे। वे कर्मकांडों की निंदा करते थे। उनके गीत विष्णु के उत्कृष्ट एवं अभिन्न प्रेम से भरे हुए हैं।

आलवारों की भक्ति प्रतापी संस्कृत भाषा और उसमें रचित ब्राह्मणवादी वेदों तथा उपनिषदों के प्रतिकार में स्वरूप ग्रहण करती है। ए.के. रामानुजन के शब्दों में ---

"The emperial presence of sanskrit, with its brahmanical (Smrti) texts of the vedas and the Upanisads, was a presence against which bhakti in Tamil defines itself."[3]

स्पष्ट है कि तमिल प्रदेश में आलवारों के नेतृत्व में वैष्णव आंदोलन न केवल ब्राह्मणवादी दायरे के बाहर आरंभ हुआ, बल्कि उसके विरोध में, उसकी

---

1. के. दामोदरन : पृ. 255.
2. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त : भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-3, पृ. 63.
3. ए.के. रामानुजन : हिम्स फॉर द ड्राउनिंग : पोयम्स फॉर विष्णु, पृ. 109.

प्रतिक्रिया में आरंभ हुआ। आलवार संतों ने इस बात पर बल दिया कि ईश्वर सबके लिए सुगम है, उसके लिए जाति-पाँति की कोई बाधा नहीं है। यह उस आंदोलन के जनतांत्रिक चरित्र का प्रमाण है। प्रायः सभी आलवार संत निम्न वर्ग से आए थे, जनसामान्य के बीच से आए थे। उनमें कई जातियों के लोग थे। आण्डाल नामक महिला भी आलवारों में शामिल थी। आलवार संत मेहनतकश वर्गों के बीच से आए व्यक्ति थे, जिनका संबंध खेती तथा दस्तकारी से था। इस भक्ति साहित्य में ब्राह्मणों की कोई भूमिका नहीं थी। इस संबंध में रिचर्ड लैनॉय ने लिखा है ---

"The greater part of bhakti literature was written not by Brahmans but by members of the artisan and cultivator castes, including women."[1]

ध्यान देने की बात है कि यह आंदोलन संस्कृत नहीं, लोकभाषा तमिल में प्रकट होता है। लोक से उत्पन्न आंदोलन लोकभाषा में ही सामने आता है, आ सकता है और तभी उसका चरित्र जनतांत्रिक हो सकता है। यह भी एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि समग्र भारतीय साहित्य में लोकभाषा के सहारे उभरनेवाला आलवार संतों का यह वैष्णव भक्ति साहित्य अपनी एक अहमियत रखता है और परवर्ती काल में विभिन्न लोक भाषाओं में उभरने वाले भक्ति आंदोलन तथा फलस्वरूप रचे गए श्रेष्ठ भक्ति साहित्य का मार्ग-दर्शक है।

डॉ. दासगुप्त के अनुसार---- "आलवारों के गीत कृष्ण के पौराणिक जीवन के अनेक प्रगाढ़ प्रसंगों का परिचय देते हैं। विविध भाव जो उन्हें उत्तेजित करते थे वे मुख्यतः वात्सल्य, मैत्री, सख्य, दास्य तथा दाम्पत्य भाव थे।.....कुछ आलवारों में, जैसा कि नाम्मालवार और तिरुमंगयालवार

---

1. रिचर्ड लैनॉय : दि स्पीकिंग ट्री, पृ. 207.

में पाते हैं, उपरोक्त अंतिम भाव अर्थात् शृंगार भाव को ही अधिक महत्व दिया गया है।"[1]

परवर्ती भक्ति साहित्य में इन भावों का और अधिक विकास होता है, इन्हें केन्द्र में रखकर अनेक श्रेष्ठ रचनाएँ लिखी जाती हैं। आलवार कवियों के गीतों में ईश्वर का प्रायः एक प्रेमी के रूप में चित्रण होता था और भक्त का चित्रण एक ऐसी कन्या के रूप में होता था, जो अपने प्रेमी के लिए बेचैन रहती थी। अपने एक गीत में नम्मालवार कहते हैं ---

"बेचैन होकर अपने द्रवित चित्त को लिए हुए
दौड़-धूप करती-करती
पुनः पुनः आँसू बहाती और गाती तथा
हे नरसिंह, तेरा नाम पुकारती,
तुझे सर्वत्र खोजती,
मैं सुंदर कन्या अब मुरझा रही हूँ।"[2]

आलवारों के गीतों में ऐसा वर्णन मिलता है कि कृष्ण की पौराणिक कथा का प्रभाव भक्तों पर इतना हो जाय कि भक्त कृष्ण के प्रेमी-जनों के भाव से परिपूर्ण होकर उनके ही जैसे बन जायँ। डॉ. दासगुप्त इसे "भक्ति इतिहास में एक नवीन बात" की संज्ञा देते हुए लिखते हैं ---

"आलवारों ही में हम सर्वप्रथम इस भाव को पाते हैं जो आगे जाकर गौड़ीय संप्रदाय के भक्तों के जीवन और उनकी रचना और विशेषकर श्री चैतन्य के जीवन में उत्कट रूप में पहुँचा।"[3]

---

1. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त : भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-3, पृ. 76-77.
2. के. दामोदरन : भारतीय चिंतन परंपरा में उद्धृत, पृ. 255-256.
3. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त : भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-3, पृ. 75.

कहने की आवश्यकता नहीं कि गौड़ीय संप्रदाय की रचनाओं ही नहीं, वरन् मध्यकालीन कृष्णभक्ति हिन्दी साहित्य में यह भाव कमोबेश मिलता है। आलवारों की रचनाओं में भगवान् के विभिन्न अवतारों का, उनके कार्यकलापों का चित्रण मिलता है, हालाँकि प्रमुखता प्राप्त है कृष्णावतार को।

सामान्य जन के बीच से उभरे आलवार संतों में अपार साहस था। एकमात्र ईश्वर को परम सत्य मानने और उनसे गहरा प्रेम करने वाले इन संतों की दृष्टि में सांसारिक "प्रभुओं" की कोई कीमत नहीं थी। उन्होंने उनकी कोई परवाह नहीं की, बल्कि प्रायः उनका विरोध ही किया और इस प्रकार अपने युग का विरोध किया। दूसरी ओर उन्होंने अपनी रचनाओं में युग की दशा और कष्ट को वाणी भी दी। ए.क. रामानुजन ने आलवार संतों के व्यक्तित्व और उनकी कविता के बारे में लिखा है ----

" The Saints were not flunkies; they often defied the kings and the times. Yet, in their religious idiom, they showed "the form and pressure" of the age."[1]

भक्त कवि, यदि वह सही अर्थों में भक्त कवि है, तो ऐसा ही होता है। हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल में ऐसे वैष्णव भक्त कवियों की कोई कमी नहीं। ऐसे ही कवि जनता के गले के हार बनते हैं। आकस्मिक नहीं कि आज भी तमिलनाडु की जनता "दिव्य प्रबन्धम्" को महान् पवित्र ग्रंथ मानती और उसे वेदों की समकक्षता प्रदान करती है।

---

1. ए.के. रामानुजन : हिम्स फॉर द ड्राउनिंग : पोएम्स फॉर विष्णु, पृ. 109

इस प्रकार, छठी से नवीं शताब्दी के बीच के काल में दक्षिण भारत में आलवार संतों की रचनाओं के द्वारा वैष्णव भक्ति की अभिव्यक्ति हो रही थी और फलतः वैष्णव धर्म अधिकाधिक व्यापक बन रहा था। उधर उत्तर तथा मध्य भारत में, जैसी कि चर्चा की जा चुकी है, गुप्तकाल के बाद वैष्णव धर्म का वह उत्कर्ष नहीं रहा था, लेकिन वह लोक में अब भी अपनी जड़ें जमाए हुए था। उसका प्रचलन देश के इस कोने से लेकर उस कोने तक अब भी था। वैष्णव धर्म ऐसा धर्म था जिसकी जड़ें सामाजिक व्यवस्था में थीं। विशेषकर निम्न वर्ग के लोगों में अब भी वैष्णव धर्म सबसे अधिक लोकप्रिय था।

"भागवत पुराण" की रचना का काल मोटे तौर पर नवीं-दसवीं शताब्दी के आसपास माना जाता है। यहाँ आकर वैष्णव भक्ति का सिद्धान्त अपने चरम पर पहुँचता है। भागवत में वैष्णव भक्ति को अत्यंत ठोस आधार मिलता है, जो कई अर्थों में "गीता" की भक्ति से भिन्न है। यथाप्रसंग उसका विवेचन किया जाएगा। यहाँ सिर्फ इतना निवेदन अभीष्ट है कि जिस युग में "भागवत पुराण" रचा गया हो, क्षेमेन्द्र का "दशावतार-चरित" रचा गया हो और साथ-ही-साथ भक्ति के सैद्धांतिक पक्ष पर एक के बाद एक ग्रंथ रचे गये हों, माना जाना चाहिए कि उस युग के समाज में वैष्णव भक्ति का प्रचलन व्यापक तौर पर रहा होगा। इतिहास इस बात का साक्षी है कि इस काल में बड़ी संख्या में वैष्णव मंदिरों का निर्माण किया जाता रहा तथा जनता में विष्णु के विभिन्न अवतार काफ़ी लोकप्रिय रहे। 600 ई. और 1200 ई. के बीच के बीच विष्णु के अवतारों की मूर्तियाँ सामान्य बात थीं। इतिहासकार डॉ.बी.एन. शर्मा लिखते हैं ----

"The Visnu images with the miniatures of all the ten incarnations were also common during this period."[1]

---

1. बी.एन.शर्मा : सोशल लाइफ इन नॉर्दर्न इंडिया{600ई. 1200ई.},पृ. 147.

स्पष्ट है कि इस काल में भारतीय समाज में वैष्णव धर्म व्यापक रूप में प्रचलित था। उक्त काल के आर्थिक, सामाजिक परिवेश के विवेचन के क्रम में इस बात की चर्चा की जा चुकी है कि किस प्रकार हिन्दू समाज से बाहर पड़ी जनजातियों को, अछूतों को हिन्दू धर्म के घेरे में शामिल किया गया और इस प्रक्रिया में वैष्णव धर्म की क्या भूमिका रही। डॉ.बी.एन.शर्मा इस काल के भारतीय समाज में उदारता और विचारों की पूर्ण स्वतंत्रता लक्षित करते हैं। उनके अनुसार ---

" The fullest freedom of thought at first sight even a sort of religioMs anarchy, therefore,characterises the period of the survey. There is a wonderful multiplicity of düties and sects, a sperit of toleration, a type of religious culture which combihes in itself the highest philosophical thought with lower elements drawn from various stratua of life..."[1]

2.3 अवतारवाद वैष्णव धर्म की महत्वपूर्ण विशेषता

अवतार का सिद्धांत वैष्णव धर्म का सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धांत है। यह वैष्णव धर्म की धुरी है। ईश्वर के अवतार की अवधारणा के अभाव में सही अर्थों में भक्ति की अवधारणा का विकास नहीं हो सकता। दोनों एक दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े हैं। डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन के अनुसार:

"सर्वोपरि ब्रह्म के प्रति भक्ति एक शरीरधारी ईश्वर को मानने से ही संभव है, जो एक मूर्तिमान व्यक्ति है और आनंद एवं सौंदर्य से

---

1. बी.एन.शर्मा : सोशल लाइफ इन नॉर्दर्न इंडिया{600ई.-1200ई.} पृ.122.

पूर्ण है। हम अपने मनों की छाया या आभास से प्रेम नहीं कर सकते। मूर्तरूप ही सहचारिभाव अथवा मैत्री या परस्पर के भाव को उपलब्धित करता है। व्यक्तिगत सहायक ही व्यक्तिगत आवश्यकता की पूर्ति में सहायक हो सकता है।"[1]

"हम अपने मनों की छाया या आभास से प्रेम नहीं कर सकते"--- यह वाक्य अत्यंत महत्वपूर्ण है। प्रेम के लिए कोई मूर्त आलंबन चाहिए। स्पष्ट है कि निर्गुण ब्रह्म की अवधारणा में प्रेम की कोई गुंजाइश नहीं, अतः भक्ति की भी गुंजाइश नहीं है। यही कारण है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल का मत है कि भारत में "निर्गुण" या "अव्यक्त" को लेकर भक्ति मार्ग नहीं चला है, नहीं चल सकता है। उनके शब्दों में ---

"भक्तिमार्ग अपने विशुद्ध रूप में धर्म भावना का भावात्मक या रसात्मक विकास है। यह विकास उपास्य ईश्वर के स्वरूप की प्रतिष्ठा के उपरांत ही होता है।"[2]

अवतार उपास्य ईश्वर के रूप की कल्पना है। यह भक्ति का मूल आधार है। माना जाना चाहिए कि भारतीय समाज और साहित्य में अवतार और भक्ति की अवधारणा का विकास साथ-साथ हुआ है। दोनों की अभिन्नता संदेह से परे है। जॉन ए. शेरॉक के शब्दों में ---

"Apart from the incarnation, true, living bhakti is émpossible."[3]

---

1. सर्वपल्ली राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन, भाग-1, पृ.458.
2. रामचंद्र शुक्ल : सूरदास, पृ.30.
3. जॉन ए. शेरॉक : हिन्दुइज़्म एन्शिएण्ट एण्ड मॉडर्न, पृ.47.

अर्थात् अवतार से भिन्न भक्ति-सच्ची और जीवंत भक्ति-संभव नहीं है। इस प्रकार, दोनों का तादात्म्य स्पष्ट है। ध्यातव्य है कि "भगवद्गीता" न सिर्फ भक्ति सिद्धांत बल्कि अवतार के सिद्धांत का भी व्यवस्थित रूप से प्रतिपादन करने वाला प्रथम ग्रंथ है। यह कोई आकस्मिक बात नहीं। इससे भी उपर्युक्त मत की पुष्टि होती है। डॉ. हेमचन्द्र रायचौधरी अवतार के सिद्धांत को न केवल वैष्णव धर्म का केन्द्रीय सिद्धांत मानते हैं, बल्कि वैष्णव धर्म की उत्पत्ति का श्रेय भी उसे प्रदान करते हैं, उसे वैष्णव धर्म का जन्मदाता मानते हैं।[1] और अगर इन्हीं कारणों से मैक्स वेबर वैष्णव धर्म को "अवतारों का धर्म"[2] मानते हैं, तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं।

भक्ति के विवेचन के प्रसंग में इस बात की चर्चा की जा चुकी है कि वेदों में भक्ति की अवधारणा नहीं मिलती है। उसी प्रकार वहाँ अवतार की अवधारणा भी नहीं है, लेकिन विष्णु आदि देवों से संबद्ध ऐसे कई स्थल हैं, ऐसे कई संकेत हैं, जिनमें इस अवधारणा के बीज खोजे जा सकते हैं। स्वयं विष्णु एक महत्वपूर्ण वैदिक देवता हैं, जिनके इर्द-गिर्द परवर्ती काल में अवतार की अवधारणा विकसित होती है। विष्णु के अवतार कृष्ण गीता में अर्जुन से कहते हैं ---

> यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
> तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ।।
> अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
> विष्टभ्याहमिदंकृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत ।।[3]

---

1. हेमचन्द्र रायचौधरी : मैटेरियल्स फॉर द स्टडी ऑफ द अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैष्णव सेक्ट, भूमिका, पृ. 7.
2. मैक्स वेबर : दि रिलीजन ऑफ इंडिया, पृ. 306.
3. श्रीमद्भगवद्गीता, 11.41-42.

अर्थात् हे अर्जुन! जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त एवं कांतियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेज के अंश से ही उत्पन्न हुई जान। अथवा हे अर्जुन! इसे बहुत जानने से तेरा क्या प्रयोजन है? इस संपूर्ण जगत् को मैं अपने एक अंशसे धारण करके स्थित हूँ।

यह संसार ईश्वर का एक अंश मात्र है। बाकी तीन अंश कहाँ हैं? इस प्रश्न का उत्तर "ऋग्वेद" के "पुरुष सूक्त" में मिलता है, जहाँ कहा गया है कि इस जगत् से कहीं अधिक सामर्थ्यवान है वह व्यापक प्रभु। समस्त उत्पन्न पदार्थ उसके एक चरणवत् हैं। उसके तीन चरण प्रकाशमय स्वरूप में अविनाशी हैं ---

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।।[1]

गीता में प्रतिपादित ईश्वरवाद या अवतारवाद का बीज उक्त स्तोत्र में ढूँढा जा सकता है। अवतार का अर्थ ही है नीचे उतरना। ईश्वर का एक अंश नीचे उतरता है, वही संसार है। "ऋग्वेद" का उपर्युक्त स्तोत्र थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ "अथर्व-वेद"[2] में भी मिलता है। पुनः थोड़े परिष्कृत रूप में यही बात "कठोपनिषद्" में भी कही गई है। यहाँ ब्रह्म की उपमा अश्वत्थ वृक्ष से दी गई है। उसके अनुसार ---

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।[3]

अर्थात् जिसका मूल ऊपर की ओर तथा शाखाएँ नीचे की ओर हैं, ऐसा यह अश्वत्थ-वृक्ष सनातन है। यह विचार गीता में भी मिलता है ---

---

1. ऋग्वेद, 10.90.3.
2. अथर्व-वेद, 19.6.2.
3. कठोपनिषद्, 6.1.

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।[1]

अर्थात् ऊपर जड़वाले और नीचे शाखाओंवाले अश्वत्थ को अव्यय कहते हैं।

अवतार की अवधारणा के अंतर्गत अन्य रूप धारण करना सामान्य बात है। ईश्वर अपने को विभिन्न रूपों में प्रकट करते हैं, मनचाहा रूप ग्रहण करते हैं, कर सकते हैं। वैदिक देवता विष्णु में भी यह क्षमता मिलती है। विष्णु युद्ध में दूसरा रूप धारण करते हैं।[2] वहाँ इन्द्र भी अनेक रूपों में विचरण करते हैं। किंतु, अवतार का सिद्धांत किसी देवता के द्वारा विभिन्न रूप धारण किया जाना मात्र ही नहीं है। यह उसका एक लक्षण मात्र है। इस प्रकार, वैदिक साहित्य में कई प्रसंग मिलते हैं, जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि अवतार की अवधारणा के बीज वहाँ उपस्थित हैं। ध्यातव्य है कि वह बीज रूप में ही है और धर्म तथा संस्कृति के इतिहास में यह एक सामान्य बात है, जहाँ किसी सिद्धांत विशेष के मूल रूप की तलाश पूर्ववर्ती ग्रंथों में की जाती है और बहुत हाथ-पाँव मारने पर कुछ हाथ लग ही जाता है। अवतारवाद के साथ भी यही स्थिति है। वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र जो उल्लेख हैं, उनसे इस अवधारणा का संबंध जोड़ा जा सकता है, लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि यह अवधारणा वहाँ मिलती है। वस्तुतः एक विशेष अवधारणा या सिद्धांत के रूप में अवतारवाद का विकास परवर्ती काल में होता है, वैदिकोत्तर साहित्य में होता है। गीता में, जो "महाभारत" का अभिन्न अंश है, अवतार के सिद्धांत का व्यवस्थित रूप में प्रतिपादन हुआ है।

2.4 "भगवद्गीता" : अवतारवाद का घोषणापत्र

"भगवद्गीता" अवतारवाद का घोषणापत्र है। इस सिद्धांत

---

1. श्रीमद्भगवद्गीता, 15.1.

2. ऋग्वेद, 7.100.6.

का सबसे प्राथमिक विवेचन इसी ग्रंथ में हुआ है। डॉ. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त अवतार के सिद्धांत को धार्मिक दर्शन तथा धर्म के अधिकांश सिद्धांतों की आधारशिला मानते हैं। उनका मत है कि इसका सबसे आरंभिक विवेचन "गीता" में हुआ है। उनके शब्दों में ——

" This doctrine of incarnation of God.... forms the corner-stone of most systems of relegious philosophy and religion and the Gita is probably the earliest work avilable to us in which this doctrine is found."[1]

स्पष्ट है कि अवतारवाद के प्रतिपादन की दृष्टि से गीता अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

गोता में अवतारवाद का सबसे गहरा निरूपण मिलता है। अवतार की अवधारणा के विकास के संबंध में पिछले अध्याय में विचार किया जा चुका है। प्रस्तुत प्रसंग में विचारणीय यह है कि अवतार के लिए जो सबसे अनिवार्य चीज़ है, वह है ईश्वर और मनुष्य के बीच का संबंध। इस संबंध के अभाव में इसकी कल्पना नहीं की जा सकती है। ईश्वर और मनुष्य के बीच गहरे संबंध की स्थिति पहली बार गीता में ही मिलती है और इसीलिए अवतार का सिद्धांत भी यहीं ठोस रूप ग्रहण करता है। असल में, प्रेम एक ऐसी भावना है जिसका आलंबन मूर्त होता है। प्रेम अपने आलंबन को प्रत्यक्ष देखना चाहता है। और भक्ति ईश्वर के प्रति प्रेम ही का दूसरा नाम है। "शाण्डिल्य सूत्र" में

---

1. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त : भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-2, पृ. 525.

भक्ति को परिभाषित करते हुए कहा गया है ---

सा परानुरक्तिरीश्वरे ।[1]

अर्थात् ईश्वर में परम अनुरक्ति ही भक्ति है। अनुरक्ति का अर्थ है वह आसक्ति जो भगवान् के स्वरूप और उसकी महिमा के ज्ञान के पश्चात् आती है। भक्ति की यह सही व्याख्या है। बिना स्वरूप के यह संभव नहीं। ईश्वर के प्रति जो प्रेम होता है, वह मानवीय प्रेम है। प्रेम एक ऐसा भाव है जो व्यक्ति को व्यक्ति से, व्यक्ति को समाज से और ईश्वर से जोड़ता है। सारे गहरे संबंधों का मूल है प्रेम। अवतार की अवधारणा के पीछे भी प्रेम सक्रिय है;

उपनिषदों में ईश्वर तथा मनुष्य के बीच किसी प्रकार के संबंध की स्थिति स्वीकार नहीं की गई है। "तत्त्वमसि" की घोषणा के बाद उसकी गुंजाइश स्वयं समाप्त हो जाती है। इस अवधारणा से दार्शनिक का काम तो चल जाएगा, सामान्य जनता का काम नहीं चलेगा। दर्शन का काम चल जाएगा, धर्म और धार्मिक साहित्य का नहीं चलेगा। यहाँ दोनों के बीच ठोस संबंध की आवश्यकता होती है। अवतार की अवधारणा उसी का परिणाम है। "श्वेताश्वतर उपनिषद" के जिस अंतिम श्लोक में "भक्ति" शब्द का प्रचलित अर्थ में प्रयोग मिलता है, उसी में "देव" का भी प्रयोग है और "भक्ति" शब्द उसी संदर्भ में सार्थकता प्राप्त करता है। श्लोक पीछे उद्धृत किया जा चुका है। समाज निरपेक्ष निर्गुण, निराकार ब्रह्म की धारणा की प्रतिक्रिया में सगुण, साकार अर्थात् अवतारी ईश्वर की धारणा का विकास होता है। ध्यातव्य है कि अवतार का सिद्धांत ब्रह्मज्ञानियों और तत्ववेत्ताओं का आविष्कार नहीं, बल्कि लोक में विकसित धारणा है, जिसे इन लोगों ने

---

1. शाण्डिल्य सूत्र, 1.2.

बाद में अनेक कारणों से अपनाया और उसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया, उसका परिष्कार किया।

गीता में साधारण जन्म से भिन्न ईश्वर की अनेक उत्पत्ति-संबंधी मान्यताओं का वैशिष्ट्य बतलाते हुए कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि मेरे और तुम्हारे अनेक जन्म हो चुके हैं, लेकिन तुम उन्हें नहीं जानते और मैं जानता हूँ। दोनों में यही फ़र्क है ---

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ।।[1]

इसके पश्चात् कृष्ण घोषणा करते हैं ---

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।।[2]

अर्थात् जब-जब धर्म की ग्लानि और अधर्म का पतन होता है, तब-तब मैं अपने को रच लेता हूँ। साधुओं का परित्राण करने के लिए, दुष्टों का विनाश करने के लिए और धर्म की स्थापना करने के लिए मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ। कहने की आवश्यकता नहीं कि कृष्ण की यह घोषणा अवतारवाद के सैद्धान्तिक आधार को स्पष्ट करती है। परवर्ती साहित्य में अवतार-संबंधी प्रसंगों पर

---

1. भगवद्गीता, 4.5.
2. वही : 4.7-8.

इसका गहरा प्रभाव पड़ा है। इसलिए उपर्युक्त श्लोकों पर थोड़ा रुककर विचार करना अपेक्षित है।

उपर्युक्त श्लोकों से अवतारवाद के चार अनिवार्य अवयव स्पष्ट होते हैं। पहला है कारण। धर्म का पतन, नियम, न्याय का ह्रास तथा अधर्म की वृद्धि आदि अवतार के कारण बताये गये हैं। दूसरा है प्रयोजन या उद्देश्य। साधुजनों की रक्षा, तथा पापियों, अधर्मियों का विनाश अवतार के मुख्य प्रयोजन हैं। तीसरा अवयव है प्रयोजन-सिद्धि के लिए संसार में मनुष्य या पशु रूप में जन्म ग्रहण करना और चौथा है काल की अवधारणा। भारतीय मिथकशास्त्र में काल को चार युगों में विभाजित किया गया है। वे हैं कृत, त्रेता, द्वापर और कलि। इनका नामकरण जुए के खेल की चार फेंकों के नाम के आधार पर हुआ है। कृत युग में धर्म अपनी पूर्णता में मौजूद रहता है, अपने चार पैरों पर स्थित रहता है और लोग धर्म के आधार पर एक-दूसरे की रक्षा करते हैं। "महाभारत" में भीष्म कृत युग की स्थिति के बारे में कहते हैं ----

> नैव राज्यम् न राजासीन्न च दण्डो न दाण्डिकः ।
> धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्तिस्म परस्परम् ।।[1]

इसे आदिम साम्यवादी समाज व्यवस्था माना जा सकता है। त्रेता युग में धर्म की एक टाँग टूट जाती है, वह तीन पर टिका रहता है और वर्णों का विघटन आरंभ हो जाता है। ध्यातव्य है कि धर्म का संबंध कहीं-न-कहीं सामाजिक व्यवस्था से है, चातुर्वर्ण्य व्यवस्था से है। लेकिन, उसका अर्थ इतना

---

1. महाभारत, शांतिपर्व 59.14.

ही सीमित नहीं है। वह विश्व की नैतिक व्यवस्था से गहरे रूप में संबद्ध है। तीसरे युग अर्थात् द्वापर में धर्म के दो पैर गायब हो जाते हैं, वह सिर्फ दो पैरों पर खड़ा रहता है। सामाजिक व्यवस्था में विघटन के साथ ही नैतिक व्यवस्था में भी काफी विघटन आ जाता है, गिरावट आ जाती है। इस युग में सब लोग सांसारिक वस्तुओं के पीछे पागल हो जाते हैं। अंतिम युग कलि में धर्म की मात्र एक टांग बची रहती है। इस युग के लक्षण स्पष्ट हैं। सामाजिक व्यवस्था की हालत बड़ी दयनीय हो जाती है और लोगों का नैतिक पतन हो जाता है। सब ओर कलह और अशांति की स्थिति होती है। सबल निर्बल को सताते हैं। धर्म नियमों का उल्लंघन आम बात हो जाती है आदि। स्पष्ट है कि धर्म की मात्रा विभिन्न युगों में उत्तरोत्तर कम होती जाती है। धर्म के इस पतन को रोकने के लिए और समाज-व्यवस्था को दुरुस्त करने के लिए ईश्वर को अवतार लेना पड़ता है। ईश्वर के सारे अवतार कमोबेश यह कार्य करते हैं।

2.4.1 अवतार सामाजिक चिंता की उपज

सामाजिक विधान हमेशा दैवी विधान से परिचालित नहीं होता। अगर ऐसा होता तो ईश्वर को बार-बार अवतरित होने की जरूरत पड़ती। गीता के महान् रचयिता को इसका अच्छी तरह बोध है। यदि ईश्वर शाश्वत सत्य है, तो यह विश्व भी शाश्वत है। अपने नियमों के अनुसार समाज विकसित होता रहता है। विकास की प्रक्रिया में बाधा उपस्थित होने पर अवतार की आवश्यकता होती है। देखना यह है कि जिस प्रतिकूल स्थिति में अवतार होने की बात कही गई है, वह सिर्फ गीता के उक्त श्लोकों में ही थी या समाज में भी ।

विद्वानों का अनुमान है कि आज जिस रूप में "महाभारत" उपलब्ध है, वह उसे दूसरी शताब्दी ई.पू. और 200 ई. के बीच प्राप्त हुआ होगा, हालाँकि निश्चयपूर्वक इस संबंध में कुछ तय कर पाना संभव नहीं। प्राचीन भारत के आर्थिक, सामाजिक परिवेश के विवेचन के क्रम में मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद और गुप्त साम्राज्य की स्थापना के बीच की परिस्थितियों पर प्रकाश डाला गया है। शक्तिशाली मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद देश में अराजकता की स्थिति आती है। उस काल के संदर्भ में शक्तिशाली शासक के अभाव में सामाजिक, राजनीतिक व्यवस्था का अनुमान कठिन नहीं है। उसी दौरान देश पर विदेशियों के आक्रमण आरंभ होते हैं और समाज का आंतरिक संकट और बढ़ जाता है। इतिहासकार ए.एल. बाशम ने उस काल के समाज की यथार्थ तस्वीर खींचते हुए लिखा है ----

" In the period between the Mauryas and Guptas anarchy frequently prevailed. Mass lawlessness, riot, pillage and rape were widespread. Raiding bands of invaders from the North-West penetrated far into the heart of India, and some brahmans even believed that the end of the aeon was drawing nearand that the world would soon be destroyed. It was then that an almost pathological dread of anarchy (matsyanyaya, literally "the way of the fishes", of whom the stronger eat the weaker) grew in the minds of Indian thinkers."[1]

---

1. ए.एल. बाशम : दि वंडर दैट वाज इंडिया, पृ. 86-87.

अर्थात् मौर्य और गुप्त युग के बीच की अवधि में भयंकर अराजकता थी। अव्यवस्था, बलवा, लूटपाट तथा बलात्कार व्यापक स्तर पर फैले थे। हमलावरों के दल पश्चिमोत्तर दिशा से भारत के हृदय प्रदेश तक में घुस आए थे। बहुत सारे ब्राह्मण तो यह सोचने लगे थे कि युग का अंत होने वाला है और संसार शीघ्र ही नष्ट हो जाएगा। यही वह समय था जब भारतीय विचारकों के मानस में अराजकता की विभीषिका घर कर गई।"

वस्तुतः ऐसी ही अराजक स्थिति में अवतार की अवधारणा ने जोर पकड़ा होगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसी स्थिति में जब समाज आन्तरिक और बाह्य दोनों रूपों में भयंकर अराजकता के दौर से गुजर रहा हो और सामान्य जनता लाचार, असहाय हो और उसे कहीं से भी आशा की कोई किरण न दिख रही हो, तो उसके मानस में ऐसे ईश्वर की अवधारणा का जोर पकड़ना कोई अस्वाभाविक बात नहीं जो उस विपत्ति की घड़ी में अवतरित होकर उसे नैराश्यपूर्ण स्थिति से उबार ले। ईश्वर की याद आखिर विपत्ति के काल में ही तो ज्यादा आती है। ऐसे ही समय उसके सहारे की आवश्यकता सबसे अधिक महसूस होती है। इस तरह के अवतार की कल्पना विष्णु के संदर्भ में एकदम स्वाभाविक है, जो वैदिक काल में ही संभावनापूर्ण देव के रूप में उभरे थे और जिनके व्यक्तित्व में अनेक गुण थे और जिन्होंने त्रस्त मानवता की रक्षा के लिए तीन पग रखे थे। अतः विष्णु से इस बात की अपेक्षा अधिक आशा की जा सकती थी कि वे संकटकाल में त्रस्त मानवता की रक्षा के लिए अवतार ग्रहणकर दुष्टों का विनाश करेंगे और अराजकता का खात्मा कर फिर से समाज को व्यवस्थित करेंगे, धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा करेंगे आदि। गीता में अवतारवाद और भक्ति के सिद्धांत का व्यवस्थित रूप में प्रतिपादन इस दृष्टि से हुआ हो, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। अवतार और भक्ति का सिद्धांत तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था से जनता के घोर असंतोष, विक्षोभ और उस भयावह स्थिति से बाहर निकलने की उसकी गहरी आकांक्षा का सूचक

है। रिचर्ड लैनॉय भी भक्ति को लाचार भारतीय जनता की दशा का सही प्रतिबिंब मानते हैं। उनके शब्दों में ---

"Bhakti is an accurate reflection of the chronic helplessness of the Indian massés and their burning Zeal to recognize in supreme authority a force transcending the strictures of the social system."[1]

भक्ति की उत्पत्ति और उसके विकास की यह व्याख्या वस्तुपरक है, इसमें संदेह नहीं।

बहुत से विद्वान् भक्ति की अवधारणा को उस काल की ब्राह्मणवादी व्यवस्था में आए व्यवधान से जोड़कर देखते हैं। यह बात सही है कि विभिन्न आर्थिक, राजनीतिक कारणों से मौर्योत्तर काल में निम्न वर्णों की स्थिति में सुधार आता है और फलस्वरूप उनमें सामाजिक सोपानिक व्यवस्था में उच्चतर स्थान पाने की आकांक्षा जगती है और यह स्थिति उच्चवर्णों के साथ उनके संघर्ष के रूप में सामने आती है। इस संघर्ष को कम करने के लिए या समाप्त करने के लिए युगीन अपेक्षाओं के अनुरूप उन वर्णों को धार्मिक क्षेत्र में रियायतें देकर ब्राह्मणों के प्रभुत्व को बनाये रखने के उद्देश्य से भक्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया आदि। ये विद्वान् धर्म के ह्रास को सिर्फ वर्णधर्म के ह्रास से जोड़कर देखते हैं। यह उनकी दृष्टि की सीमा है। कुछ हद तक उपर्युक्त विवेचन सही है, लेकिन, वही सही नहीं है।

---

1. रिचर्ड लैनॉय : दि स्पीकिंग ट्री, पृ. 209

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, गीता में धर्म का इतना ही अर्थ नहीं है। वह सामाजिक व्यवस्था को नियंत्रित और नियमित करने वाला तत्व ही नहीं, व्यक्ति और समाज के नैतिक कॉस्मस को नियमित करने वाला तत्व भी है। वह अन्याय का विरोधी न्याय भी है, व्यक्ति और समाज के स्वास्थ्य के लिए आवश्यक गुणों का पुंज भी है। धर्म के इस अर्थ को ध्यान में रखकर विचार करने पर गीता में प्रतिपादित अवतार के सिद्धांत को सही परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है।

इस प्रकार, समाज में बड़े पैमाने पर हिंसा, भ्रष्टाचार, शोषण, उत्पीड़न, अन्याय के फैलने पर तथा मनुष्यों का नैतिक पतन होने पर अर्थात् संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था में विकार आने पर अवतार होता है। वह इन सारे विकारों को दूर करता है। उसका संघर्ष सामाजिक व्यवस्था को प्रतिष्ठित और सुदृढ़ बनाने के निमित्त होता है। पुराणों में अवतार का आगमन प्रायः पृथ्वी का भार उतारने के निमित्त बताया गया है। उसका यही अर्थ है। डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन अवतार को "संघर्षशील देवता" की संज्ञा देते हैं, जो एकदम उचित है। उनके अनुसार ---

"अवतारों की कल्पना मनुष्य-जाति के लिए एक नया आध्यात्मिक संदेश प्रस्तुत करती है। अवतार संघर्षशील देवता हैं जो पाप, मृत्यु और विनाश के विरुद्ध संघर्ष करते हैं।"[1] किंतु, अवतार की अवधारणा को सिर्फ आध्यात्मिक संदेश से जोड़ना उसे व्यापक सामाजिक आधार से विच्छिन्न कर देना है। जैसी कि चर्चा की जा चुकी है, अवतार का आगमन होता है इस संसार को सुव्यवस्थित करने के लिए। अवतार स्वयं संघर्षशील होते हैं और लोगों को धर्म और न्याय के पक्ष में संघर्ष करने की प्रेरणा देते हैं।

---

1. डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन, भाग-1, पृ. 445.

अवतार का सिद्धांत इसी संसार में संघर्ष पर बल देता है। वह मनुष्य को संन्यासी बनने की सलाह नहीं देता, बल्कि उसके पुरुषार्थ को जगाता है और उसे सही दिशा प्रदान करता है। गीता में कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिया गया कर्ममय संदेश इसका श्रेष्ठ दृष्टांत है। कोई कितना ही बड़ा वीर, कितना ही बड़ा शासक क्यों न हो, सामाजिक नियमों से परे नहीं है, उनके उल्लंघन का अधिकार किसी को नहीं है। धार्मिक नियम सिर्फ़ सामान्य लोगों के लिए ही नहीं, बल्कि योद्धाओं और शासकों के लिए भी है। अवतारवाद की भूमिका को रेखांकित करते हुए ज्योफ्रे पैरिण्डर लिखते हैं ----

" It provides a religious rule for warriors and rulers. More, it proclaims the rightness and necessity of a man's own natural action in the material world, rather than the rejection of work and the world by extreme ascetism."[1]

अवतार की भूमिका का यह सही मूल्यांकन है। सामाजिक संदर्भ से काटकर उसे नहीं समझा जा सकता है, क्योंकि वह इसी धरती और समाज की चिन्ता की उपज है।

2.5 "महाभारत" में अवतारवाद

यों तो गीता "महाभारत" का अभिन्न अंग है तथा उसमें अवतार के सिद्धांत का प्रतिपादन "महाभारत" में अवतार के सिद्धांत के प्रतिपादन से अभिन्न है। फिर भी प्रस्तुत प्रसंग में इस बात की चर्चा अपेक्षित

---

1. ज्योफ्रे पैरिण्डर : अवतार एण्ड इन्कारनेशन, पृ. 37.

है कि गीता में अवतार की अवधारणा का जो व्यवस्थित विवेचन हुआ है, उसकी स्थिति समग्र महाकाव्य के संदर्भ में कैसी है? "महाभारत" सबसे पहला ग्रंथ है, जिसमें वासुदेव कृष्ण को नारायण विष्णु के रूप में, उनके अवतार के रूप में अभिज्ञापित किया गया है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि "महाभारत" की रचना के समय तक वासुदेव कृष्ण एक शक्तिशाली देवता के रूप में स्वीकृत हो चुके थे। "महाभारत" में कृष्ण का देवत्व जगह-जगह दिखायी पड़ता है। शायद ही ऐसा कोई प्रसंग हो जिसमें उनके इस रूप का पता न चलता हो। यहाँ तक आते-आते नारायण विष्णु के साथ कृष्ण का तादात्म्य घटित हो चुका था। "महाभारत" में कृष्ण परमेश्वर विष्णु ही हैं, उनके अवतार हैं। "वन पर्व" में कृष्ण को विष्णु से अभिन्न बताया गया है। अर्जुन उनकी स्तुति इन शब्दों में करते हैं ----

पुरुषस्याप्रमेयस्य सत्यस्यामिततेजसः ।
प्रजापतिपतेर्विष्णोर्लोकनाथस्य धीमतः ।।[1]

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण अन्तर्यामी, अप्रमेय, सत्यस्वरूप, अमिततेजस्वी, प्रजापतियों के भी पति, संपूर्ण लोकों के रक्षक तथा परम बुद्धिमान श्रीविष्णु ही हैं।

"महाभारत" में अनेक स्थलों पर कृष्ण के अवतार लेने का वर्णन मिलता है। "उद्योग पर्व" में भीष्म दुर्योधन को संधि के लिए समझाते हैं और उसी प्रसंग में अर्जुन एवं कृष्ण की महिमा का बखान करते हुए उन्हें क्रमशः नर एवं नारायण बतलाते हैं तथा लोकहित के लिए उनके अवतार लेने की बात करते हैं -----

---

1. महाभारत, वन पर्व, 12.10.

एतौ हि कर्मणा लोकान् अश्नुवातेऽक्षयान् ध्रुवान् ।
तत्र तत्रैव जायते युद्धकाले पुनः पुनः ।।[1.]

अर्थात् ये दोनों अपने तत्कर्म के प्रभाव से अक्षय एवं ध्रुवलोकों को व्याप्त करके स्थित हैं। लोकहित के लिए जब-जब जहाँ-जहाँ युद्ध का अवसर आता है, तब-तब वहाँ-वहाँ ये बार-बार अवतार ग्रहण करते हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि अवतार-संबंधी यह घोषणा गीता की घोषणा से बहुत भिन्न नहीं है। इसी तरह "भीष्म पर्व" में ब्रह्मा को विष्णु की महिमा का गान करते हुए उनसे धर्म की स्थापना के लिए अवतार ग्रहण करने हेतु निवेदन करते हुए दिखाया गया है ----

धर्म संस्थापनार्थाय दैत्यानां च वधाय च ।
जगतो धारणार्थाय विज्ञाप्यं कुरु मे विभो।।[2.]

अर्थात् प्रभो! धर्म की स्थापना, दैत्यों के वध और जगत् की रक्षा के लिए हमारी प्रार्थना स्वीकार कीजिए।

ब्रह्माजी की प्रार्थना स्वीकार की जाती है और विष्णु श्रीकृष्ण के रूप में लोकहित में अवतरित होते हैं।

"शांति पर्व" के अंतर्गत "नारायणीय खंड" में विष्णु के महत्वपूर्ण एवं विशिष्ट अवतारों की दो सूचियाँ हैं, जिनमें से पहली सूची में छः अवतार बतलाये गये हैं। वे हैं --- वराह, नृसिंह, वामन, भृगुवंशी राम अर्थात् परशुराम, राम तथा वासुदेव कृष्ण।[3] दूसरी सूची में चार अवतारों का

1. महाभारत, उद्योग पर्व, 49.21.
2. वही, भीष्म पर्व, 65.68.
3. वही, शांति पर्व, 326.72 तथा आगे ।

वर्णन है -- वराह, नरसिंह, वामन एवं मानुष । मानुष का तात्पर्य "माथुर" अर्थात् कृष्ण से है।[1] एक अन्य सूची में दस अवतारों का उल्लेख है ------

हंसः कूर्मश्च मत्स्यश्च प्रादुर्भावा द्विजोत्तम ।
वाराहो नरसिंहश्च वामनो राम एव च ।
रामो दाशरथिश्चैव सात्वतः कल्किरेव च ।।[2]

हंस, कूर्म, मत्स्य, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, दशरथनंदन राम, यदुवंशी कृष्ण तथा कल्कि कुल दस अवतार हैं। किन्तु, उपर्युक्त श्लोकों को परवर्ती प्रमाणित किया जा चुका है। इस संबंध में डॉ. भण्डारकर ने लिखा है:

"ऐसा लगता है कि प्रथम अवतरण के समीप स्थित यह दूसरा अवतरण उस समय जोड़ा गया, जब अवतारों की संख्या दस हो चुकी थी।[3]

इस प्रकार, माना जा सकता है कि "महाभारत" की रचना के समय तक दशावतार का मिथक विकसित नहीं हुआ था। वामन, मत्स्य, नरसिंह, वराह, राम आदि का उल्लेख मिलता है, लेकिन ठीक दस अवतारों की वैसी कोई प्रामाणिक सूची नहीं मिलती है, जैसी कई परवर्ती ग्रंथों में मिलती है। इससे एक बात स्पष्ट है कि उस युग में अवतार का सिद्धांत विकसनशील था। किंतु, कृष्णावतार के माध्यम से "महाभारत" ने अवतार की अवधारणा के व्यापक विकास के लिए अत्यंत मजबूत पीठिका का निर्माण किया, इसमें संदेह की गुंजाइश नहीं।

---

1. सुवीरा जायसवाल : वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास, पृ. 123-24.
2. महाभारत, शांति पर्व, 339. 103-4
3. आर.जी.भण्डारकर : वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, पृ. 47.

2.6 "रामायण" में अवतारवाद

"रामायण" में अवतार की अवधारणा की उपस्थिति के संबंध में अनेक विद्वानों ने संदेह प्रकट किया है। उनका मत है कि उसके "बालकांड" तथा "उत्तरकांड" प्रक्षिप्त हैं, जिसमें राम को अवतार माना गया है। हॉपकिन्स ने लिखा है कि राम का विष्णु रूप बाल कांड और उत्तरकांड में ही पूरी तरह सामने आता है ----

"Visnu form is fully recognised only in Bala and Uttara."[1]

वैष्णव भक्ति के विकास के विवेचन-प्रसंग में इस संबंध में पर्याप्त चर्चा की जा चुकी है। यहाँ उसे दोहराने का कोई औचित्य नहीं। सिर्फ इतना निवेदन अभीष्ट है कि अवतार की अवधारणा न सिर्फ बाल कांड और "उत्तरकांड" में बल्कि "रामायण" के छठे कांड अर्थात् "युद्ध कांड" में भी मिलती है। विद्वान् उन अंशों को भी प्रक्षिप्त साबित कर सकते हैं, जहाँ राम के अवतारत्व का संकेत है, किन्तु राम के अवतार होने से महाकाव्य की मूल कथा में कोई बाधा नहीं आती, बल्कि इससे अर्थ की एक और परत उभरती है जिसमें महान् वीर और आदर्श नायक राम इतने ऊँचे हैं कि वे विष्णु के अवतार बन जाते हैं।

प्रस्तुतीकरण के इस उच्चतर स्तर पर "रामायण" का नया विन्यास उभरता है। पृथ्वी पर पुत्रहीन राजा दशरथ पुत्र-प्राप्ति के इच्छुक और उसके लिए चिंतित हैं। उधर स्वर्ग में देवगण अपने उत्पीड़क शत्रु रावण के विनाश के उपायों पर विचार कर रहे हैं। ब्रह्मा बताते हैं कि अपनी तपस्या के बल पर रावण ने ऐसा वरदान प्राप्त कर लिया है कि मनुष्य को छोड़कर

---

1. ई. डब्ल्यू हॉपकिन्स : एपिक माइथोलॉजी, पृ. 212.

कोई जीव उसे नहीं मार सकता है। अतः ब्रह्मा सलाह देते हैं कि रावण को मारने के लिए कुछ इसी तरह का उपाय किया जाना चाहिए। इसके बाद देवगण भगवान् विष्णु के पास जाकर अपनी समस्या बताते और संतानेच्छु राजा दशरथ के चार पुत्रों के रूप में अवतीर्ण होकर राक्षसराज रावण का विनाश करने हेतु प्रार्थना करते हैं ---

विष्णो पुत्रत्वम् आगच्छ कृत्वाऽऽत्मानं चतुर्विधम् ।
तत्र त्वम् मानुषो भूत्वा प्रवृद्धं लोक-कण्टकम् ।
अवध्यं दैवतैर् विष्णो समरे जहि रावणम् ।।[1]

विष्णु उनसे सहमत हो जाते हैं और सिर्फ राम ही नहीं राम के अन्य तीन भाइयों के रूप में भी प्रकट होने का निश्चय करते हैं। स्पष्ट है कि राम विष्णु के पूर्ण अवतार नहीं है, लेकिन राम के अवतार को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है।

"उत्तर कांड" में अगस्त्य राम को उपदेश देने के समय उन्हें चतुर्भुज नारायण कहते हैं और धर्म व्यवस्था की रक्षा के हेतु राक्षस-वध के निमित्त अवतरित बताते हैं ----

नष्ट धर्म व्यवस्थानां काले काले प्रजाकरः ।
उत्पद्यते दस्युवधे शरणागतवत्सलः ।।[2]

अर्थात् जब-जब धर्म की व्यवस्था को नष्ट करने वाले दस्यु पैदा हो जाते हैं, तब-तब उन दस्युओं का वध करने के लिए आप अवतार ग्रहण करते हैं।

---

1. रामायण, 1.14.18-19
2. वही, 7.8.27

कहने की आवश्यकता नहीं कि उक्त श्लोक में गीता के अवतार-संबंधी प्रसिद्ध श्लोकों की अनुगूंज साफ सुनाई पड़ती है।

"रामायण" के द्वितीय से लेकर पंचम कांड तक राम के अवतार होने का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, लेकिन उनके जिन गुणों का वर्णन किया गया है, वे उन्हें सामान्य मनुष्य से ऊपर प्रमाणित करते हैं। "युद्धकांड" में ऐसे अनेक स्थल हैं, जहाँ राम नारायण विष्णु माने गये हैं, उनके अवतार माने गये हैं। सीता के अग्नि-प्रवेश के बाद वहाँ आये इन्द्र, वरुण, महादेव, ब्रह्मा आदि राम से हाथ उठाकर कहते हैं -----

कर्ता सर्वस्य लोकस्य श्रेष्ठो ज्ञानविदां विभुः ।[1]

अर्थात् आप संपूर्ण विश्व के रचयिता, ज्ञानियों में श्रेष्ठ और सर्वव्यापक हैं।

इस पर राम कहते हैं कि मैं तो स्वयं को दशरथ का पुत्र ही मानता हूँ। साथ ही वे उपस्थित देवताओं से निवेदन करते हैं कि वे उनके स्वरूप के बारे में बतायें -----

आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम् ।
सोऽहं यश्च यतश्चाहं भगवांस्तद् ब्रवीतु मे।।[2]

यहाँ राम अपने को मानव कहते हैं। यह, वास्तव में, उनकी विनम्रता का परिचायक है, न कि इस बात का कि वे मानव ही हैं। "सुन्दरकांड" में राम को तीन लोकों का स्वामी कहा गया है ---

रामस्य लोकत्रयनायकस्य ।[3]

---

1. रामायण, 6.117.5
2. वही, 6.117.11
3. वही, 5.51.43

पुनः "अयोध्याकांड" के आरंभ में ही राम को विष्णु से अभिन्न मानते हुए रावण-वध के लिए अवतरित बताया गया है -----

स हि देवैरुदीर्णस्य रावणस्य वधार्थिभिः ।
अर्थितो मानुषे लोके जज्ञे विष्णुः सनातनः ।।[1]

अर्थात् राम साक्षात् सनातन विष्णु हैं और परम प्रचंड रावण के वध की अभिलाषा रखने वाले देवताओं की प्रार्थना पर मनुष्य लोक में अवतीर्ण हुए हैं।

इस प्रकार, स्पष्ट है कि "बाल कांड" और "उत्तरकांड" के अतिरिक्त अन्य कांडों में भी राम को या तो विष्णु का अवतार माना गया है या उनके व्यक्तित्व में ऐसे गुण बताये गये हैं, जो उन्हें मनुष्य से ऊपर सिद्ध करते हैं। उनका यह रूप संपूर्ण "रामायण" में स्पष्ट है। अतः यह स्वीकार करने में कोई हर्ज नहीं कि "रामायण" के रचना-काल तक राम आराध्य देव के रूप में मान्य हो चुके थे, हालांकि इस संबंध में ठोस ऐतिहासिक प्रमाणों की कमी है। पहली-दूसरी शताब्दी ई.पू. में रचित पालि साहित्य में बुद्ध को राम का अवतार माना गया है, तो यह माना जाना चाहिए कि उस समय तक राम अवतार माने जा चुके थे। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में ---

"पूजनीय रामावतार की भावना ईसा के पूर्व प्रथम शताब्दी तक अवश्य फैलने लगी होगी क्योंकि उस काल के कुछ पहले से ही लिखे जाने वाले बौद्धों के पालि-साहित्य में स्वयं बुद्ध को राम का एक अवतार मानने की कल्पना दीख पड़ने लगी थी।.....दाशरथि राम उस समय न केवल विष्णु का अवतार थे, अपितु बौद्धधर्म में एक बोधिसत्व थे तथा जैनधर्म में आठवें बलदेव भी माने जाते थे।"[2]

---

1. रामायण, 2.1.7.
2. परशुराम चतुर्वेदी : वैष्णव धर्म, पृ. 55.

"रामायण" में राम का संपूर्ण जीवन धर्म और निष्ठा से अनुप्राणित है। वे सदा ऐसे कार्य करते हैं या करने पर बल देते हैं, जो धर्म के अनुसार सही हों, उचित हों। इसी कारण उन्हें "साक्षात् धर्म" कहा गया है ——

महात्मानां साक्षाद्धर्मम् ।[1]

राम मानवीय गुणों के पुंज है। वे मानवता के सर्वोच्च आदर्श के रूप में उपस्थित किये गये हैं। इसीलिए कवि ने उनके मानवीय पक्ष को गौण नहीं होने दिया है। राम धर्म, मानवीय संबंध, वीरता और राजधर्म से युक्त श्रेष्ठ आदर्श चरित्र है। राम किसी भी कीमत पर धर्म की रक्षा करते हैं। वे एक आदर्श पुत्र, आदर्श भाई, आदर्श रक्षक, आदर्श वीर, आदर्श राजा और यहाँ तक कि आदर्श शत्रु हैं। उन्होंने जीवन के ऐसे मानक स्थापित किये जो सबके लिए आदर्श हैं, अनुकरणीय हैं। विष्णु से अभिन्न होते हुए भी राम मनुष्य हैं। वे मनुष्य बने हैं लोक के हित के लिए। इस प्रकार, "रामायण" में अवतारवाद का मुख्य प्रयोजन है लोकहित में असुरों का विनाश। वाल्मीकि ने राम के व्यक्तित्व के उन पक्षों का उद्घाटन कर दिया था, जो परवर्ती काल में अधिक विकसित हुए और जिनके कारण राम लोकमानस में और अधिक गहराई में स्थापित हो सके।

2.7 पौराणिक साहित्य में अवतारवाद

2.7.1 पुराणों में गतिशील अवतारवाद

पुराणों में अवतार के सिद्धांत का जो प्रतिपादन हुआ है, उस पर गीता का प्रभाव स्पष्ट है। ऐसे अनेक प्रसंग हैं जहाँ गीता के

---

1. रामायण, 7.101.17.

शब्दों को दुहराया गया है ---- विशेषकर अवतार के उद्देश्य के संदर्भ में। पुराणों की मुख्य विशेषता है अवतारवाद। प्रायः सभी प्रमुख पुराणों में किसी-न-किसी रूप में इसकी चर्चा मिलती है। यहाँ तक कि कई अवतारों को केन्द्र में रखकर अलग-अलग पुराणों की रचना हुई है। प्रस्तुत प्रसंग में कुछ महत्वपूर्ण पुराणों में अवतारवाद का जो रूप मिलता है, उसका संक्षेप में विवेचन करने का प्रयास किया जा रहा है।

पुराणों के रचना-काल के संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ कहना संभव नहीं है। पहली-दूसरी शताब्दी से लेकर नवीं-दसवीं शताब्दी तक पुराण रचे जाते रहे। "महाभारत" का परिशिष्ट माने जाने वाले "हरिवंश पुराण" को डॉ. भण्डारकर तीसरी शताब्दी की रचना मानते हैं,[1] तो आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की दृष्टि में उसका ईसा पूर्व होना असंभव नहीं।[2] लेकिन, इतना तय है कि "हरिवंश पुराण" आरंभिक पुराणों में से है।

"हरिवंश पुराण" में अवतारवाद का विवेचन मिलता है। ऐसा कहा गया है कि विष्णु के हजारों अवतार हो चुके हैं और भविष्य में भी हजारों होंगे। उसके अनुसार -----

> प्रादुर्भावसहस्राणि अतीतानि न संशयः ।
> भूयश्चैव भविष्यन्तीत्येवमाह प्रजापतिः।।[3]

यहाँ अवतार के लिए "प्रादुर्भाव" शब्द का प्रयोग किया गया है। गीता में कृष्ण के उस कथन का प्रभाव उक्त श्लोक पर स्पष्ट है, जिसमें उन्होंने अपने

---

1. आर.जी.भण्डारकर : वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, पृ.42.
2. हजारी प्रसाद द्विवेदी : सूर-साहित्य, पृ.27.
3. हरिवंश पुराण, 1.41.11.

असंख्य जन्मों की बात कही है। इतना ही नहीं, "हरिवंश पुराण" में ईश्वर के अवतार के जो प्रयोजन बतलाये गये हैं, उन पर भी गीता का प्रभाव परिलक्षित होता है ----

हितार्थं सुरमर्त्यानां लोकानां प्रभवाय च ।
बहुशः सर्वभूतात्मा प्रादुर्भवति कार्यतः ।।[1]

अर्थात समस्त भूतों के आत्मा भगवान् श्री हरि देवता और मनुष्यों का कल्याण तथा लोकों का अभ्युदय करने के लिए आवश्यकतावश बार-बार अवतार ग्रहण करते हैं।

"हरिवंश पुराण" में दस अवतारों की सूची मिलती है। प्रथमांश के इकतालीसवें अध्याय में इन अवतारों का वर्णन किया गया है और उनके निश्चित प्रयोजन बताये गये हैं। यहाँ वर्णित दस अवतार हैं ---- वराह, नरसिंह, वामन, मत्स्य, दत्तात्रेय, परशुराम, राम, कृष्ण, वेदव्यास और कल्कि । अवतारों की संख्या दस तो कई पुराणों में मिलती है, लेकिन उनका क्रम एक-सा नहीं है। साथ ही, कहीं कोई अवतार छूटा है तो कहीं कोई। "हरिवंश पुराण" में कूर्म का उल्लेख नहीं है, बलराम का नहीं है। कई पुराणों में "हरिवंश" में उल्लिखित दत्तात्रेय और वेदव्यास की चर्चा दशावतार के अंतर्गत नहीं है। बुद्ध अवतार के रूप में स्वीकृत हो जाने के पश्चात "दशावतार" में गिने जाते हैं। ध्यातव्य है कि "हरिवंश" में उनका अवतार के रूप में वर्णन नहीं हुआ है। यह इस बात का सूचक हो सकता है कि उसकी रचना के समय तक बुद्ध को अवतार रूप में स्वीकृति नहीं मिली थी। "महाभारत" में भी बुद्ध अवतार की चर्चा नहीं है।

---

1. हरिवंश पुराण, 1.41.14.

"हरिवंश पुराण" में दशावतार के वर्णन के साथ ही विभिन्न देवताओं द्वारा अंशावतार ग्रहण की चर्चा मिलती है। विधर्मी राक्षसों आदि के अत्याचार से पीड़ित पृथ्वी ब्रह्मा की सभा में उपस्थित होकर अपनी व्यथा सुनाती है तथा उसे दूर करने की प्रार्थना करती है। वह विष्णु से अपना भार उतारने की प्रार्थना करती है। विष्णु अवतार ग्रहण करने के लिए सहमत हो जाते हैं। उनके साथ ही देवतागण भी अंशावतार ग्रहण करने का निश्चय करते हैं ----

कथमंशावतरणं कुर्मः सर्वे पितामह ।
अन्तरिक्षगता ये च पृथिव्यां पार्थिवाश्च ये ।।[1]

इस प्रकार, आकाश और पृथ्वी के देवता अपने अंश से विप्र, राजा और अयोनिज शरीरों में उत्पन्न होने का आदेश चाहते हैं और इन रूपों में पृथ्वी पर प्रकट होते हैं। स्पष्ट है कि "हरिवंश पुराण" में विष्णु के अवतार का मुख्य प्रयोजन है भूभार हरण ।

"विष्णु पुराण" में अवतारवाद के परंपरागत रूप के अतिरिक्त एक व्यापक रूप का परिचय मिलता है। चिंताग्रस्त पृथ्वी भगवान् नारायण की स्तुति करती हुई कहती है ----

भवतो यत्परं तत्वं तन्न जानाति कश्चन ।
अवतारेषु यद्रूपं तदर्चन्ति दिवौकसः ।।[2]

अर्थात् हे प्रभो! आपका जो परतत्व है, उसे तो कोई भी नहीं जानता, अतः आपका जो रूप अवतारों में प्रकट होता है, उसी की देवगण पूजा करते हैं।

---

1. हरिवंश पुराण, 1.53.9.
2. विष्णु पुराण, 1.4.17.

"विष्णु पुराण" में ईश्वर के अवतारी रूप को अविकारी अग्नि के विकार की तरह बताया गया है, जो मूलतः एक होते हुए भी अनेक रूपों में प्रकट होती है।[1] विष्णु को परमात्मा मानते हुए उन्हें संपूर्ण संसार में व्याप्त बतलाया गया है और इस प्रकार उनके नाम की सार्थकता प्रमाणित की गई है। "विष्णु पुराण" में धर्म रक्षा हेतु अवतार होने की बात कही गई है, उस पर बल दिया गया है ---

शरीरग्रहणं वापि धर्मत्राणाय केवलम् ।[2.]

इसी प्रकार, कृष्ण के गोवर्धन धारण करने के उपरांत इन्द्र कृष्ण की स्तुति करते हुए कहते हैं कि हे अखिलाधार परमेश्वर! आपने पृथ्वी का भार उतारने के लिए ही पृथ्वी पर अवतार लिया है ----

भारावतारणार्थाय पृथिव्याः पृथिवीतले ।
अवतीर्णोऽखिलाधार त्वमेव परमेश्वर ।।[3]

स्पष्ट है कि अवतार के जो प्रयोजन पूर्ववर्ती "गीता" "हरिवंश" आदि ग्रंथों में बताये गये हैं, वे यहाँ भी वर्णित हैं। किन्तु, इन परंपरित वर्णनों के अलावा यहाँ कुछ ऐसे तथ्य मिलते हैं जो लीक से हटकर हैं और "विष्णु पुराण का वैशिष्ट्य सूचित करते हैं। उनमें से पहला है लीला-तत्त्व का समावेश। कहा गया है ---

व्यक्तं विष्णुस्तथाव्यक्तं पुरुषः काल एव च ।
क्रीडतो बालकस्येव चेष्टां तस्य निशामय ।।[4]

---

1. विष्णु पुराण, 5.1.45.
2. वही, 5.1.51.
3. वही, 5.12.7.
4. वही, 1.2.18.

अर्थात् भगवान् विष्णु जो व्यक्त, अव्यक्त, पुरुष और काल रूप से स्थित होते हैं, इसे उनकी बालवत् क्रीड़ा ही समझो ।

यह और कुछ नहीं, लीला का तत्व है, लीला का सिद्धांत है, जिसका सर्वाधिक विस्तार और सर्वाधिक प्रामाणिक विवेचन "भागवत पुराण" में मिलता है। इस दृष्टि से "विष्णु पुराण" का ऐतिहासिक महत्व है। "विष्णु पुराण" में प्रतिपादित अवतारवाद के संबंध में दूसरी महत्वपूर्ण बात है विष्णु के साथ लक्ष्मी का अवतार। कहा गया है ----

एवं यदा जगत्स्वामी देवदेवो जनार्दनः ।
अवतारं करोत्येषा तदा श्रीस्तत्सहायिनी।।[1]

अर्थात् संसार के स्वामी देवाधिदेव विष्णु भगवान् जब-जब अवतार ग्रहण करते हैं, तब-तब लक्ष्मीजी उनके साथ रहती हैं।

"विष्णु पुराण" के अनुसार लक्ष्मी समृद्धि है और उसको धारण करने वाले विष्णु धनेश्वर हैं, कुबेर हैं ----

"ऋद्धिः श्रीः श्रीधरो देवः स्वयमेव धनेश्वरः।[2]

वास्तव में, लक्ष्मी की अवधारणा का विकास गुप्तकाल में होता है। जैसी कि चर्चा की जा चुकी है, गुप्तकाल भारतीय इतिहास में अपेक्षाकृत अधिक समृद्धि एवं खुशहाली का काल रहा है। अतः उस काल में समृद्धि और ऐश्वर्य की देवी "लक्ष्मी" की अवधारणा का विकास एकदम स्वाभाविक है और स्वाभाविक है सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक परमेश्वर विष्णु से उसका

---

1. विष्णु पुराण, 1.9.142.
2. वही, 1.8.27.

जुड़ना भी। "विष्णु पुराण" में विष्णु के साथ-साथ लक्ष्मी के अवतार लेने की बात कही गई है अर्थात् युगल अवतार की धारणा का प्रतिपादन किया गया है। परवर्ती सगुण भक्ति साहित्य में इसकी चर्चा हुई है। इस प्रकार, "विष्णु पुराण" में अवतारवाद का जो रूप मिलता है, उसमें परंपरित प्रयोजन ही नहीं, बल्कि अवतार का लीलात्मक और युगल रूप भी दृष्टिगोचर होता है।

"स्कन्द पुराण" में विष्णु को परमेश्वर मानते हुए उनके मुख्य अवतारों का वर्णन किया गया है। इसमें दशावतार की चर्चा हुई है। "स्कन्द पुराण" के इस श्लोक में दस अवतार हैं ---

"मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः ।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धो कल्किश्च ते दश ।।[1]

मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन, राम, परशुराम, कृष्ण, बुद्ध तथा कल्कि ये दस अवतार हैं। "लिंग पुराण" में दस अवतारों की जो सूची दी गई है, वह हू-ब-हू यही है।[2] इसी तरह "मत्स्य पुराण", "वराह पुराण" आदि भी विष्णु के दस अवतारों की स्थिति स्वीकार करते हैं। इनमें से कल्कि अवतार का संबंध भविष्य से है। ऐसा माना गया है कि जब कलियुग अपने चरम पर पहुँच जाएगा अर्थात् चारों ओर अधर्म का बोलबाला रहेगा, तब भगवान् कल्कि रूप में घोड़े पर सवार होकर दुष्टों का संहार करेंगे। "स्कन्द पुराण", "लिंग पुराण", "ब्रह्म पुराण", "पद्म पुराण" आदि में मोटे तौर पर अवतार के वही प्रयोजन बताये गये हैं, जो गीता में बताये गये हैं। कहीं-कहीं तो गीता के शब्दों को थोड़े हेरफेर के साथ दुहरा भर

---

1. स्कन्द पुराण, 3.151.4.
2. लिंग पुराण, 48.31

दिया गया है। उदाहरणार्थ "पद्म पुराण" के अनुसार अवतार का प्रयोजन है --- साधु, सज्जनों की रक्षा और असुरों का विनाश --

परित्राणाय साधूनां राक्षसानां वधाय च ।[1]

"वायु पुराण" में जिन दस अवतारों की चर्चा है, उनमें बुद्ध नहीं है, मत्स्य, कूर्म भी नहीं है। उसके अनुसार दस अवतार हैं --- नारायण, नरसिंह, वामन, दत्तात्रेय, मान्धाता, परशुराम, राम, वेदव्यास, कृष्ण और कल्कि। इससे स्पष्ट होता है कि दस अवतारों की कोई ऐसी सूची नहीं, जो सर्वमान्य हो। उनमें थोड़ा-बहुत अंतर मिलता है। इसी आधार पर डॉ॰ सुवीरा जायसवाल का मत है ---

"यद्यपि विष्णु के प्रमुख अवतारों की संख्या बहुत प्रारंभ में ही दस निश्चित कर दी गई प्रतीत होती है, फिर भी उनके नाम प्राचीन पुराणों की सूचियों में भिन्न-भिन्न हैं और यह माना जाता है कि दस अवतारों की मानक सूची को ई॰ सन् की आठवीं शताब्दी से बहुत पहले मान्यता प्राप्त नहीं हुई थी।"[2]

2.7.2 "भागवत पुराण" के अवतारवाद का वैशिष्ट्य

"भागवत पुराण" का पुराणों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है। वही हिन्दी भक्तिकाव्य का मुख्य प्रेरक ग्रंथ रहा है। "भागवत पुराण" को हिन्दी सगुण भक्तिकाव्य का बीजग्रंथ कहा जाय, तो इसमें कोई अतिशयोक्ति न होगी। अवतारवाद की दृष्टि से भी इसका

---

1. पद्म पुराण, 6.269.53.
2. सुवीरा जायसवाल : वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास, पृ॰ 130.

सर्वाधिक महत्व है। इसमें अवतारवाद का व्यापक विवेचन मिलता है। थॉमस जे. हॉपकिन्स के अनुसार "भागवत पुराण" की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है विष्णु तथा उनके अवतारों की भक्ति। उनके शब्दों में ——

"The single most important feature of the Bhagavata is its emphasis on bhakti or devotion directed to visnu and his various incarnations."[क]

"भागवत पुराण" के अनुसार अद्वितीय परमात्मा ही विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र, ये तीन धारण करता है, किंतु उसके इन तीन रूपों में विष्णु ही मनुष्यों के लिए परम कल्याणकारी हैं।[1.] भगवान् विष्णु ही समस्त लोकों के रचयिता और पालनकर्ता हैं। ऐसा वे करते हैं देवता, पशु-पक्षी, मनुष्य आदि योनियों में लीलावतार ग्रहण करके ——

भावयत्येष सत्वेन लोकान् वै लोकभावनः ।
लीलावतारानुरतो देवतिर्यङ्नरादिषु ।।[2]

भगवान् विष्णु को अवतारों का अक्षय कोष माना गया है ——

एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम् ।[3.]

"भागवत पुराण" में अवतारवाद का वैशिष्ट्य यह है कि उसका लीला से अभिन्न संबंध प्रतिपादित किया गया है। माना गया है कि भगवान्

क. मिल्टन के. सिंगर (सं.) : कृष्ण : मिथ्स, राइट्स एण्ड एटीच्यूड्स, पृ. 6.
1. भागवत पुराण, 1.2.23.
2. वही, 1.2.34.
3. वही, 1.3.5.

लीला से मनुष्यादि रूप में अवतार ग्रहण करते हैं। कृष्ण के संबंध में कहा गया है कि केवल लीला के लिए ही वे मनुष्य के बालक बने हुए हैं --- क्रीडामनुजबालकः।[1] इस ग्रंथ में हरि की लीला-कथाएँ हैं, लीला-कथाओं-अमृतोपम लीला-कथाओं से यह लबालब भरा है ---

हरिलीलाकथाव्रातामृतानन्दितसत्सुरम् ।[2]

अवतारवाद का परंपरागत रूप भी "भागवत पुराण" में मिलता है। निम्नलिखित श्लोक पर गीता की छाया एकदम स्पष्ट है---

यदा यदेह धर्मस्य क्षयो वृद्धिश्च पाप्मनः ।
तदा तु भगवानीश आत्मानं सृजते हरिः ।।[3]

किंतु, इसके ठीक बादवाले श्लोक में कहा गया है कि आत्मस्वरूपिणी योगमाया के अतिरिक्त भगवान् के जन्म तथा कर्म का कोई कारण नहीं है। योगमाया को अवतार का कारण बताया गया है। वस्तुतः योगमाया और कुछ नहीं, लीला के कार्य संपन्न करने वाली शक्ति है। इसीलिए योगमाया के अंशरूप से अवतार ग्रहण की चर्चा की गई है।[4] इस प्रकार, "भागवत पुराण" में लीला से अलग हटकर अवतारवाद का विवेचन नहीं मिलता है।

"भागवत पुराण" भगवान् के असंख्य अवतार मानता है। संसार में जो-कुछ भी महान् है, श्रेष्ठ है, वह भगवान् का ही अंश है। पूर्ववर्ती पौराणिक ग्रंथों से भागवत इस मायने में भी विशिष्ट है कि जहाँ

---

1. भागवत पुराण, 10.8.36.
2. वही, 12.13.11.
3. वही, 9.24.56.
4. वही, 10.1.25.

उनमें कृष्ण को भगवान् का एक अवतार माना गया है, वहाँ भागवत में उन्हें अवतारी अर्थात् स्वयं भगवान् माना गया है ---

"कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।"[1]

और ये भगवान दैत्यों का अत्याचार बढ़ जाने पर उनसे लोगों की रक्षा के लिए विभिन्न युगों में विभिन्न रूपों में अवतरित होते हैं। "भागवत" में अलग-अलग प्रसंगों में अवतारों की संख्या अलग-अलग मिलती है। दशम स्कन्ध के अंतर्गत द्वितीय अध्याय में कृष्ण को छोड़कर जिन नौ अवतारों का उल्लेख किया गया है, वे हैं ---- मत्स्य, हयग्रीव, कच्छप, नृसिंह, वराह, हंस, राम, परशुराम और वामन। ध्यातव्य है कि दस अवतारों की यह सूची भी थोड़ी भिन्न है। इसमें बुद्ध नहीं हैं तथा कल्कि भी गायब हैं। उनके स्थान पर हयग्रीव तथा हंस विराजमान हैं। इन रूपों में भगवान् के अवतरित होने का प्रयोजन बताया गया है लोकरक्षा ।

वस्तुतः "भागवत पुराण" में भगवान् के अवतारों की कई सूचियाँ मिलती हैं। प्रथम स्कन्ध के तृतीय अध्याय में बाईस अवतारों का उनके द्वारा संपादित कार्य के साथ वर्णन है। वे अवतार हैं क्रमशः सनकादि, वराह, नारद, नर-नारायण, कपिल, दत्तात्रेय, यज्ञ, ऋषभदेव, पृथु, मत्स्य, कच्छप, धन्वन्तरि, मोहिनी, नरसिंह, वामन, परशुराम, व्यास, राम, बलराम, कृष्ण, बुद्ध तथा कल्कि।[2] इसके पश्चात् द्वितीय स्कन्ध के सप्तम अध्याय में भी इसी तरह विभिन्न अवतारों तथा उनके कार्यों का उल्लेख है। वहाँ अवतारों की संख्या चौबीस है, जिनमें उपर्युक्त बाईस अवतारों के अलावा दो और अवतार हैं ---- ध्रुव और मनु।[3] इस प्रकार,

---

1. भागवत पुराण, 1.3.28.
2. वही, 1.3.6--25.
3. वही, 2.7.

"भागवत" में अवतार की अवधारणा में व्यापकता मिलती है, जिसके अंतर्गत ढेर सारे महान् माने जाने वाले व्यक्तियों का समावेश किया जाता है। इन सभी अवतारों का उद्देश्य महान् रहा है--लोक की रक्षा, लोक का कल्याण। इस पक्ष पर बल दिया गया है। यह लोक में इन व्यक्तियों, प्राणियों की प्रचलित महत्ता के साथ-साथ इनके महत्व को स्थापित करने की कोशिश का भी सूचक है। एक बात ध्यातव्य है कि यहाँ सिर्फ कल्कि ही नहीं, बल्कि बुद्ध को भी भविष्य में होने वाले अवतार के रूप में उपस्थित किया गया है। उनके बारे में कहा गया है कि कलियुग में मगध प्रदेश में देवताओं के द्वेषी दैत्यों को मोहित करने के लिए अजन के पुत्र के रूप में उनका अवतार होगा।

"भागवत" में वर्णित सभी अवतारों को लीलावतार कहा गया है। स्पष्ट है कि यहाँ पहली बार अवतारवाद के लीलात्मक रूप का व्यापक विवेचन किया गया है। किंतु, अवतारवाद के लोकपक्ष, उसके सामाजिक पक्ष की उपेक्षा नहीं की गई है। लीलावतार भी प्राणियों के अभ्युदय से जुड़े हुए हैं --

सर्वे लीलावतारास्ते भूतानां भूतिहेतवः ।[1]

कहने की आवश्यकता नहीं कि "भागवत पुराण" में अवतारवाद के व्यापक स्वरूप का विवेचन हुआ है, जिसका सीधा प्रभाव मध्यकालीन हिन्दी भक्तिकाव्य पर दिखायी पड़ता है। अवतारवाद को दृढ़ता प्रदान करने में, उसे व्यापकता प्रदान करने में इस ग्रंथ का अप्रतिम योगदान है, इसमें संदेह नहीं।

---

1. भागवत पुराण, 8.24.29.

"भागवत" में अवतार की अवधारणा में व्यापकता मिलती है, जिसके अंतर्गत ढेर सारे महान् माने जाने वाले व्यक्तियों का समावेश किया जाता है। इन सभी अवतारों का उद्देश्य महान् रहा है--लोक की रक्षा, लोक का कल्याण। इस पक्ष पर बल दिया गया है। यह लोक में इन व्यक्तियों, प्राणियों की प्रचलित महत्ता के साथ-साथ इनके महत्व को स्थापित करने की कोशिश का भी सूचक है। एक बात ध्यातव्य है कि यहाँ सिर्फ़ कल्कि ही नहीं, बल्कि बुद्ध को भी भविष्य में होने वाले अवतार के रूप में उपस्थित किया गया है। उनके बारे में कहा गया है कि कलियुग में मगध प्रदेश में देवताओं के द्वेषी दैत्यों को मोहित करने के लिए अजन के पुत्र के रूप में उनका अवतार होगा।

"भागवत" में वर्णित सभी अवतारों को लीलावतार कहा गया है। स्पष्ट है कि यहाँ पहली बार अवतारवाद के लीलात्मक रूप का व्यापक विवेचन किया गया है। किंतु, अवतारवाद के लोकपक्ष, उसके सामाजिक पक्ष की उपेक्षा नहीं की गई है। लीलावतार भी प्राणियों के अभ्युदय से जुड़े हुए हैं --

सर्वे लीलावतारास्ते भूतानां भूतिहेतवः ।[1]

कहने की आवश्यकता नहीं कि "भागवत पुराण" में अवतारवाद के व्यापक स्वरूप का विवेचन हुआ है, जिसका सीधा प्रभाव मध्यकालीन हिन्दी भक्तिकाव्य पर दिखायी पड़ता है। अवतारवाद को दृढ़ता प्रदान करने में, उसे व्यापकता प्रदान करने में इस ग्रंथ का अप्रतिम योगदान है,इसमें संदेह नहीं।

---

1. भागवत पुराण, 8.24.29.

"रामायण" "महाभारत" से लेकर "भागवत पुराण" तक अवतारवाद लंबी यात्रा तय करता है और स्वभावतः उसके स्वरूप में बदलाव घटित होता दिखायी देता है। लेकिन लोकरक्षा या लोक में धर्म की प्रतिष्ठा ऐसी प्रवृत्ति है, जो आरंभ से उससे जुड़ी हुई है और यही उसे एक मजबूत आधार भी प्रदान करती है। अवतार चाहे मानव रूप में हो या मानवेतर प्राणी के रूप में, उसका कार्य बराबर लोक से जुड़ा रहा है, लोक-कल्याण से जुड़ा रहा है। मत्स्य, कूर्म, वराह, वामन, नरसिंह सबके सब इसके उदाहरण हैं। इन सबका चरित्र मिथकीय है। ऐसे तो वामन, मत्स्य, कूर्म, वराह आदि अवतारों के बीच ब्राह्मण ग्रंथों में बिखरे मिलते हैं, लेकिन वे बीज रूप में ही हैं, वहाँ अवतार की अवधारणा की स्थिति स्वीकार नहीं की जा सकती। इनमें से वामन को छोड़कर, जिसका आधार वैदिक कालीन देवता विष्णु के तीन पगों को माना जा सकता है, बाकी का संबंध ब्राह्मणग्रंथों में विष्णु से नहीं, बल्कि प्रजापति ब्रह्मा से है और जैसी कि चर्चा की जा चुकी है, अवतार की अवधारणा का विकास विष्णु के संदर्भ में हुआ है। यह मूलतः वैष्णव धर्म की विशेषता है। अतः लोक में व्यापक स्तर पर प्रचलित रहने के बावजूद अवतार का सिद्धांत व्यवस्थित रूप में "महाभारत" में मिलता है और उसके बाद विभिन्न पुराणादि ग्रंथों में छा जाता है।

अवतारवाद की एक महत्वपूर्ण विशेषता है उसका संहतिवादी स्वरूप। यह सिर्फ मनुष्य के साथ मनुष्य का तादात्म्य ही नहीं, बल्कि मनुष्य के साथ अन्य जीवों के तादात्म्य की बात भी करता है। यह मानवीय सीमित संसार को व्यापक संसार से जोड़ने की कोशिश करता है। यही कारण है कि डॉ.डी.सी. सरकार जैसे विद्वान् देवता का पशुओं तथा मनुष्य के साथ तादात्म्य को अवतारवाद का आधार मानते हैं। उनके शब्दों में--

"The theory of the Avatara of a God... is based essentially on his identification with men and animals endowed, in old tales, with mysterious powers of assistance and molestation. ......Many such divinities were identified with the God Visnu at a later date."[1]

लोक में प्रचलित, विभिन्न जातियों, जनजातियों में पूजित पशुरूप देवताओं को विष्णु के साथ जोड़कर अवतार रूप में उनकी कल्पना की गई होगी। सामाजिक विकास की विशेष अवस्था में यह प्रक्रिया घटित हुई होगी। जिसकी ओर संकेत किया जा चुका है। बहुत से विद्वानों ने लंबे-चौड़े प्रमाणों के आधार पर कृष्ण को ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में स्वीकार किया है। संभव है, ऐसा रहा भी हो। किन्तु, कृष्ण जिस रूप में और जिस स्थिति में भगवान् के अवतार बनते हैं या स्वयं भगवान् बनते हैं, वह मिथकीय है और वे हमारे लिए अब एक मिथक के रूप में ही उपस्थित हैं। राम के साथ भी यह बात लागू हो सकती है। अवतारों में बुद्ध निश्चित रूप से ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। महान् लोकनायक और महान् करूणावान बुद्ध को भगवान का अवतार मान लिया गया। यह उनके महान् चरित्र के प्रति गहरे सम्मान के भाव का सूचक है। साथ ही, यह अवतारवाद के संहतिवादी स्वरूप का श्रेष्ठ प्रमाण भी है। बलराम को अवतार रूप में स्वीकार किया जाना भी ऐसा ही मामला है। विद्वानों का अनुमान है कि बलराम कोई अनार्य कृषिदेवता रहे होंगे, जैसा कि उनके दो अन्य नामों संकर्षण तथा हलायुध से स्पष्ट है। इस प्रकार, अवतारवाद के कारण वैष्णव धर्म में मजबूती आती है, उसमें व्यापकता आती है तथा परिवर्तनशील परिस्थितियों में समाज के अनुरूप ढलने की क्षमता विकसित होती है। मूलत: लोक-कल्याण, मानव-प्रेम पर आधारित अवतार के सिद्धांत ने देश के क्षेत्रीय तथा जनजातीय पृथकतावाद को कम करने में तथा सांस्कृतिक

---

1. डी.सी.सरकार : स्टडीज इन द रिलीजियस लाइफ ऑफ एन्शिएंट एण्ड मेडिएवल इंडिया, पृ.265.

एकता प्रदानकर एक समान सामाजिक ढाँचा स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अवतारवाद की उदार समन्वयवादी प्रकृति का ही सुफल है वह व्यापक मानवतावाद जो मध्यकालीन हिन्दी भक्तिकाव्य की मुख्य अंतर्धारा है।

तृतीय अध्याय

3· भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य में अवतारवाद : सामाजिक संदर्भ

3·1 भक्तिकालीन सामाजिक परिवेश

3·2 'भागवत पुराण': भक्तिकाव्य का मुख्य प्रेरक ग्रंथ

3·3 'भागवत' की भक्ति का सामाजिक पक्ष

3·4 "गीता" और "भागवत" की भक्ति में अंतर

3·5 राम भक्ति साहित्य में अवतारवाद : सामाजिक संदर्भ

3·6 तुलसीदास के साहित्य में अवतारवाद

3·7 अवतार का प्रयोजन : लोक-कल्याण

3·8 रामावतार और मध्यकालीन सामाजिक यथार्थ

3·9 रामावतार और सामंत विरोधी मूल्य

3·10 अन्य रामभक्त कवियों के साहित्य में अवतारवाद

3·11 कृष्ण भक्ति साहित्य में अवतारवाद : सामाजिक संदर्भ

3·12 सूरदास का साहित्य : कृष्णावतार तथा उसकी मनोहर लीलाओं से ओत-प्रोत

3·13 अवतार-प्रयोजन

3·14 अवतार का व्यापक रूप

3·15 कृष्णावतार और मध्यकालीन सामाजिक यथार्थ

3·16 सामंत-प्रजा द्वन्द्व : मुख्य सामाजिक अंतर्विरोध

3·17 अन्य कृष्णभक्त कवियों के साहित्य में अवतारवाद

3·17·1 परमानन्ददास

3·17·2 नन्ददास

3·17·3 कुम्भनदास

3·17·4 मीराबाई

3·17·5 रसखान

3·18 "कन्हावत" : कृष्णावतार का केन्द्रीय मिथक

----

3. भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य में अवतारवाद :

सामाजिक संदर्भ

3.1 भक्तिकालीन सामाजिक परिवेश

भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य में अभिव्यक्त अवतारवाद के विवेचन से पूर्व उस काल के सामाजिक परिवेश का विवेचन अपेक्षित है। अवतारवाद इस साहित्य का अत्यंत शक्तिशाली प्रेरक तत्व है। राम और कृष्ण भक्ति काव्य की मुख्य अंतर्धारा है अवतारवाद। वह इस काव्य की महिमा का आधार है। अवतार का मिथक गतिशील रहा है। इतिहास

और समाज के दबावों से उसमें रूपान्तर आता है। अपनी समृद्ध परंपरा - स्वरूप को ग्रहण करने के बावजूद तुलसीदास के राम को वाल्मीकि के राम की और सूरदास के कृष्ण को "महाभारत" या कि "श्रीमद्भागवतपुराण" के कृष्ण की प्रतिकृति नहीं कहा जा सकता है। इन दोनों चरित नायकों का जो व्यक्तित्व इस महान् काव्य में चित्रित हुआ है, उसे मध्यकालीन सामाजिक परिवेश से अलगाकर नहीं समझा जा सकता क्योंकि उसकी रचना में इस परिवेश की भूमिका रही है। भक्ति काव्य यदि महान है, तो इसका कारण यह है कि उसके रचनाकारों ने अपने समय के सामाजिक यथार्थ को गहराई से देखा और अपनी रचना में उसे प्रतिबिंबित किया है। इस तथ्य को नज़रअंदाज कर न तो उसकी साहित्यिकता का उद्घाटन और न ही उसकी महानता को रेखांकित किया जा सकता है। काव्य या मिथक में जिस सत्य की अभिव्यक्ति होती है, वह सामाजिक सत्य होता है तथा सामाजिक अनुभव की उपज होता है। क्रिस्टोफर कॉडवेल के शब्दों में ----

"काव्यात्मक अनुष्ठान, मिथ या नाटक का फंतासीपूर्ण लोक एक सामाजिक सत्य को -- मानवीय सहजवृत्तियों के केवल या वैयक्तिक अनुभव में नहीं बल्कि समुच्चय के अनुभव में प्रकट सत्य को -- अभिव्यक्त करता है।"[1]

कहने की आवश्यकता नहीं कि रचना में व्यक्त सत्य का स्रोत वह समाज है जिसमें रचनाकार साँस लेता है।

भक्ति काव्य का रचनाकाल मोटे तौर पर चौदहवीं से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक माना जाता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में यह कालखंड "भक्तिकाल" के नाम से अभिहित किया गया है। इस युग में

---

1. क्रिस्टोफर कॉडवेल : विभ्रम और यथार्थ, पृ. 32.

सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों पर भक्ति का गहरा प्रभाव था। संपूर्ण मानवीय चेतना भक्ति से जुड़ी हुई थी। भक्ति रचना का मुख्य प्रेरणा-स्रोत ही नहीं, बल्कि उसकी मुख्य अंतर्धारा भी थी। स्वभावतः भक्तिकाल के नामकरण के संबंध में कोई मतभेद नहीं है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने ग्रंथ "हिन्दी साहित्य का इतिहास" में भक्ति काव्य की दो धाराएँ मानी हैं — निर्गुण और सगुण। पुनः उन्होंने इन दोनों धाराओं को दो-दो शाखाओं में विभाजित किया है। निर्गुण धारा की शाखाएँ हैं ज्ञानाश्रयी तथा प्रेमाश्रयी और सगुण धारा राम भक्ति शाखा तथा कृष्ण भक्ति शाखा में विभक्त है। आचार्य शुक्ल द्वारा किये गये उपर्युक्त विभाजन को स्वीकार करते हुए सगुणमार्गी राम भक्ति तथा कृष्ण भक्ति काव्य में अभिव्यक्त अवतारवाद के सामाजिक संदर्भ की पड़तालसे पहले उस मध्यकालीन सामाजिक परिवेश की चर्चा अपेक्षित है, जिसमें उक्त काव्य स्वरूप ग्रहण करता है।

चौदहवीं शताब्दी और सत्रहवीं शताब्दी के बीच का भारतीय समाज अनेक ऐतिहासिक दबावों से गुजरा। चौदहवीं शताब्दी तक देश में इस्लामी शासन के पाँव अच्छी तरह जम चुके थे, हालाँकि विभिन्न मुसलमान शासक गद्दी के लिए आपस में लड़ते रहते थे। यह प्रक्रिया मुसलमानों के भारत आगमन के समय से ही शुरू हुई थी। ऐसी स्थिति में सामाजिक स्थिरता की गुंजाइश स्वभावतः कम थी। बारहवीं शताब्दी के अंत में मुहम्मद गोरी ने वास्तविक मुस्लिम राज्य की स्थापना की। 1192 ई. से लेकर 1526 ई. तक का काल भारतीय इतिहास में "सल्तनत काल" के रूप में जाना जाता है। 1526 ई. में बाबर द्वारा मुगल साम्राज्य की नींव रखी गई, जो लगभग ढाई सौ वर्षों तक कायम रहा।

मध्यकालीन भारतीय समाज सामंती समाज था। भारतीय सामंतवाद अगतिशील नहीं था। उसमें बदलाव होते रहे हैं। मुस्लिम

शासन की स्थापना के बाद के दौर को इतिहासकार भारतीय सामंतवाद का दूसरा दौर मानते हैं। सल्तनत शासन की स्थापना के काल से लेकर 1526 ई॰ तक एक के बाद एक गुलाम वंश, खिलजी वंश, तुगलक वंश, सैयद वंश तथा लोदी वंश का दिल्ली की गद्दी पर अधिकार रहा। उत्तर और दक्षिण भारत के अनेक राज्य दिल्ली की मुस्लिम सत्ता के अधीन हो गए थे और वे सल्तनत की सर्वोच्च सत्ता को स्वीकार करते थे। इस प्रकार, दिल्ली सल्तनत की स्थापना के साथ भारत में शक्तिशाली मध्ययुगीन राज्य का निर्माण होता है।

सल्तनत का स्वरूप सामंती था। दिल्ली के शासक के पास असीमित अधिकार होते थे। वज़ीर सबसे बड़े अधिकारी माने जाते थे, जिनका मुख्य काम था फौज की देखभाल करना तथा मालगुज़ारी वसूल करना। राज्य अनेक छोटे-छोटे प्रांतों में विभाजित था। सभी प्रांत मुसलमान गवर्नर के अधीन होते थे। रईस और राणा बड़े सामंत माने जाते थे। उनके पास विशेषाधिकार होते थे। सामंत वर्ग में रईस और राणा से नीचे के स्तर पर चौधरी, खूत और मुक़द्दम होते थे। चौधरी एक सौ गाँवों के समूह का हिन्दू प्रधान होता था। गाँव का मुखिया मुक़द्दम कहलाता था। प्रो॰ इरफान हबीब के अनुसार सामंत वर्ग के इस दूसरे स्तर के लोगों के पास काफी मात्रा में निजी ज़मीन होती थी और सामान्यतः वह जमीन करमुक्त होती थी। सुलतान और उसके अधिकारियों की ओर से ये सामंत किसानों से कर वसूलते थे।[1]

प्रसंगात इस बात की चर्चा अपेक्षित है कि भारत में इस्लाम के आगमन के बाद भारतीय समाज व्यवस्था में बदलाव आया कि नहीं।

---

1. रामशरण शर्मा (सं॰) : इंडियन सोसायटी : हिस्टॉरिकल प्रोबिंग्स, पृ॰ 296.

सामंती व्यवस्था पहले भी थी और बाद में भी बनी रही। स्पष्ट ही, कोई बुनियादी परिवर्तन घटित नहीं हुआ। इस संबंध में के. दामोदरन ने लिखा है ----

"मुसलमान आक्रामक अपने साथ एक नया धार्मिक दृष्टिकोण लाये थे, लेकिन उनके पास उत्पादन की कोई नई प्रणाली नहीं थी। वे भारत के सामंतवादी आधार को नहीं बदल सके। किंतु, उन्होंने सामंती स्वामित्व के कुछ नये रूपों को जारी किया और नये सामंती साम्राज्य को चलाने के लिए एक केन्द्रीय राज्य यंत्र का गठन किया।"[1]

उसी से मिलता-जुलता मत डॉ॰ रामविलास शर्मा का है, जो मानते हैं कि तुर्कों, मुगलों के आक्रमण एवं शासन के कारण भारतीय समाज में कोई ऐसा परिवर्तन नहीं हुआ, जिससे यहाँ के साहित्यिक-सांस्कृतिक जीवन को गहरे स्तर पर प्रभावित किया हो। उनका मानना है कि तुर्क आदि भारत की सामाजिक व्यवस्था में खप गये। उनके शब्दों में ----

"जहाँ तक तुर्कों का संबंध है, ये कबीलों के रूप में संगठित थे और सामंती व्यवस्था की प्रारंभिक मंजिलों से गुजर रहे थे। भारत में आकर उन्होंने सामंती व्यवस्था के बदले गणव्यवस्था कायम की हो, ऐसा नहीं हुआ, सामंतवाद के बदले यहाँ पूंजीवादी व्यवस्था कायम की हो, ऐसा भी नहीं हुआ। तब उन्होंने कौन-सा युग-परिवर्तन किया? वे यहाँ के सामाजिक ढाँचे में खप गये।"[2]

---

1. के. दामोदरन : भारतीय चिंतन परंपरा, पृ॰ 302.
2. रामविलास शर्मा : भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएँ, पृ॰ 140.

डॉ॰ शर्मा युग-परिवर्तन को अस्वीकार करते हैं। यहाँ वे सही हैं। किन्तु, सवाल यह है कि क्या तुर्कों के आने से भारतीय समाज में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन घटित ही नहीं हुआ? तुर्कों के आगमन से हुए तकनीकी या प्रौद्योगिकीय परिवर्तन की ओर इतिहासकारों ने ध्यान दिलाया है, किन्तु डॉ॰ शर्मा ने उसकी उपेक्षा की है। डॉ॰ इरफान हबीब ने तेरहवीं और चौदहवीं सदी के संदर्भ में "प्रौद्योगिकीय परिवर्तन और समाज" शीर्षक अपने शोध-निबंध में ठोस ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह दिखलाने का प्रयास किया है कि भारत में तुर्कों के शासन की स्थापना के बाद सिंचाई, वस्त्र उद्योग, कागज तथा घुड़सवार सेना-प्रौद्योगिकी आदि के क्षेत्रों में महत्वपूर्ण विकास हुआ। इन तकनीकी परिवर्तनों ने निश्चित रूप से तत्कालीन सामाजिक ढाँचे को प्रभावित किया। इनके द्वारा होने वाले परिवर्तनों की ओर संकेत करते हुए डॉ॰ हबीब ने लिखा है ---

"तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी के प्रौद्योगिक परिवर्तन आपेक्षिक रूप से काफी महत्वपूर्ण थे। उन्होंने शिल्प तथा कृषि उत्पादन को बढ़ाया और व्यापारिक गतिविधि को तीव्र किया। इस विकास द्वारा वर्ग-संबंधों में कुछ परिवर्तन आना आवश्यक था। नई तकनीक में कुशल कारीगर प्राप्त करने की ललक ने प्रशिक्षण और दासता के रूप में व्यक्तिगत नौकरी लागू करने को प्रोत्साहन दिया होगा।"[1]

स्पष्ट है कि तुर्कों के आगमन ने सामाजिक व्यवस्था को किसी-न-किसी रूप में प्रभावित किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस स्थिति का प्रभाव सिर्फ सामाजिक संबंधों पर ही नहीं, बल्कि साहित्य और संस्कृति पर भी पड़ा। भक्त कवियों के काव्य में इसके संकेत जगह-जगह मिलते हैं।

---

1. मध्यकालीन भारत, अंक-1, 1981, पृ॰ 27.

वस्तुतः सल्तनत काल में देश की सामाजिक स्थिति अत्यंत जटिल थी। भारत पर इस्लाम की विजय और इस्लामी शासन की स्थापना कोई ऐसी मामूली घटना नहीं थी, जिसे अनदेखा किया जा सके, जिसकी उपेक्षा की जा सके। उसने परंपरागत हिन्दू समाज को झकझोर दिया, उसे गहरे स्तर पर प्रभावित किया, आंदोलित किया। आक्रान्ता मुसलमानों ने देश की साधारण जनता पर जो अत्याचार किया, उसे जिस निर्ममता तथा नृशंसतापूर्वक कुचला, उसकी संस्कृति को नष्ट करने के लिए जो अमानवीय तरीके अपनाये, उसने भारत के जातीय मानस को हिला दिया। इस्लाम की विजय हिंदुओं की राजनीतिक पराजय भी थी तथा उनके लिए धार्मिक एवं सांस्कृतिक चुनौती तथा संकट भी। मुसलमानों के द्वारा हिन्दुओं के खिलाफ युद्ध सामान्यतः जिहाद की भावना से लड़े जाते थे और मुसलमानों के विजयी होने पर हिन्दुओं का कत्लेआम, उनको दास बना लिया जाना, मंदिरों का खंडन तथा नगरों की लूट सामान्य बातें थीं। स्वयं मुस्लिम इतिहासकारों के ग्रंथ धर्मान्ध सुलतानों के इन बर्बरतापूर्ण कार्यों से भरे पड़े हैं। शेख हमदानी द्वारा रचित ग्रंथ "जखीरत-उल-मुलूक" के अनुसार मुस्लिम राज्य में हिन्दू लोग नये मंदिर नहीं बनवा सकते थे, पुराने और खण्डित कर दिये गये मंदिरों का पुनर्निर्माण नहीं करवा सकते थे, मुसलमान यात्रियों को मंदिरों में ठहरने से नहीं रोक सकते थे, मुसलमानों के सामने घोड़ों पर नहीं चढ़ सकते थे, मुस्लिम मुहल्लों में नहीं बस सकते थे, अपने मुर्दों को लेकर जोर से विलाप नहीं कर सकते थे आदि।"[1]

जनता यह सब करने और सहने के लिए बाध्य थी। इसके अलावा हिन्दुओं को हिन्दू होने की कीमत "जजिया" के रूप में चुकानी पड़ती थी। यह स्थिति कितनी अपमानजनक रही होगी, इसका अनुमान लगाया जा सकता है। विद्यापति-कृत "कीर्तिलता" में युद्धकाल में तुर्कों द्वारा हिंदुओं के

---

1. आर.सी. मजूमदार द्वारा "द डेल्ही सल्तनत" में उद्धृत, पृ. 619.

प्रति की गई नृशंसता और बर्बरता का मार्मिक वर्णन मिलता है। यह उस समय के समाज की सचाई थी, जिससे आँख मूँदकर और या स्थिति को नज़रअंदाज कर इतिहास के साथ न्याय नहीं किया जा सकता है। निश्चय ही, उस स्थिति का नमक-मिर्च लगाकर, अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन स्वस्थ ऐतिहासिक दृष्टि का सूचक नहीं।

इस बात से इनकार करना कठिन है कि सल्तनत काल में अमुस्लिम दूसरे दर्जे के नागरिक थे। भारतीय समाज जाति-व्यवस्था के विष से तो ग्रस्त था ही। इस युग में ब्राह्मण-अब्राह्मण सभी हिन्दू "जजिया" की मार तथा अनेक तरह के इस्लामी आतंक को झेल रहे थे। मुस्लिम प्रशासन धर्म-परिवर्तन की प्रवृत्ति को बढ़ावा देता था, इसके लिए जोर-जबर्दस्ती का सहारा लेता था। इस तरह के अनेक दृष्टांत मिलते हैं। हिन्दू "जजिया" देकर अपने धर्म का पालन कर सकते थे। किन्तु हिन्दुओं को यह विकल्प देना सुलतानों की उदारता नहीं, बल्कि विवशता थी क्योंकि भारत में जहाँ हिन्दू बहुसंख्यक थे, वे "इस्लाम स्वीकार करो या मृत्यु का वरण करो" नीति का पालन नहीं कर सकते थे, हालाँकि जैसा कि स्वाभाविक है, यह असमान धार्मिक स्वतंत्रता भी रूढ़िवादी और कट्टर काज़ियों तथा उलेमा को पसंद नहीं थी। ज़ियाउद्दीन बरनी ने बड़े क्रोध के साथ लिखा है कि कुछ थोड़े-से टंकों के बदले अगर सुलतान काफिरों को धर्म की स्वतंत्रता देते रहेंगे, तो हिन्दुस्तान में इस्लाम का झण्डा बुलंद नहीं रह सकेगा।[1] अफीफ नामक एक अन्य इतिहासकार ने फिरोज तुगलक के वजीर से कहलाया है कि प्रशासन के दो ही उद्देश्य हैं--- एक, प्रजा की

---

1. रेहला ऑफ इब्नबतूता, एम. हुसैन द्वारा अनूदित, पृ. 261.

समृद्धि और रक्षा तथा दूसरा, राज्य विस्तार और काफिरों का सफाया।[1] एक ओर प्रजा की समृद्धि तथा रक्षा तथा दूसरी ओर काफिरों का सफाया —— यह अंतर्विरोधपूर्ण लगता है। वस्तुतः यहाँ प्रजा का बड़ा ही सीमित अर्थ लिया गया है। सचाई तो यह है कि शासक वर्ग को व्यापक प्रजाहित की उतनी चिन्ता नहीं जितनी इस्लामी रूढ़ि की। इस्लामी रूढ़ि की बुलंदी के लिए कुछ भी किया जा सकता था। काफिरों का अधिकाधिक दमन इसके लिए जरूरी समझा जाता था। वस्तुतः यह उसी चिन्ता की उपज था। सिकन्दर लोदी द्वारा हिंदुओं के यमुना-स्नान पर प्रतिबन्ध लगाया जाना[2] इसी बात का सूचक था। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसी स्थिति में समाज में शांति और सुव्यवस्था दुर्लभ थी। समाज उथल-पुथल के गहरे दौर से गुजर रहा था। शिक्षा और संस्कृति के अनेक महत्वपूर्ण केन्द्रों के नष्ट होने से हुई क्षति का अनुमान लगाया जा सकता है। आकस्मिक नहीं कि इतिहासकार जदुनाथ सरकार 1200 से 1500 ई. के बीच के भारत को "बौद्धिक रूप से एक मरूस्थल"[3] की संज्ञा देते हैं। "बौद्धिक रूप से एक मरूस्थल" —— यह संज्ञा, निश्चय ही, अतिशयोक्तिपूर्ण है। ऐसा नहीं है कि उस काल में ज्ञान-विज्ञान, साहित्य-संस्कृति और दर्शन के क्षेत्र में कुछ कार्य हो ही नहीं रहा था। विपरीत परिस्थितियों में भी इन क्षेत्रों में अपने ढंग से कार्य तो हो रहा था, किन्तु उसमें मौलिकता का अभाव था। वह कार्य दूसरे दरजे का था। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस युग को "टीका युग" की जो संज्ञा दी है, उसकी यही ध्वनि है। इस मरूस्थल में पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में कुछ नखलिस्तान दिखाई देते हैं, जो उस समय के जुझारू सांस्कृतिक नेताओं—— भक्त कवियों —— के प्रयास का परिणाम हैं।

---

1. ए.ए. रिजवी : तुगलककालीन भारत, भाग-2, पृ. 110.
2. प्रभुदयाल मीतल : ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास, प्राक्कथन, पृ. 13.
3. जदुनाथ सरकार : मुगल एडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 169.

1526 ई. में बाबर ने इब्राहीम लोदी को पराजित कर शक्तिशाली मुगल सत्ता की नींव रखी। सल्तनत काल के अंतिम दिनों में केन्द्रीय सत्ता कमजोर होती चली गई थी और स्थिति का फायदा उठाते हुए अनेक सामंतों ने स्वयं को स्वतंत्र घोषित कर लिया था। ऐसी अराजक स्थिति में सामान्य जनता अधिकाधिक शोषण का शिकार हुई। मुगल शासन की स्थापना के बाद यह अराजक स्थिति समाप्त हुई। मुगलों ने सामंतवाद का केन्द्रीकरण करने में सफलता पायी और बादशाह केन्द्रीय सत्ता का प्रतीक बन गया। मुगल शासक पूर्ववर्ती शासकों से अधिक प्रबुद्ध थे, अधिक उदार थे। उन्होंने देश में राजनीतिक एकता की स्थापना की जिसका आधार विभिन्न सूबों के प्रशासन में सादृश्य, समान मुद्रा-प्रणाली, राजकीय भाषा के रूप में फारसी का प्रयोग आदि थे। उनकी अपेक्षाकृत उदार नीति से हिन्दू-मुस्लिम अविरोध का स्वप्न चरितार्थ होता प्रतीत हुआ, एक अर्थ में शांति और सुव्यवस्था [9] का माहौल उभरता दिखाई पड़ा। इसी काल में पन्द्रहवीं शताब्दी में आरंभ हुआ भक्ति आंदोलन सूरदास, तुलसीदास आदि कवियों के रूप में अपनी चरम परिणति को प्राप्त हुआ।

यह बात सही है कि मुगलों के काल में समाज में स्थिरता का माहौल पैदा हुआ, अराजकता दूर हुई, हिन्दू-मुसलमान एक-दूसरे के निकट आये तथा उनमें एक-दूसरे की संस्कृति से परिचित होने तथा उसके श्रेष्ठ तत्वों को स्वीकार करने की प्रवृत्ति बढ़ी और इस प्रकार आपसी भाईचारे का संबंध कायम होता दिखाई पड़ा। किन्तु यह बात सापेक्ष रूप में ही सही है, वरना सामान्य जनता के भौतिक स्तर में कोई बड़ा बदलाव आ गया हो — ऐसी बात बिल्कुल नहीं है। जनता अब भी

शोषण के चक्र में पिस रही थी और अब भी उसका खून पीकर शासक सामंत वर्ग रँगरेलियाँ मना रहा था। जनता के आर्थिक जीवन की चर्चा के बिना उस काल के समाज का सही चित्र नहीं खींचा जा सकता है। आखिर सूर और तुलसी के गहन मानवतावाद का स्रोत उनके समय का लोकजीवन ही तो रहा है। स्पष्ट ही, उस काल के सामान्य जन के जीवन के सुख-दुःख से परिचित हुए बिना इन कवियों को सही परिप्रेक्ष्य में नहीं समझा जा सकता है।

मुगलकालीन भारतीय समाज की वर्ग-संरचना पर विचार करते हुए प्रो॰ इरफान हबीब ने लिखा है कि उस समय दो मुख्य वर्ग थे — सामंत वर्ग और सामान्य जनता का विशाल शोषित वर्ग। किन्तु, इन वर्गों के कई स्तर थे। जागीरदार, मनसबदार, जमींदार आदि सामंत वर्ग के विभिन्न स्तर थे। जागीरदार सम्राट् के अधिकारी और कर्मचारी होते थे। प्रायः उनके वेतन के बदले उन्हें जागीर दी जाती थी। शायद ही ऐसा कोई मामला होता था जिसमें जागीर वेतन के रूप में न दी जाकर "इनाम" के रूप में दी जाय — स्वतंत्र दान के रूप में बिना किसी इकरारनामे के।"[1]

आम तौर पर जागीरें बड़ी-बड़ी होती थीं— हजारों एकड़ तक की। जागीर कई तरह की होती थी। बड़े-बड़े राजपूत राजाओं के वंशगत राज्य एक विशेष प्रकार की जागीर माने जाते थे, जिन्हें "वतन" कहा जाता था। ऐसी जागीरें राजवंश के बाहर के किसी व्यक्ति

---

1. इंडियन सोसायटी : हिस्टॉरिकल प्रोबिंग्स, पृ॰ 302.

को न दी जा सकती थीं। वतन जागीरों के अलावा साधारण जागीरें होती थीं, जिनकी शक्ति अपेक्षाकृत कम होती थी और जिन्हें हस्तांतरित किया जा सकता था। ऐसे साधारण जागीरदारों द्वारा किसानों के शोषण की चर्चा करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है ——

"ये कभी भी एक जगह से दूसरी जगह भेजे जा सकते थे, इसलिए ये जागीर की उन्नति की ओर विशेष ध्यान न देते थे। जिस काम से भी उन्हें लाभ हो, उससे आगे चलकर किसान चाहे तबाह हो जायें, ये उसे करने में न हिचकिचाते थे। उनका तर्क यह था कि भूमि की उन्नति के लिए हम मेहनत करें तो उसका फल न हमें मिलेगा न हमारी संतान को मिलेगा। इसलिए जितना धन कमाते बने, कमा लेना चाहिए, किसान पर जो बीते सो बीते।"[1]

निश्चय ही, यह "लूट सको जो लूट" वाली स्थिति थी। ऐसा नहीं है कि सिर्फ जागीरदार ही ऐसा करते थे। अगर ऊपर की सत्ता की शह न मिलती, तो वे ऐसा नहीं कर पाते। प्रख्यात इतिहासकार डॉ.तपनराय चौधरी मुगल राज्य को "असंतोषनीय तिमिंगल" की संज्ञा देते हैं और धन की असीम भूख को उसका लक्षण मानते हैं। उनके शब्दों में ——

" The Mughal state was an insatiable Lekiathan: its impact on the economy was so defined above all by its unlimited appetite for resources."[2]

---

1. राम विलास शर्मा : भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद, भाग-2, पृ. 325.
2. तपन राय चौधरी एवं इरफान हबीब [सं.] : कैम्ब्रिज इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया, खण्ड-1, पृ. 173.

जहाँ की सर्वोच्च सत्ता धन की ऐसी दीवानी हो, वहाँ धन के लिए जो न हो जाय, सो कम है। धन की इस असीम भूख ने सामान्य जनता के जीवन को अत्यंत कष्टपूर्ण और दूसरों के परिश्रम का फल हड़पकर जीनेवाले विलासी सामंत वर्ग को अमानवीय बना दिया था। यह धन मुख्यतः भूमि कर के रूप में विशाल किसान वर्ग से वसूल किया जाता था।

मुगल काल में किसानों के कई स्तर-भेद थे। जमींदार भी एक तरह का किसान ही था जो भाड़े के श्रम से खेती करता था और अपनी पैदावार को बाजार में बेचता था। स्पष्ट ही, वह उच्च वर्ग का हिस्सा था। उसकी जीवन-शैली सामान्य किसानों की जीवन-शैली से काफ़ी अलग होती थी। यहाँ उस बहुसंख्यक किसान वर्ग की जीवन स्थितियों का विवेचन किया जा रहा है जिन्हें सही अर्थों में किसान कहा जा सकता है, जो अपने परिश्रम के बल पर खेती करते थे। इन वास्तविक खेतिहरों की हालत काफ़ी खराब थी। वे शासक वर्ग के भयंकर दमन के शिकार थे। उनपर करों का भारी बोझ था। फसल अच्छी हो या नहीं, उन्हें कर अदा करना था। जमींदारों द्वारा इस मामले में उनके साथ कोई रियायत नहीं की जाती थी। ऊपर से यह फरमान कि किसी भी स्थिति में ज़मीन को परती न छोड़ा जाय क्योंकि इससे सामंत वर्ग की आय में कमी हो जाती। कैसी भी विकट स्थिति हो, किसान खेती करने को बाध्य था। कर न अदा कर पाने पर किसानों की पिटाई की जाती थी। कांबले ने लिखा है कि यदि किसान सामंतों की तिजोरियाँ भरने के लिए अनेक अन्यायपूर्ण कर नहीं दे पाते थे, तो उनके साथ दुर्व्यवहार किया जाता था और उन्हें निर्दयतापूर्वक पीटा जाता था।[1]

---

1. जे.आर. कांबले : पर्स्यूट ऑफ इक्वालिटी इन इंडियन हिस्ट्री, पृ. 68.

किसानों की दयनीयता, उनकी पीड़ा की कल्पना की जा सकती है। इतना ही नहीं, कांब्ले ने आगे लिखा है कि किसानों को पत्नी और बच्चों सहित बाज़ार में ले जाकर बेच दिया जाता था।[1]

किसानों का जीवन इतना कष्टपूर्ण था कि अपनी जीवन रक्षक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी उनके पास पर्याप्त पैसे नहीं होते थे। यह कैसी विडम्बना थी कि अनाज पैदा करने वालों के पास अनाज की कमी हो। अपने द्वारा उपजाये गये अनाज में से किसान अपने परिवार के उपभोग के लिए निम्नतम किस्म का अनाज ही रख पाता था। प्रो. इरफान हबीब के शब्दों में ---

".......Generally speaking, it was the lowest varieties, out of his produce, which the peasant was able to retain for his own family."[2]

कहने की आवश्यकता नहीं कि मुगलकाल में जनता के बहुसंख्यक भाग किसानों का भयंकर शोषण होता था और उसी के कारण उनकी हालत दयनीय बन गई थी। किसानों को इस हालत में पहुँचाने में मुख्य भूमिका सामंत वर्ग की थी, जिसे इतिहासकार मोरलैंड ने "निष्क्रिय साझेदार"[3] की संज्ञा दी है, जो उनकी उपज का अधिकांश हड़प लेता था। वस्तुतः शासक सामंत वर्ग किसानों का खून चूसने वाला था।

---

1. जे.आर.कांब्ले : पर्स्यूट ऑफ इक्वालिटी इन इंडियन हिस्ट्री, पृ.68.
2. इरफान हबीब : एग्रेरियन सिस्टम ऑफ मुगल इंडिया, पृ.90-91.
3. डब्ल्यू.एच.मोरलैंड : इंडिया ऐट द डेथ ऑफ अकबर, पृ.136.

अन्य मेहनतकश वर्गों की हालत कम दयनीय नहीं थी। प्रतिकूल मौसम में उनकी स्थिति बेहद खराब होती थी। वे ज़मींदार वर्ग के गहरे शोषण के शिकार थे। बेचारों को भूखों मरना पड़ता था। मोरलैंड ने बताया है कि ऐसी स्थिति में उनके सामने दो विकल्प थे — एक यह कि वे घर पर भूख से मरें तथा दूसरा यह कि सड़क पर या जंगल में भूख से मरें।[1] इस कथन से मज़दूरों की वास्तविक हालत की भयंकरता का अन्दाजा लगाया जा सकता है। ऊपर से स्थिति यह कि जब तक उनके मालिक न चाहें, तब तक वे गाँव छोड़कर कहीं नहीं जा सकते थे। उन दिनों आज की तरह रेलवे और कारखाने नहीं थे। अतः स्वभावतः आज की तुलना में मज़दूरों की माँग और इस प्रकार उनके लिए रोजगार के अवसर कम थे।

स्पष्ट है कि मुगलकाल में सामान्य जनता का जीवन कष्टमय था, दयनीय था। वह उच्च वर्ग के शोषण के चक्र में फँसी थी और उससे निकलने का कोई आसान मार्ग उसके सामने नहीं था। उस काल में अकाल भी अक्सर पड़ता था। उस समय उसकी हालत कितनी भयावह हो जाती होगी, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती है। इतिहास मुगलकाल में पड़े कुछ बड़े अकालों का विवरण और उस दौरान होने वाली भयंकर तबाही की सूचना भी देता है। इतिहास ही क्यों गोस्वामी तुलसीदास के काव्य ग्रंथ उस स्थिति का काफ़ी प्रामाणिक और अत्यंत मार्मिक चित्रण करते हैं। तुलसी जैसा समाजचेता कवि इतनी गहरी समस्या से बेखबर रहे, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती है। यथा प्रसंग उसका विवेचन किया जाएगा। यहाँ हमारा अभीष्ट मुगलकाल में जनता की वास्तविक जीवन-स्थितियों का रेखांकन है। अकाल के दौरान असंख्य गरीब मरते थे। जो बचते, वे अपने

---

1. डब्ल्यू. एच. मोरलैंड : इंडिया ऐट द डेथ ऑफ अकबर, पृ. 136.

बच्चों को सौदागरों के हाथों तुच्छ दाम में बेचने को विवश होते थे। सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में बरबोस ने कोरोमंडल के इलाकों के संबंध में लिखा है कि अकाल के चलते असंख्य लोग मर गए तथा लोगों ने अपने बच्चों को एक रुपये से भी कम दाम में बेचा --

"Famine caused heavy mortality, and children were sold for less than a rupee."[1]

इस दुःस्थिति का लाभ व्यापारी उठाते थे। बरबोस ने लिखा है कि उस समय मालाबार में जहाज भूखों के लिए खाद्यान्न लेकर आते थे और बदले में गुलामों को लादकर ले जाते थे। भूखों के लिए अनाज लाना और भूखों को ही गुलाम बनाकर ले जाना— क्या विडंबना थी। सीजर फ्रेडरिक ने 1560 ई. में गुजरात में बच्चों की बिक्री के बारे में लिखा है।[2] इस प्रकार बड़े पैमाने पर अकाल मौत, बच्चों की बिक्री, उनका गुलाम बनाया जाना आदि तथ्य दिल दहला देने वाले हैं। ध्यातव्य है कि ये तथ्य उस महान मुगलकालीन साम्राज्य के दौर के हैं जब महान् धर्म-निरपेक्ष सम्राट् अकबर का शासन हुआ करता था।

वास्तव में ये सारी स्थितियाँ अधिक चौंकाने वाली और अधिक कष्टकर तब मालूम पड़ती हैं, जब हम मुगलकाल के राजाओं, सामंतों की विलासमयता और अपार ऐश्वर्य का विवरण देखते हैं। उनकी जीवन-पद्धति विस्मयकारी थी। डॉ. तपन राय चौधरी के शब्दों में ---

---

1. मोरलैंड : इंडिया ऐट द डेथ ऑफ अकबर, पृ. 266.
2. कैम्ब्रिज इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया, खण्ड-1, पृ. 180.

".....the main charge on the ruling elite's income was the maintenance of a truly fabulous life-style."[1]

अर्थात् अभिजात शासक सामंत वर्ग की आय का मुख्य हिस्सा उनकी विस्मयकारी जीवन-पद्धति पर खर्च होता था। सम्राट् अकबर के शाही निवास का एक भाग "जनाना" कहलाता था, जिसमें पाँच हज़ार स्त्रियाँ रहती थीं और उनकी देखरेख के लिए नौकर चाकरों, स्त्री पहरेदारों, हिजड़ों तथा द्वाररक्षकों की विशाल फौज हुआ करती थी। "जनाना" में इतनी बड़ी संख्या में नारियों की उपस्थिति बादशाह अकबर की घोर विलासिता और विषय-भोग का प्रमाण है। शाही दरबार में मनोरंजन का भरपूर इंतज़ाम होता था और इस कार्य के लिए ढेर सारे कलाकार, कृपाणधारी तथा पहलवान तैनात किये गये थे। उस काल में ऐसे बहुत सारे कारखाने स्थापित किये गये थे, जिनमें अभिजात वर्ग की विलासिता की वस्तुएँ तैयार होती थीं। गहने-जेवरों की कोई कमी दरबार में नहीं थी। सम्राट् अकबर के लिए सालाना एक हज़ार पोशाकें तैयार की जाती थीं।[2] सम्राट् के हाथी सोने-चाँदी की मालाएँ पहनते थे और उनके लिए नौकरों की भरमार होती थी।[3] यह स्थिति कमोबेश संपूर्ण सामंत वर्ग की थी। उनकी विलासिता और उनके ऐश्वर्य का वर्णन अत्यंत कठिन है। उनका मुख्य लक्ष्य था जीवन में हर प्रकार का आनन्द प्राप्त करना। धन की उन्हें कोई कमी नहीं थी। मुगलकाल के सामंतों के बारे में मोरलैंड का मत है कि वे और कुछ नहीं, बल्कि "धन और ऐय्याशी का मिश्रण" हैं ––

"They are nothing but voluptuousness and wealth confusedly intermaingled."[4]

---

1. कैम्ब्रिज इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया, खण्ड-1, पृ. 180.
2. मोरलैंड : इंडिया ऐट द डेथ ऑफ अकबर, पृ. 258.
3. वही, पृ. 259.
4. वही, पृ. 261.

इस प्रकार, मुगलकाल में देश की आमदनी का एक महत्वपूर्ण हिस्सा सामंत वर्ग की अतिशय विलासी और भोगवादी जीवन-पद्धति पर खर्च होता था, जिसका बोझ उत्पादक वर्गों पर पड़ता था, जिनमें किसान, दस्तकार, छोटे व्यापारी, मजदूर आदि शामिल थे। जनता गरीबी और भुखमरी की मार झेलने को अभिशप्त थी और अभिजात वर्ग सुख-समृद्धि के क्षीरसागर में विश्राम कर रहा था। एक ओर टूटी-फूटी झोंपड़ियाँ, तो दूसरी ओर आलीशान भवन और बंगले। एक ओर बेशकीमती पोशाकों की भरमार, तो दूसरी ओर सामान्य लोग प्रायः नंगे -- सिर्फ़ कमर को छोड़कर जिसमें कपड़े का एक टुकड़ा लिपटा रहता था।[1] मुगलकालीन सामंती उच्च वर्ग की जीवन-पद्धति विलासिता और आडम्बर की समानार्थक बन गई है, इसमें संदेह नहीं।

माना जाना चाहिए कि जहाँ तक जनता की वास्तविक स्थिति का प्रश्न है, उसमें मुगलकाल में कोई खास फर्क नहीं आया था। वह पहले भी लुटती थी, अब भी लुट रही थी। उसके पसीने की कमाई तब भी हड़पी जा रही थी, और अब भी। 1468 ई. में भारत की यात्रा करने वाले रूसी यात्री निकितिन ने लिखा था ---

"The land is overstocked with people; but those in the country are miserable, while the nobles are extremely opulent and delight in luxury."[2]

---

1. कैम्ब्रिज इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया, खण्ड-1, पृ.456-60.
2. मोरलैंड : इंडिया ऐट द डैथ ऑफ अकबर, पृ.267 पर उद्धृत ।

अर्थात् देश की जनसंख्या अधिक है, किन्तु साधारण लोग बहुत ही गरीबी की ज़िंदगी बिता रहे हैं, जबकि सामंतों के पास धन-संपदा अपार है और वे ऐशोआराम की ज़िंदगी बिता रहे हैं। वास्तव में मुगलकाल में शोषण का एक पूरा चक्र था जिसमें स्वभावतः प्रत्येक अपने से कमजोर का शोषक था। आश्चर्य नहीं कि उस काल में भारतीय जनता की इस हालत को देखकर सर थॉमस रो को समुद्र की मछलियों की याद आती है, जहाँ प्रत्येक मछली अपने से छोटी मछली को खा जाती है ---

" The people of India live as fishes do in the sea -- the great ones eat up the little. For first the farmer robs the peasant, the gentleman robs the farmer, the greater robs the lesser, and the king robs all."[1]

मुगलकाल में शोषण की पूरी श्रृंखला का यह वस्तुपरक विवेचन है। थॉमस रो ने कितना सही लिखा है कि राजा सबसे बड़ा लुटेरा है। वस्तुतः मोरलैंड के इस मत से असहमत होना कठिन है कि पन्द्रहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक की भारतीय जनसंख्या का अधिकांश अतिशय दरिद्र था (..... from the fifteenth to the seventeenth century the great majority of the population of India were exceedingly poor)[2]

---

1. मोरलैंड : इंडिया ऐट द डेथ ऑफ अकबर, पृ. 269.
2. वही, पृ. 270.

उपर्युक्त विवेचन से मुगलकालीन भारतीय समाज का एक स्पष्ट चित्र सामने आता है। अक्सर मुगलकालीन सामाजिक स्थिति को रंग-रोगन लगाकर, आदर्श बनाकर प्रस्तुत किया जाता है और उसकी सुख-समृद्धि को स्वर्णाक्षरों में अंकित करने का प्रयास किया जाता है, उसका सामान्यीकरण किया जाता है। वस्तुतः यह वैज्ञानिक ऐतिहासिक दृष्टिकोण के अभाव का सूचक है। जैसा कि हमने देखा उस युग की जनता का जीवन अभावों का घर था। जब अधिकांश जनता का जीवन सुखी नहीं था, तो उस समाज को सुखी कहने का कोई आधार नहीं, कोई औचित्य नहीं। ठोस ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना कर किसी काल के समाज का प्रामाणिक चित्र खींचने का दावा नहीं किया जा सकता है।

किन्तु इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि पहले की तुलना में मुगलकाल में जनता का धार्मिक उत्पीड़न कम अवश्य हुआ था। सम्राट् अकबर अपेक्षया उदार शासक था। हिन्दुओं के साथ उसने मैत्रीपूर्ण संबंध कायम किये। पूर्ववर्ती शासकों द्वारा लगाये गये "जजिया" कर को उसने समाप्त कर दिया। यह हिन्दुओं के प्रति उसकी सद्भावना का सूचक है। अकबर ने प्रशासन तथा सेना के उच्च पदों पर हिन्दू सामंतों को नियुक्त किया। हिन्दू पंडित, कवि और कलाकार मौलवियों और उलमा के साथ उसके दरबार की शोभा बढ़ाते थे। हिन्दू और मुसलमानों के बड़े उत्सव राज्य की ओर से भी मनाये जाते थे। अकबर ने अपने राज्य को ठोस असांप्रदायिक और लोकप्रिय आधार पर सुदृढ़ करने की कोशिश की, इसमें सफलता कितनी मिली, यह अलग सवाल है। किन्तु, इसमें संदेह नहीं कि उसके धर्म संबंधी विचार उदारतापूर्ण तथा कट्टरता-विरोधी थे।

स्पष्ट है कि अकबर के प्रयासों के फलस्वरूप एक प्रकार के सामंजस्य का माहौल तैयार हुआ। यह अलग बात है कि यह स्थिति ज्यादा समय तक बरकरार नहीं रह सकी। परवर्ती मुगल शासक जहाँगीर और शाहजहाँ अकबर के समान उदार नहीं थे, हालाँकि उन्हें धर्मान्ध भी नहीं कहा जा सकता है। किन्तु यही बात औरंगजेब के संबंध में नहीं कही जा सकती है। उसके काल में धार्मिक असहिष्णुता खुलकर सामने आई, प्रजा का उत्पीड़न बढ़ा। साथ ही, स्थानीय सामंती विद्रोह भी बढ़े। इन तत्वों ने मुगल साम्राज्य के पतन में योग दिया आदि।

इस प्रकार जिस काल में हिन्दी के महान् भक्तिकाव्य की रचना हुई, उसके आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन के विविध पक्षों के विवेचन से उस काव्य की वास्तविक पहचान में सुविधा होगी। जैसा कि कहा जा चुका है, मध्यकाल के सांस्कृतिक जीवन के दो महान् चरित नायक -- राम और कृष्ण -- इसी काल की सामाजिक चेतना की उपज हैं। उस काल से, उसके संपूर्ण परिप्रेक्ष्य से अलगाकर उनको नहीं समझा जा सकता है। उनके व्यक्तित्व में, उनकी लीलाओं में कहीं-न-कहीं उस काल की अनुगूँज सुनाई पड़ती है, जिसका विवेचन यथाप्रसंग किया जाएगा।

3.2 'भागवत पुराण': भक्तिकाव्य का मुख्य प्रेरक ग्रंथ

"भागवत पुराण" मध्यकाल का सर्वाधिक प्रभावशाली ग्रंथ रहा है। वह भक्तिकाव्य का मूल आधार है। वैसे तो भक्ति का विकास "गीता" के काल तक हो गया था और "गीता में ही सर्वप्रथम उसका व्यवस्थित प्रतिपादन मिलता है। जहाँ भक्ति को एक मजबूत आधार

मिलता है। किन्तु जैसा कि स्वाभाविक है अन्य अवधारणाओं की तरह भक्ति की अवधारणा भी एक गतिशील अवधारणा रही है। समय के दबावों में उसका स्वरूप परिवर्तनशील बना रहा है। पौराणिक साहित्य में भक्ति का व्यापक प्रतिपादन हुआ है, किंतु उसका उत्कर्ष "भागवत पुराण" में मिलता है। मध्यकालीन भक्तिकाव्य — विशेषकर सगुण भक्ति काव्य -- पर 'भागवत' का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है। राम-कृष्ण भक्तिकाव्य अपनी चेतना में "गीता" की अपेक्षा 'भागवत' के अधिक निकट है।

उपनिषद, गीता और ब्रह्मसूत्र को "प्रस्थानत्रयी" की संज्ञा दी गई है। इसी कड़ी में विद्वानों ने भागवत को चतुर्थ प्रस्थान माना है। वैष्णव भक्तिभावना पर "हरिवंश पुराण", विष्णु पुराण", "ब्रह्म वैवर्त पुराण", "पद्म पुराण" आदि का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। किन्तु इस मामले में भागवत इन सबसे आगे हैं। इतिहास और पुराण के योग से इसके प्रभावशाली व्यक्तित्व का विकास हुआ और इसका गहरा प्रभाव मध्यकाल के महान भक्तिकाव्य पर पड़ा। इसके अभाव में इस काव्य की कल्पना कठिन थी। मध्यकालीन भक्ति संप्रदायों की विभिन्न शाखाओं के विकास तथा भक्ति आंदोलन के स्वरूप के निर्धारण का बहुत कुछ श्रेय भागवत को है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता।

भक्तिकाल में रचे गये सगुण भक्ति काव्य को समझने के लिए "भागवत पुराण" में प्रतिपादित भक्ति की अवधारणा को समझना आवश्यक है। इस काव्य के ताने-बाने का शास्त्रीय आधार भागवत है। इसमें कृष्ण के जीवन की विभिन्न लौकिक लीलाओं को अत्यंत

काव्यात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। यह एक श्रेष्ठ दर्शनग्रंथ और श्रेष्ठ काव्य है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस संबंध में लिखा है --

"क्या कवित्व-भक्ति, क्या शास्त्रीय तत्व, क्या ज्ञान-चर्चा---भागवतपुराण किसी में अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानता।....इस महापुराण ने रामायण और महाभारत की भाँति समस्त भारतीय चिन्ता को बहुत दूर तक प्रभावित किया है। मध्ययुग में तो इसका प्रभाव उक्त दो ग्रंथों से कहीं अधिक रहा है।"[1] आचार्य द्विवेदी का उपर्युक्त कथन जरा भी अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है। भागवत ने मध्ययुगीन भक्तिचिन्तन और भक्ति काव्य को बहुत गहरे स्तर पर प्रभावित किया है। इस युग में जो महत्व भागवत को मिला वह अन्य किसी ग्रंथ को नहीं। भागवत में वर्णित परमात्मा के विभिन्न रूप मध्यकाल के भक्ति संप्रदायों में विभिन्न प्रकार से ग्रहण किये गये। सगुण भक्ति काव्य का मुख्य उपजीव्य ग्रंथ भागवत ही रहा है। इस काव्य पर भागवत के गहरे प्रभाव का अंदाजा इस बात से भी लगाया जा सकता है कि डॉ. कपिलदेव पाण्डेय इसमें वर्णित अवतारवाद को भागवत का अवतारवाद कहना पसंद करते हैं। उनके शब्दों में ---

"मध्यकालीन अवतारवाद को यदि 'भागवत' का अवतारवाद कहा जाय तो कोई अनुचित नहीं होगी।"[2]

मध्यकाल में "भागवत पुराण" कृष्ण भक्तिधारा के कवियों का मुख्य प्रेरक ग्रंथ बना रहा और उसमें वर्णित कृष्ण का रूप उनकी भक्ति का आलंबन रहा। "सूरसागर" पर भागवत के गहरे प्रभाव

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, खण्ड-3, पृ. 93.
2. कपिलदेव पाण्डेय : मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ. 306.

के विषय में मतभेद की गुंजाइश नहीं है। सूरदास ने भागवत के अनुसार "सूरसागर" की स्कन्धयोजना ही नहीं की है, बल्कि कथा-वर्णन के प्रसंग में जगह-जगह इस बात को रेखांकित भी किया है कि कथा भागवत के अनुसार कही जा रही है। भागवत के दशम स्कन्ध में वर्णित "रास पंचाध्यायी" बाद में अनेक काव्य-कृतियों की प्रेरणा बनी। स्वयं सूरदास ने दशमस्कन्ध के आधार पर लगभग पाँच हजार पदों की रचना की। वास्तव में कृष्ण भक्ति काव्य पर भागवत का प्रभाव इतना जाना-पहचाना विषय है कि प्रस्तुत प्रसंग में उसके विस्तारपूर्वक विवेचन का कोई औचित्य नहीं। किन्तु यही बात भक्तिकालीन रामभक्तिकाव्य के बारे में नहीं कही जा सकती है।

सच पूछा जाय तो मध्यकालीन कृष्णभक्तिकाव्य ही नहीं, बल्कि रामभक्तिकाव्य भी भागवत से प्रभावित है, गहरे प्रभावित है। तुलसीदास-कृत "रामचरितमानस" की न सिर्फ कथा-योजना भागवत से मिलती है, बल्कि दोनों की तान भी एक ही बिन्दु पर आकर मिलती है। दोनों ग्रंथों में बार-बार यह सवाल उठाया जाता है कि निर्गुण होकर भी परब्रह्म सगुण लीला कैसे करते हैं, दोनों में बार-बार यह संशय उठता है कि लीला के अवतार लेने वाले परब्रह्म परमेश्वर हैं कि नहीं, उनके अवतार के हेतु क्या हैं, उनकी लीला का रहस्य क्या है आदि। और बार-बार उत्तर मिलता है कि जो निर्गुण, निराकार ब्रह्म है, वही भक्तों के हितार्थ अवतार ग्रहण करता है, लीला करता है। दोनों ग्रंथों में भक्ति का आदर्श मोक्ष नहीं, लोक के कल्याण के लिए समर्पित जीवन है और दोनों में दूसरों के दुख से द्रवित होने वाली मनोवृत्ति ही भक्ति का पर्याय है। भागवत में कृष्ण को "सच्चिदानंदविग्रह" और "सर्वकारणकारण" कहा गया है। आकस्मिक

नहीं कि तुलसीदास भी राम को उसी रूप में देखते हैं ---

सोइ सच्चिदानंदघनरामा । अज विज्ञान रूप बलधामा ।।
व्यापक व्याप्य अखंड अनंता । अखिल अमोघ सक्ति भगवंता ।।[1]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में ---

"रामचरितमानस" या तुलसी-रामायण में भागवत के सिद्धांत भरे पड़े हैं। केवल अंतर इतना ही है कि भागवत में जो स्थान श्रीकृष्ण को दिया गया है वही स्थान रामायण में रामचन्द्र को दिया गया है, और भागवत में जहाँ माधुर्यभाव को प्रधान स्थान दिया गया है वहाँ रामायण में प्रीतिभाव को।"[2]

स्पष्ट है कि चाहे कृष्णभक्ति काव्य हो या रामभक्ति काव्य भागवत का गहरा प्रभाव उसपर पड़ा है। ये काव्य बहुत दूर तक भागवत की चेतना से अनुशासित हैं। इस दृष्टि से इसे भक्तिकाव्य का बीजग्रंथ माना जाना सर्वथा उचित है।

3.3 'भागवत' की भक्ति का सामाजिक पक्ष

भागवत का प्रधान प्रतिपाद्य भक्ति है। भक्ति का आरंभिक उल्लेख "भागवत माहात्म्य" में प्राप्त होता है जहाँ भक्ति नामक

---

1. गोस्वामी तुलसीदास : रामचरितमानस, उत्तरकांड, 72.2.
2. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, खण्ड-3, पृ. 93.

युवती माँ की कथा आती है। नारद कलियुग की दशा देखते हुए एक बार यमुना तट पर पहुँचते हैं। वहाँ भक्ति नामक खिन्नमना युवती से उनकी मुलाकात होती है। वह स्वयं को भक्ति बताती है और कहती है कि मेरे सामने अचेतावस्था में पड़े हुए दोनों वृद्ध पुरुष मेरे पुत्र हैं, जिनका नाम है ज्ञान और वैराग्य। समय के फेर से ये दोनों जर्जर हो गए हैं। इसी क्रम में वह अपने जन्म और विकास की कथा सुनाती है। वह द्रविड़ देश में जन्मी, कर्णाटक में सयानी हुई, कहीं-कहीं महाराष्ट्र में सम्मानित हुई, किंतु गुजरात में उसे बुढ़ापे ने आ घेरा। वह दुर्बल और निस्तेज हो गई। लेकिन, वृन्दावन आकर वह पुनः परम रूपवती तरुणी हो गई ---

"वृन्दावनं पुनः प्राप्य नवीनेव सुरूपिणी ।
जाताहं युवती सम्यक्प्रेष्ठरूपा तु साम्प्रतम् ।।"[1]

इस कथा से यह संकेत मिलता है कि जब समाज दुर्दशाग्रस्त था और आशा तथा विश्वास छीज रहे थे तब उस स्थिति में ज्ञान और वैराग्य से काम नहीं चल सकता था। वे जीवनरक्षक नहीं हो सकते थे। समाज के लिए प्रवृत्ति-मार्ग की अपेक्षा थी। जाहिर है कि वह भक्ति से ही मिल सकता था। नारद वृन्दावन को ऐसा स्थान बताते हैं, जहाँ सर्वत्र भक्ति नृत्य कर रही है --- "धन्यं वृन्दावनं तेन भक्तिर्नृत्यति यत्र च ।"[2]
वहाँ ज्ञान और वैराग्य को कोई पूछने वाला नहीं था। उनकी अचेतावस्था इसी बात का संकेत करती है।

---

1. भागवत पुराण, माहात्म्य, 1.50.
2. वही, 1.61.

"भागवत-माहात्म्य" में कहा गया है कि भगवान तप, वेदाध्ययन, ज्ञान, कर्म आदि किसी भी साधन से वश में नहीं किये जा सकते। वे केवल भक्ति के ही वशीभूत होते हैं, प्रमाण के रूप में गोपियों का हवाला दिया गया है। आगे कलियुग में एकमात्र भक्ति को सार मानते हुए उसी को मुक्तिदायी बताया गया है। श्लोक इस प्रकार हैं ---

न तपोभिर्न वेदैश्च न ज्ञानेनापि कर्मणा ।
हरिर्हि साध्यते भक्त्या प्रमाणं तत्र गोपिकाः ।।

नृणां जन्मसहस्रेण भक्तौ प्रीतिर्हि जायते ।
कलौ भक्तिः कलौ भक्तिर्भक्त्या कृष्णः पुरः स्थितः ।।[1]

भागवत में ऐकान्तिक भक्ति मार्ग का प्रतिपादन हुआ है। ग्यारहवें स्कन्ध के बीसवें अध्याय में भगवान कृष्ण उद्धव को ज्ञानयोग, कर्मयोग तथा भक्तियोग के बारे में बताते हैं। वे कहते हैं कि भक्तिमात्र से लोगों का कल्याण संभव है। दूसरे उपायों से जिन महनीय चीजों की प्राप्ति कठिनाई से होती है, उनको भक्ति के द्वारा आसानी से पाया जा सकता है। कृष्ण कहते हैं कि मेरे ऐकान्तिक भक्त केवल भक्ति को ही चाहते हैं, यहाँ तक कि मोक्ष भी नहीं चाहते, अन्य वस्तुओं की तो बात ही अलग है ---

न किंचित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम ।
वांछन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ।।[2]

---

1. भागवत पुराण, माहात्म्य, 2.18.19.
2. वही, 11.20.34.

भक्तिकाव्य में इस तरह के कथनों की भरमार है, जहाँ भक्ति को सर्वोपरि महत्ता दी गई है और मोक्ष आदि के विचार को ठुकराया गया है। वस्तुतः भक्तिकाव्य में ऐकान्तिक भक्ति का स्वर प्रबल रहा है, इसमें संदेह नहीं।

भागवत में भक्ति का मुख्य विवेचन "नवधा भक्ति" के नाम से प्रसिद्ध है। भक्त प्रह्लाद अपने पिता हिरण्यकशिपु से कहता है कि भगवान की भक्ति के नौ भेद हैं ---

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।।[1]

अर्थात् भगवान के गुण-लीला-नाम आदि का श्रवण, उन्हीं का कीर्तन, उनके रूप-नाम आदि का स्मरण, उनके चरणों की सेवा, पूजा-अर्चा, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन नवधा भक्ति हैं। आगे प्रह्लाद कहता है कि यदि भगवान के प्रति पूर्ण समर्पण भाव से यह नौ प्रकार की भक्ति की जाय तो उत्तम है। संपूर्ण भागवत में यह नवधा भक्ति फैली हुई है और आगे चलकर भक्ति के आचार्यों ने इसका विवेचन प्रस्तुत किया।

भागवत में जिस भक्ति का प्रतिपादन हुआ, वह कुछ विशिष्ट लोगों को ही उपलब्ध होने वाली या उन्हीं तक सीमित रहने वाली वस्तु नहीं है। यहाँ भक्ति सामान्य जन की वस्तु मानी गई, जिसे प्राप्त करने के लिए कोई विशेष योग्यता की जरूरत नहीं, किसी

---

1. भागवत पुराण, माहात्म्य, 7.5.23.

तामझाम की जरूरत नहीं। यह नीच से नीच प्राणी के लिए भी उपलब्ध है। ग्यारहवें स्कन्ध के दूसरे अध्याय में बताया गया है कि भक्ति के लिए यह नियम नहीं है कि व्यक्ति किसी विशेष प्रकार का कर्म ही करे। इसके लिए इतना ही पर्याप्त है कि वह शरीर से, वाणी से, मन से, इंद्रियों से, बुद्धि से, अनेक जन्मों अथवा एक जन्म की आदतों से स्वभाववश जो-जो करे, वह सब भगवान को समर्पित करने के भाव से करे, सच्ची श्रद्धा के साथ करे। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह अत्यंत सीधी, सरल भक्ति की कसौटी है।

भक्ति के विवेचन के प्रसंग में भागवत में सामान्य जनता का बराबर ध्यान रखा गया है। एक स्थल पर कहा गया है कि भगवान् के प्रेम के अधिकारी निर्धन लोग ही हैं। उनकी भक्ति में अधिक माधुर्य होता है। जो लोग अपने धन, कुल और कर्मों के मद से उन्मत्त होकर ऐसे साधुजनों का तिरस्कार करते हैं, उन दुर्बुद्धियों की पूजा भगवान कभी स्वीकार नहीं करते।[1] स्पष्ट है कि यहाँ भागवतकार उच्च वर्ग और उच्च वर्ण के लोगों के विशेषाधिकार को नकारता है और उनके मुकाबले सामान्य जनों को महत्वपूर्ण मानता है भक्ति के क्षेत्र में। प्रकारांतर से यह उनकी जीवन-पद्धति का विरोध है, उनके वैभव और ऐश्वर्य का विरोध है। एक अन्य स्थल पर द्विजों को अर्थवाद में भटकनेवाले मानते हुए कहा गया है कि मूर्ख होते हुए भी वे अपने को पंडित मानते हैं और अभिमान में अकड़े रहते हैं। उनमें रजोगुण की अधिकता होती है तथा उनकी कामनाओं की कोई सीमा नहीं होती। उनका क्रोध साँप के क्रोध की तरह होता है। वे बड़ी-बड़ी बनावटी बातें करते हैं और भक्तों की हँसी उड़ाते हैं।[2]

---

1. भागवत पुराण, 4.31.21.
2. वही, 11.5.5-7.

स्पष्ट है कि भागवतकार यह मानता है कि ऐसे द्विजों का भक्ति से कोई संबंध नहीं होता। सामान्य जनता ही भक्त होती है, भक्त होने की पात्रता रखती है। इससे भागवत की भक्ति के व्यापक सामाजिक आधार का पता चलता है।

यह कोई आकस्मिक बात नहीं है कि आरंभ में ब्रज के ब्राह्मणों ने कृष्ण का तिरस्कार किया। भागवत के एक प्रसंग के अनुसार भूख से व्याकुल ग्वालबालों को कृष्ण ब्राह्मणों के पास अन्न माँगने के लिए भेजते हैं। अपने को परम ज्ञानी मानने वाले वे ब्राह्मण अन्न नहीं देते हैं और उनका तिरस्कार करते हैं।[1] बहुत स्पष्ट है कि कर्मकांडी ब्राह्मण कृष्ण को नहीं स्वीकार करते हैं, उनकी उपेक्षा करते हैं। सीधे, सरल भक्तिमार्ग का प्रतिपादन करने वाले और इस प्रकार तथाकथित नीच से नीच लोगों को भी भक्ति का अधिकारी मानने वाले कृष्ण को यदि ब्राह्मणों ने स्वीकार न किया हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। एक अन्य प्रसंग में कृष्ण रुक्मिणी से कहते हैं कि मैं अकिंचन लोगों से प्रेम करता हूँ और वे लोग मुझे अत्यंत प्रिय हैं। यही कारण है कि धनी लोग मुझसे प्रेम नहीं करते, मेरी सेवा नहीं करते।[2] ये प्रसंग इस बात के संकेत हैं कि भागवत में भक्ति की जिस अवधारणा का विकास हुआ, वह सही अर्थों में एक व्यापक सामाजिक अवधारणा है। उसमें सामान्य जनता की जीवन-स्थितियों का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है, उनके सामान्य हितों का ध्यान रखा गया है। भागवत में एक अन्य स्थल पर भगवान कृष्ण कहते हैं कि जिस पर मैं कृपा करता हूँ, उसकी सारी संपत्ति धीरे-धीरे छीन लेता हूँ ---

---

1. भागवत पुराण, 10.23.6-9.
2. वही, 10.60.14.

यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।[1]

यह एक बहुत महत्वपूर्ण बात है। भगवान जिस व्यक्ति पर कृपा होते हैं, उसकी संपत्ति चली जाती है। स्पष्ट है कि धनी लोग विष्णु की भक्ति नहीं करते हैं और उनके लिए इस संबंध में कोई छूट भी नहीं है। इस अर्थ में भक्ति उतनी आसान चीज़ नहीं रह जाती है। संपत्ति गँवाने को तैयार रहने वाला व्यक्ति ही इस क्षेत्र में आ सकता है। जाहिर है कि भागवतकार उन लोगों के प्रति अपना विरोधभाव प्रकट कर रहा है, जो किसी भी उपाय से संपत्ति जमा करने में लगे रहते हैं। उसे इस बात का भी स्पष्ट बोध है कि बिना दूसरों का श्रमफल हड़पे संपत्ति जमा नहीं की जा सकती है। गलत-सही उपायों से संपत्ति जमा करने वाले और इस तरह असंख्य लोगों के कष्टों का कारण बनने वाले धनी लोगों और भक्ति में वैर बतलाकर भागवतकार ने भक्ति की महत्वपूर्ण सामाजिक भूमिका को रेखांकित किया है, उसके प्रगतिशील स्वरूप को रेखांकित किया है। यहाँ एक दूसरी बात भी ध्यातव्य है। वह यह कि उच्च वर्ग, सुविधाभोगी वर्ग के संदर्भ में सच्ची भक्ति की बात नहीं सोची जा सकती है। उनकी जीवन-स्थितियाँ उन्हें इस दिशा में प्रेरित नहीं करतीं। निर्धन व्यक्ति, अभावग्रस्त व्यक्ति ही सच्चा भक्त हो सकता है। उसके कष्ट, उसके अभाव उसे भक्ति की ओर प्रेरित करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि भक्ति लोगों के भौतिक अभावों, उनकी पीड़ाओं का परिणाम है। भक्ति का यह सामाजिक आधार महत्वपूर्ण है।

भागवत में न सिर्फ धनी लोगों का बल्कि उनका समर्थन करने वाली संस्थाओं का भी विरोध किया गया है। ऐसी सबसे

---

1. भागवत पुराण, 7.11.35.

महत्वपूर्ण संस्था है वर्ण-व्यवस्था। ऐसा नहीं है कि भागवत पूरी तरह से वर्ण-व्यवस्था का विरोधी है। यहाँ व्यक्तियों के गुणों और कर्मों पर आधारित वर्ण-व्यवस्था का समर्थन किया गया है। किन्तु, जन्म पर आधारित इस व्यवस्था का स्पष्ट विरोध मिलता है। भागवत के सातवें स्कन्ध के ग्यारहवें अध्याय में नारद युधिष्ठिर को विभिन्न वर्णों के लक्षणों का वर्णन करने के पश्चात् अंत में निष्कर्ष के रूप में कहते हैं कि जिस पुरुष के वर्ण को बतलाने वाला जो लक्षण कहा गया है, वह यदि दूसरे वर्ण वाले व्यक्ति में भी मिले तो उसे भी उसी वर्ण का समझना चाहिए।[1] उस काल की परिस्थितियों के हिसाब से यह घोषणा कम महत्वपूर्ण नहीं है। एक अन्य स्थल पर बताया गया है कि वर्ण, आश्रम, कुल के अहंभाव से रहित, अपने-पराये के भेदभाव से रहित तथा सभी के प्रति समताभाव रखनेवाला व्यक्ति ही भगवान का श्रेष्ठ भक्त है।[2]

इस प्रकार भागवत ने समाज के व्यापक जनसमूह के लिए भक्ति का आवाहन किया। इस कारण भक्ति-चेतना खेतों, खलिहानों और झोंपड़ियों तक पहुँच गई। उसकी अपील अत्यंत व्यापक और प्रभावशाली साबित हुई और समय पाकर वह एक जन आंदोलन के रूप में सामने आई। भागवत ने उसकी मजबूत पीठिका तैयार कर दी—भक्ति को व्यापक जनता के जीवन से गहरे स्तर पर जोड़कर। डॉ. प्रेमशंकर के शब्दों में —

"भक्ति का जो सामाजीकरण भागवत में हमें प्राप्त होता है, वह उसका सर्वाधिक मांगलिक पक्ष है। श्रीकृष्ण के आश्रय में सभी जातियों

---

1. भागवतपुराण, 7.11.35.
2. वही, 11.2.51-52.

और वर्गों का स्वागत हुआ तथा भावना के प्राधान्य ने उसे सुगम बना दिया।"[1]

कहने की आवश्यकता नहीं कि भागवत ने भक्ति को अत्यंत ठोस आधार पर प्रतिष्ठित किया, उसे लोकप्रिय बनाया। भक्ति आंदोलन की भक्ति चेतना भागवत की नींव पर स्थित है। भागवत की भक्ति प्रगतिशील तत्वों के मेल से निर्मित हुई। इसे कहीं से भी यथास्थितिवाद का पक्षधर नहीं माना जा सकता। भक्तिमात्र की चर्चा को यथास्थितिवाद और प्रतिक्रियावाद का प्रमाण मान लेने वाले लोगों से बहस का कोई औचित्य नहीं। यह उनके दिमागी दिवालियेपन के अलावा और कुछ नहीं है। भागवत की भक्ति की अवधारणा बहुत कुछ को तोड़ने वाली अवधारणा है, यथास्थितिवाद से उसका कोई लेना-देना नहीं। थॉमस जे. हॉपकिन्स ने अपने एक लेख में लिखा है ---

" The Bhagavata definitely does not represent the viewpoint of the established orthodox social and economic groups. On the contrary, the wealthy, learned and influencial supporters of the status quo appear as the prime opponents of devotional religion as it appears in the Bhagavata."[2]

अर्थात् "भागवत निश्चित रूप से स्थापित सामाजिक, आर्थिक समूहों के दृष्टिकोण को प्रस्तुत नहीं करता है। इसके विपरीत, यथास्थितिवाद के धनी, ज्ञानी और प्रभावशाली समर्थक भागवत द्वारा प्रतिपादित भक्तिपरक

---

1. प्रेमशंकर : भक्तिचिंतन की भूमिका, पृ. 113.
2. मिल्टन के. सिंगर [सं.] : कृष्ण : मिथ्स, राइट्स एण्ड एटीट्यूड्स, पृ. 21.

धर्म के मुख्य विरोधी हैं।" भागवत द्वारा प्रतिपादित और प्रचारित भक्ति की रचना में सामान्य जनता का गहरा योगदान रहा है। वस्तुतः इसका नेतृत्व उसी के हाथ में रहा है। भागवत ने सही अर्थों में भक्तिधर्म में सामान्य जनता की सक्रिय भागीदारी का मार्ग, प्रशस्त कर दिया।

3.4 "गीता" और "भागवत" की भक्ति में अंतर

जैसी कि चर्चा की जा चुकी है भक्ति का व्यवस्थित प्रतिपादन गीता में हो चुका था। वहाँ ज्ञान और कर्म के साथ भक्ति को भी मोक्ष-प्राप्ति का साधन माना गया। गीता में पहली बार भगवान् और भक्त में सीधा संबंध कायम हुआ, दोनों के बीच संवाद स्थापित हुआ। गीता में प्रतिपादित भक्ति का गहरा प्रभाव परवर्ती भक्ति-संबंधी विवेचन पर पड़ा। स्वयं भागवत भी इसका अपवाद नहीं। वास्तव में गीता में प्रस्तुत भक्ति की अवधारणा को भागवत ने अधिक व्यापक बनाया, अधिक लोकग्राह्य बनाया। गीता का आधार लेते हुए भी यहाँ भक्ति का स्वरूप वही नहीं रह जाता है, जो गीता में था। उसमें परिवर्तन होता है, जो वस्तुतः विकास का ही पर्याय है। भागवत में भक्ति का स्वतंत्र व्यक्तित्व निर्मित हुआ। परवर्ती काव्य-रचना पर भागवत का बहुत प्रभाव पड़ा। मध्यकालीन हिन्दी भक्ति काव्य की भक्ति संबंधी अवधारणा भागवत के अधिक निकट है गीता के मुकाबले। अतः भक्ति काव्य के विवेचन के पूर्व इस बात की संक्षेप में पड़ताल अपेक्षित है कि गीता और भागवत की भक्ति में असमानता के मुख्य बिन्दु क्या हैं।

गीता में कृष्ण भक्तिमार्ग की महत्ता स्थापित करते हैं। वे स्वयं परमेश्वर होकर भी मनुष्य रूप में बराबर उपस्थित हैं।

इस प्रकार वे भक्त तथा भगवान् के बीच मानवीय संबंध स्थापित करते तथा उसके महत्व को रेखांकित करते हैं। किंतु, गीता में ईश्वर और मनुष्य का संबंध वस्तुतः स्वामी और सेवक का संबंध ही रहता है। गीता के ग्यारहवें अध्याय में अर्जुन की प्रार्थना पर कृष्ण अपने विश्व रूप में प्रकट होते हैं। यह विश्वरूप सामान्य आँखों से देखना संभव नहीं। अतः वे अर्जुन को दिव्य चक्षु प्रदान करते हैं। दिव्य चक्षुओं की सहायता से विश्वरूप दर्शन के बाद अर्जुन सामान्य नहीं रह जाता, सहज नहीं रह जाता। वह पूरी तरह आतंकित हो जाता है, भय से काँपने लगता है और काँपते हाथों से कृष्ण को नमस्कार करता है ---

नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ।[1]

इसके पश्चात् अर्जुन बार-बार अपनी गलतियों के लिए क्षमा माँगता है। वह कृष्ण के पैरों पर गिर पड़ता है। स्पष्ट है कि ईश्वर का भयानक दिव्य रूप मानवीय संबंधों पर छा जाता है और संबंध सहज नहीं रह जाते हैं। यहाँ भक्त दास बन जाता है। उसका रवैया दास का रवैया बन जाता है। स्पष्ट है कि गीता की भक्ति बहुत भावपूर्ण और आत्मीय नहीं मानी जा सकती। वस्तुतः यहाँ भक्ति ईश्वर के प्रति एक प्रकार का अनुशासित ध्यान है।

किन्तु भागवत की भक्ति भावमयी है, आत्मीय है तथा बेतरतीब है। अनुशासन का कोई बंधन यहाँ नहीं। यह एकदम सहज, स्वाभाविक भक्ति है। गीता में भक्त और भगवान के बीच जो एक दरार-सी थी, वह यहाँ पट जाती है। किसी तरह के संकोच की गुंजाइश नहीं रहती।

---

1. भगवद्गीता, 11.35.

भागवत में भक्ति का संदर्भ बदल गया है -- कुरुक्षेत्र के मैदान की जगह वृन्दावन का एकान्त वनपथ। अब भक्त कोई योद्धा नहीं है जो ईश्वर के सामने भय से काँपने लगता है। अब तो गोपियाँ हैं जो कृष्ण के साथ क्रीड़ा करने के लिए जंगल की ओर दौड़ने में हिचकती नहीं, शरमाती नहीं। न सिर्फ़ भक्त बदले हैं, बल्कि भगवान भी। चतुर सारथी तथा महान राजनीतिज्ञ की जगह कृष्ण अब गोपाल हैं ---- तीनों लोकों को मोहित करने वाली बाँसुरी की मधुर धुन छेड़ने वाले खूबसूरत गोपाल। कृष्ण का यही गोपाल रूप मध्यकालीन हिन्दी भक्तिकाव्य पर छा जाता है और गीता के चतुर सारथी और राजनीतिज्ञ वाला रूप पीछे छूट जाता है। यह एक बहुत महत्वपूर्ण बिन्दु है, जिसे रेखांकित किया जाना चाहिए। निश्चय ही, कृष्ण के गीतोक्त रूप को नकारा नहीं जाता है, किन्तु केन्द्रीय महत्व मिलता है भागवत के गोपाल को

गीता के कृष्ण को मुख्यतः प्रेम का देवता नहीं माना जा सकता। वहाँ प्रेम-संबंध पर बल नहीं दिया गया है। गीता में भक्ति के साथ ज्ञान की पर्याप्त महत्ता बतायी गई है। कृष्ण ज्ञानी भक्तों को सर्व-श्रेष्ठ भक्त मानते हैं। किन्तु भागवत में ज्ञानी होना भक्त की श्रेष्ठता की कोई कसौटी नहीं। भक्त होना -- सच्चे अर्थों में भक्त होना पर्याप्त है। भागवत के दसवें स्कन्ध के नवें अध्याय में कहा गया है कि भगवान अपने प्रेमियों, भक्तों के लिए जितने सुलभ हैं उतने तपस्वियों तथा ज्ञानियों के लिए नहीं। हरि पूरी तरह से अपने प्रेमी भक्तों के वश में हैं --- "हरिणा भृत्यवश्यता।"[1] माना जाना चाहिए कि यह भाषा गीता से किंचित भिन्न है। भागवत में भगवान के प्रति पूर्ण समर्पण पर बल दिया गया है। वस्तुतः "भागवत" में रागानुगा भक्ति का अपूर्व जोर है, जिसके प्रवाह में गोप-गोपियाँ सभी बह जाते हैं।

---

1. भागवतपुराण, 10.9.19.

गीता के कृष्ण लोकरक्षक हैं। वे लोक में धर्म की संस्थापना के लिए अवतरित होते हैं। परवर्ती काल में उनका लोकरक्षक रूप धीरे-धीरे गौण पड़ता गया। भागवत तक आते-आते कृष्ण का लोकरंजक रूप महत्वपूर्ण हो गया, प्रेमी रूप महत्वपूर्ण हो गया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में ---

"भागवत ने कृष्ण की वह मधुर मूर्ति सामने रखी जो प्यार करने योग्य हुई --- उस ढंग का प्यार जिस ढंग के प्यार की प्रेरणा से माता-पिता अपने बच्चे को दुलारते, पुचकारते हैं, उस ढंग का प्यार जिस ढंग से प्यार की उमंग में प्रेमिका अपने प्रियतम का लपककर आलिंगन करती है। भागवत ने भगवान को प्यार करने के लिए भक्तों के बीच खड़ा कर दिया।[1]

कहने की आवश्यकता नहीं कि भागवत के भगवान और उसकी भक्ति के वास्तविक स्वरूप को आचार्य शुक्ल ने बिल्कुल सही परिप्रेक्ष्य में उपस्थित किया है। आचार्य शुक्ल भागवत की भक्ति को माधुर्य भाव की भक्ति मानते हैं। वे लिखते हैं ---

"श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण के मधुर रूप का विशेष वर्णन होने से भक्तिक्षेत्र में गोपियों के ढंग के प्रेम का, माधुर्य भाव का रास्ता खुला।"[2]

आचार्य शुक्ल माधुर्य भाव के जिस रास्ते के खुलने की बात करते हैं, हिन्दी भक्तिकाव्य -- विशेषकर कृष्णभक्ति काव्य में वह खूब चला, बल्कि कहना चाहिए कि वह और प्रशस्त हुआ। कृष्णभक्ति काव्य में वर्णित लीलाओं का आधार भागवत की लीला ही है। भागवत की गोपियाँ कृष्ण को परब्रह्म

- -

1. रामचंद्र शुक्ल : सूरदास, पृ. 18.
2. रामचंद्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 109.

के रूप में पहचानती हुई भी सहज हैं, उनकी दिव्यता से आतंकित नहीं है। सूर की गोपियों की स्थिति भी इससे भिन्न नहीं है। यहाँ सब कुछ सहज है, स्वाभाविक है। कोई संकोच नहीं, कोई दुराव-छिपाव नहीं होते। पं. विद्यानिवास मिश्र के अनुसार "गोपीकृष्ण हुए बिना श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुष नहीं हो सकते थे।"[1] स्पष्ट ही, भागवत के कृष्ण पूर्ण पुरुष हैं, गीता के कृष्ण नहीं। इस प्रकार भागवत में गीता के मुकाबले भक्ति का अधिक स्वतंत्र व्यक्तित्व निर्मित हुआ, उसकी ठोस विचार पीठिका निर्मित हुई जो राम-कृष्ण भक्ति काव्य का मुख्य प्रेरक स्रोत है।

3.5 रामभक्ति साहित्य में अवतारवाद : सामाजिक संदर्भ

राम के अवतार का मिथक भक्तिकालीन रामभक्ति काव्यधारा में अत्यंत व्यापक रूप में अभिव्यक्त हुआ है। राम के प्रति भक्ति भावना का उदय और विकास अवतारवाद के साथ गहरे रूप में जुड़ा हुआ है। सर्वप्रथम "रामायण" में रामावतार की कथा विस्तार प्राप्त करती है, जिसका विवेचन किया जा चुका है। पौराणिक साहित्य में राम ईश्वर के एक महत्वपूर्ण अवतार माने गये हैं, हालाँकि वहाँ रामकथा को व्यापकता नहीं मिली है। कालिदासकृत "रघुवंश" में रामावतार के मिथक का प्रामाणिक विवेचन हुआ है। आलवार भक्ति साहित्य रामचरित को पर्याप्त महत्व देता है। उसमें राम का उत्कर्ष दीख पड़ता है। महाकवि कम्बन-कृत "तमिल रामायण" की केन्द्रीय वस्तु रामकथा है। आलवारों ने इसे सांप्रदायिक ग्रंथ के रूप में स्वीकार किया है। बाद में

---

1. विद्यानिवास मिश्र : परमपुरुष श्रीकृष्ण, पृ. 47.

महान् दार्शनिक रामानुज ने दक्षिण में राम की पूजा को प्रोत्साहन दिया। उन्होंने सगुण ब्रह्म अथवा अवतार की अवधारणा को मजबूत शास्त्रीय पीठिका प्रदान की। रामानुज की शिष्य परंपरा में ही रामानन्द आते हैं, जिन्हें भक्ति को "सप्त द्वीप नव खंड" में प्रचारित-प्रसारित करने का श्रेय दिया जाता है। उन्होंने लोक कल्याणकारी रामावतार की भक्ति का व्यापक प्रचार-प्रसार किया। "अध्यात्म रामायण" में राम को साक्षात् सच्चिदानंद परब्रह्म मानते हुए उनके सगुण रूप को स्वीकार किया गया है, अवतार को मान्यता दी गई है। गोस्वामी तुलसीदास अपने महाकाव्य "रामचरितमानस" के जिन "नाना पुराण निगमागमसम्मत" होने की बात करते हैं, उनमें "अध्यात्म रामायण" भी शामिल है।

राम की चर्चा निर्गुण भक्तिधारा की रचनाओं में भी मिलती है। कबीरदास, रैदास, दादूदयाल आदि संत कवियों ने राम की "भक्ति" का प्रतिपादन किया है और खूब किया है। किन्तु ध्यातव्य है कि उनके राम वही नहीं हैं जो तुलसी आदि रामभक्त कवियों के राम हैं। सारे निर्गुणमार्गी संत कवि राम के सगुणत्व का एकान्त अस्वीकार करते हैं। दशरथ-सुत राम में उनकी आस्था नहीं। कबीर के शब्दों में ---

> दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना ।
> राम नाम का मरम है आना ।।[1]

संत कवियों के राम निर्गुण हैं, अंतर्यामी हैं, घट-घट वासी हैं। वे अव्यक्त ब्रह्म हैं। वे उसी राम को जपने की बात करते हैं। अवतारों के नाशवान

---

1. कबीर बीजक, पद 3.

होने की चर्चा करते हुए कबीर उन्हें माया मानते हैं ---

दस अवतार ईस्वरी माया, कर्त्ता कै जिन पूजा ।
कहैं कबीर सुनो हो संतों, उपजे खपै सो दूजा ।।[1]

स्पष्ट है कि संत कवियों के राम सिर्फ नाम के ही राम हैं। उन्होंने ऐसे राम को हरि, नारायण, पारब्रह्म, केशव, गोविन्द, गोपाल, माधव आदि शब्दों से भी अभिहित किया है। उनका राम सिर्फ निर्गुण, निराकार ब्रह्म का सूचक है, अवतार नहीं। अतः अवतारवाद के विवेचन के प्रसंग में निर्गुण भक्तिधारा की रचनाओं की चर्चा का विशेष औचित्य नहीं।

सगुणमार्गी रामभक्ति काव्यधारा की केन्द्रीय वस्तु है रामचरित। किन्तु हिन्दी में तुलसीदास के पूर्व ऐसा कोई महत्वपूर्ण कवि नहीं हुआ, जिसने ऐसी कोई रचना की हो जो उल्लेखनीय हो। विभिन्न कवियों द्वारा फुटकल पदों में रामभक्ति की महिमा अवश्य गाई जा रही थी। तुलसीदास ने अपनी कालजयी रचनाओं में रामभक्ति का विशद साहित्यिक संदर्भ संघटित किया जिससे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "हिन्दी काव्य की प्रौढ़ता के युग का आरंभ हुआ।"[2] माना जाना चाहिए कि अवतारवादी हिन्दी राम साहित्य की परंपरा तुलसीदास से प्रारंभ होती है।

3.6 तुलसीदास के साहित्य में अवतारवाद

गोस्वामी तुलसीदास का आविर्भाव सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में माना जाता है। यह वह समय था, जब भारत में

---

1. कबीर बीजक, पद - 27.
2. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 86.

इस्लामी शासन के पाँव अच्छी तरह जम चुके थे। सन् 1526 ई. में बाबर के नेतृत्व में शक्तिशाली मुगल साम्राज्य की स्थापना हुई। इसके साथ ही भारतीय समाज में शांति और सौहार्द्र का अपेक्षाकृत बेहतर वातावरण निर्मित हुआ माना जाता है। मुगलकालीन भारतीय सामाजिक परिवेश का विवेचन सरसरी निगाह से प्रस्तुत किया जा चुका है। फिर भी तुलसीदास के साहित्य में अभिव्यक्त अवतारवाद के विभिन्न पक्षों के विवेचन के सिलसिले में उस परिवेश के विभिन्न पक्षों का विवेचन भी स्वाभाविक है। आखिर राम का जो मिथक तुलसी के साहित्य में प्रस्तुत होता है, वह कोई हवा की वस्तु तो है नहीं। कवि-मानस और मध्यकाल के सामाजिक परिवेश के घात-प्रतिघात से ही उसकी रचना हुई है।

जैसी कि चर्चा की जा चुकी है मध्यकाल में रामावतार का मिथक कोई नई वस्तु नहीं था। माना जाना चाहिए कि तुलसीदास को वह विरासत में मिला था। लेकिन तुलसी के हाथ में आकर वह अपना स्वरूप बदलता है, जो एकदम स्वाभाविक है और इसलिए वैज्ञानिक भी। वस्तुतः तुलसीदास के मिथक-बोध का विकास मध्यकालीन परिवेश में हुआ। राम का जो मिथक एक तरह से उन्हें विरासत में मिला, उसे उन्होंने हू-ब-हू उसी रूप में स्वीकार नहीं किया। तुलसी ने उस मिथक को स्वीकार किया अपने युग की नई प्रासंगिकता के बीच। राम के मिथक के नये स्वरूप की रचना में मध्यकाल के भारतीय मनुष्य की जीवन-स्थितियों की गहरी भूमिका रही है। कहा जा सकता है कि उस युग के कष्टों तथा संघर्षों ने राम के मिथक में अपनी आस्था की खोज की। मध्यकाल की जनता की मनःस्थिति का आदर्श रामावतार के मिथक के रूप में सामने आया।

मिथक के स्वरूप, उसकी रचना के स्रोत के विवेचन के प्रसंग में इस बात की चर्चा की जा चुकी है कि मिथक काल विशेष से जुड़ा रहता है। लेकिन वह ऐतिहासिक काल न होकर पावन काल होता है, जिसे मिथकीय काल कहना समीचीन है। हिन्दी रामभक्तिकाव्य के महान प्रणेता तुलसी मध्यकाल के व्यक्ति थे। यह ऐतिहासिक काल है। लेकिन उन्होंने राम के जिस मिथक को उठाया, वह मिथकीय काल में घटित हुआ था। अतः उन्होंने उस काल को, उसमें घटित मिथक को मध्यकाल की लोकचेतना में ढालकर प्रस्तुत किया तथा साथ ही अपने काल के सामाजिक यथार्थ को अच्छी तरह छानकर एवं उपयुक्त स्वरूप प्रदानकर मिथकीय काल के माध्यम से उपस्थित किया। स्पष्ट है कि उनका समकालीन समाज किसी-न-किसी रूप में वहाँ उपस्थित है। यही उनके कृतित्व की नित्यता का महत्वपूर्ण विधायक तत्व है।

तुलसीदास की रचनाओं में कलियुग की चर्चा जगह-जगह मिलती है। "रामचरितमानस" तथा "कवितावली" में कलियुग के संदर्भ भरे पड़े हैं। वास्तव में तुलसी ने कलियुग के वर्णन में अपने समकालीन समाज के यथार्थ का ही अंकन किया है। तुलसी बार-बार इस बात को रेखांकित करते हैं कि राम कथा लोक कल्याणकारी है। "रामचरितमानस" के आरंभिक अंशों में रामभक्ति से पूर्ण कविता की महिमा का बखान करते हुए वे कहते हैं ----

मंगल करनि कलि मल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की ।[1]

---

1. गोस्वामी तुलसीदास : रामचरितमानस, बालकाण्ड, 10 छन्द.

रामकथा कल्याणकारी है और कलियुग के पापों को, उसकी गंदगी को दूर करने वाली है। यह अपने समाज से उसकी गहरी संपृक्ति का सूचक है। तुलसी की दृष्टि में मध्यकाल में योग-संयम, समाधि आदि साधन पूरी तरह इसलिए निरर्थक हो गए हैं कि उन्हें कलियुग रूपी रोग ने जकड़ लिया है। राम भक्ति को एकमात्र कारगर साधन मानते हुए वे कहते हैं ---

> एक ही साधन सब रिद्धि-सिद्धि साधि रे ।
> ग्रसे कलि-रोग जोग-संजम-समाधि रे ।।[1]

अपने समकालीन कलियुगी समाज के लिए तुलसीदास को जो एकमात्र मार्ग सूझता है, वह है राम की भक्ति । "कलि-रोग" यह पदावली उनके युग की भयानक दुःस्थिति तथा उससे उत्पन्न चिन्ता का गहरा प्रमाण है। आकस्मिक नहीं कि तुलसी ने "विनयपत्रिका" में राम के अवतार को कलियुग रूपी सर्प को ग्रसने के लिए साक्षात् गरूड़ के रूप में देखा है ---

> काल-कलि-व्यालमिव वैनतेयं ।[2]

स्पष्ट है कि अपने समकालीन समाज की दुःस्थिति तुलसी को परेशान कर रही थी और राम के मिथक की रचना करते समय, राम कथा की रचना करते समय वह बराबर उनके मानस में उपस्थित रही है। तुलसी के साहित्य में व्यक्त अवतारवाद के विवेचन के प्रसंग में यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। तुलसी की अवतार-संबंधी अवधारणा कलियुग की काट मानी जा सकती है।

---

1. गोस्वामी तुलसीदास : विनयपत्रिका, पद 66.
2. वही, 50.

3.7 <u>अवतार का प्रयोजन : लोक-कल्याण</u>

तुलसीदास का मत है कि अरूप, निर्गुण, सच्चिदानंद परमेश्वर ही विभिन्न रूपों में अवतार ग्रहण करते हैं। ऐसा वह सिर्फ भक्तों के लिए करते हैं, उनके कल्याण के लिए करते हैं ---

एक अनीह अरूप अनामा । अज सच्चिदानंद पर धामा ।।
व्यापक विस्वरूप भगवाना । तेहिं धरि देह चरित कृत नाना ।।
सो केवल भगतन हित लागी । परम कृपाल प्रनत अनुरागी ।।[1]

भगवान परम कृपालु तथा शरणागत के रक्षक हैं, उससे प्रेम करने वाले हैं। इसी कारण से अवतार लेते हैं। ध्यातव्य है कि, यहाँ "भागवत पुराण" का प्रभाव स्पष्ट है। किन्तु यहाँ तुलसी जिस निर्गुण, निराकार परमेश्वर के अवतरित होने की बात करते हैं, वह एक तरह की पहेली बन जाती है -- सामान्य भक्तों के लिए। इससे शंका पैदा होना अत्यंत स्वाभाविक है। मानस के बालकाण्ड में इसी शंका को व्यक्त करते हुए सती शिवजी से सवाल करती हैं --

ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद ।
सो कि देह धरि होई नर जाहि न जानत बेद ।।[2]

यह सवाल उन्हें बेहद परेशान कर रहा है। शिवजी उनकी इस शंका का समाधान यह कहकर करते हैं कि भगवान अपने भक्तों के कल्याण के लिए अपनी इच्छा से अवतार लेते हैं। इसी कारण से रघुकुल में राम रूप में अवतरित हुए हैं--

- -

1. रामचरितमानस, बालकाण्ड 13.2-3.
2. वही, दोहा 50.

अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुलमनी ।[1]

किंतु यह जवाब सती को संतुष्ट नहीं कर पाता है। अगले जन्म में उमा रूप में यह सवाल उन्हें मथता रहता है और वे शिवजी से पूछती हैं कि राम यदि दशरथ के पुत्र हैं तो फिर ब्रह्म कैसे हैं ---

जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि नारि बिरह मति भोरि ।
देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि ।।[2]

तथा यदि निर्गुण ब्रह्म सगुण रूप धारण करता है, अवतार ग्रहण करता है तो इसका क्या कारण है ---

प्रथम सो कारन कहहु बिचारी । निर्गुन ब्रह्म सगुन बपुधारी ।।[3]

शिवजी उमा के प्रश्न का जो उत्तर देते हैं, वह अत्यंत महत्वपूर्ण है। निर्गुण-सगुण विवाद के संदर्भ में यह एक महत्वपूर्ण प्रसंग है। शिवजी कहते हैं कि बाकी सब तो ठीक है, लेकिन तुम्हारी एक बात मुझे बिल्कुल अच्छी नहीं लगी ---

तुम्ह जो कहा राम कोउ आना।जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना।
कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच ।
पाषंडी हरि पद बिमुख जानहिं झूठ न साच ।।[4]

---

1. रामचरितमानस, बालकाण्ड 51 छन्द
2. वही, 108.
3. वही, 110.2.
4. वही, 114.4.

वस्तुतः तुलसीदास यहाँ उन "अधम" लोगों को करारा जवाब दे रहे हैं, जो निर्गुण और सगुण को अलग-अलग कर देखते तथा इस प्रकार अपने अधूरे दृष्टिकोण को प्रकट करते हैं। कवि की दृष्टि में ऐसे लोग अज्ञानी हैं, अविवेकी हैं तथा पाखंडी भी हैं। विद्वानों ने लक्ष्य किया है कि यहाँ तुलसीदास ने निर्गुणमार्गी कबीरदास के मत का खंडन किया है, उनपर चोट की है। आगे की चौपाइयों में वे उन "अधम" लोगों की निन्दा में कलम तोड़ देते हैं। संभव है उनके ध्यान में कबीर आदि निर्गुणपंथी साधक ही रहे हों। किन्तु एक बात अत्यंत स्पष्ट है कि उक्त प्रसंग में तुलसीदास उन लोगों को उत्तर देते हैं, जो अवतार की अवधारणा के विरोधी थे। इस प्रकार वे अवतारवाद को एक बहुत मजबूत भित्ति प्रदान करते हैं, मजबूत आधार प्रदान करते हैं। यह पुराणसम्मत तो है ही, साथ ही मध्यकालीन विशृंखल समाज में समन्वयवाद की प्रवृत्ति के द्वारा सुव्यवस्था लाने के उनके प्रयास का सूचक भी है। वे निर्गुण और सगुण को तत्वतः एक मानते हैं तथा मानते हैं कि निर्गुण ब्रह्म भक्तों के प्रेमवश सगुण बनता है, अवतार लेता है। उनके शब्दों में ---

सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा । गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा ।।
अगुन अरूप अलख अज जोई । भगत प्रेम बस सगुन सो होई ।।
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे । जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसे ।।[1]

कवि जल और ओले के अभिन्नत्व के उदाहरण से निर्गुण-सगुण की तात्विक एकता को स्पष्ट करता है। अवतार के मुख्य कारण के रूप में कवि प्रेम को रेखांकित करता है। वस्तुतः सही अर्थों में यह प्रेम अवतार के माध्यम से ही प्रकट हो सकता है। यह प्रेम धरती और आकाश को जोड़नेवाला सबसे

---

1. रामचरितमानस, बालकाण्ड 116.1-2.

महत्वपूर्ण सूत्र है। यह भक्त को भगवान से और भगवान को भक्त से जोड़ता है। जिस युग में समाज में विभिन्न तरह के उपद्रव हों, कलह हो, अशांति और अव्यवस्था हो, लोगों में परस्पर घृणा और विद्वेष हो, वहाँ प्रेम पर बल देना, अवतार के महत्वपूर्ण कारण के रूप में उसे रेखांकित करना काफ़ी महत्वपूर्ण संकेत है।

तुलसी के साहित्य में अवतार का एक ही प्रयोजन नहीं है। भगवान के अवतार के अनेक प्रयोजन हैं, अनेक कारण हैं। शिवजी उमा से कहते हैं कि भगवान का अवतार जिस कारण से होता है, वह कारण बस यही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता ---

हरि अवतार हेतु जेहि होई । इदमित्थं कहि जाइ न सोई ।।[1]

तथा

राम जनम के हेतु अनेका । परम विचित्र एक तें एका ।।[2]

सिर्फ़ यह नहीं कि अवतार के अनेक हेतु हैं, वरन् वे एक-से-एक विचित्र हैं। स्वयं तुलसी के अनुसार सबको जाना नहीं जा सकता, सबका वर्णन नहीं किया जा सकता। किन्तु तुलसीदास के साहित्य में इस संबंध में जो वर्णन उपलब्ध हैं, उनका विवेचन अपेक्षित एवं प्रासंगिक है।

तुलसीदास का मत है कि राम अनंत हैं, उनके गुण अनंत हैं तथा उनकी गाथा भी अनंत है ---

- -

1. रामचरितमानस, बालकाण्ड ।21। 1।

2. वही, ।22। 1।

राम अनंत अनंत गुन अमित कथा बिस्तार ।
सुनि आचरजु न मानिहहिं जिन्ह कें बिमल बिचार ।।[1]

स्पष्ट ही, जब राम अनंत हैं, उनकी गाथा अनंत है, तो राम के अवतार भी असंख्य हैं। वे अनेक प्रकार से अनेक रूपों में अवतार ग्रहण करते हैं। तुलसीदास के शब्दों में ---

नाना भाँति राम अवतारा । रामायन सत कोटि अपारा ।।
कलप भेद हरिचरित सुहाए । भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए ।।[2]

रामावतार की कथा अनेक प्रकार से गायी गई है, अनेक युगों में गायी गई है। अनेक युगों में फैली और अनेक लोगों द्वारा गायी जानेवाली कथा का रूप स्थिर नहीं हो सकता, वह एकदम एकरूप नहीं हो सकती। उसमें बदलाव का होना स्वाभाविक है। हर युग में कथा का स्वरूप उस युग की परिस्थितियों के अनुरूप थोड़ा-बहुत परिवर्तित होता रहा है। अतः यदि तुलसीदास रामावतार के एक प्रयोजन पर बल न देकर अनेक प्रयोजनों को रेखांकित करते हैं, तो यह एकदम स्वाभाविक बात है।

"रामचरितमानस" के बालकाण्ड में पार्वती के सवाल के संदर्भ में शंकर राम को बुद्धि, मन तथा वाणी के परे मानते हुए भी उनके अवतार ग्रहण करने के कारणों तथा उसके प्रयोजनों की चर्चा करते हैं। वे कहते हैं ---

---

1. रामचरितमानस, बालकाण्ड. 33.
2. वही, 33.6-7.

जब जब होइ धरम कै हानी । बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी ।।
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी । सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी ।।
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा । हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ।।

असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु ।
जग बिस्तारहिं बिसद जस राम जन्म कर हेतु ।।[1]

अर्थात् जब-जब धर्म का पतन होता है तथा नीच अभिमानी राक्षस बढ़ जाते हैं और वे ऐसे अत्याचार करते हैं जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता, ब्राह्मण, गौ, देवता तथा संपूर्ण पृथ्वी को पीड़ित करते हैं, तब-तब कृपालु प्रभु भाँति-भाँति के रूप धारण कर सज्जनों की पीड़ा हरते हैं। वे राक्षसों को मारकर देवताओं को स्थापित करते हैं, वेदों की मर्यादा की रक्षा करते हैं और इस प्रकार संसार में अपना निर्मल यश फैलाते हैं। राम के अवतार के यही कारण हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रस्तुत प्रसंग में व्यक्त अवतार-संबंधी अवधारणा पर "गीता" के पूर्वोद्धृत प्रसिद्ध श्लोकों का गहरा प्रभाव है जहाँ दुष्टों के विनाश, साधुजनों की रक्षा तथा धर्म की संस्थापना के निमित्त भगवान का अवतार होना बतलाया गया है। हालाँकि तुलसी ने ब्राह्मण, गौ, देवता तथा पृथ्वी के पीड़ित होने का अलग से उल्लेख किया है, इसे अपनी ओर से जोड़ा है। एक और बात ध्यातव्य है। "गीता" में जहाँ सामान्य रूप से धर्म के पतन तथा अधर्म की वृद्धि की बात कही गई है, वहीं मानस में तुलसीदास इसके कारण के रूप में असुरों की विशेष रूप से चर्चा करते हैं, उस पर बल देते हैं। कथा के एक स्तर पर यह सुर और असुर के बीच का

- -

1. रामचरितमानस, 121.6-8.

संघर्ष है। इसलिए भी अवतार के कारण के रूप में असुरों के अत्याचार और उत्पात की चर्चा करना कवि ने आवश्यक समझा ।

इस प्रसंग में एक बात अत्यंत विचारणीय है। वह यह कि अवतार का प्रयोजन है कष्ट हरना, पीड़ा को दूर करना। तुलसी ब्राह्मण, गौ, देवता तथा पृथ्वी की पीड़ा की चर्चा करते हैं। क्या इसका तात्पर्य यह है कि वे ब्राह्मणों के अलावा और लोगों की पीड़ा से विचलित नहीं होते? निश्चय ही, महाकवि पर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता। जिस कवि को मध्यकालीन भारतीय समाज की सामान्य जनता की जीवन स्थितियों की गहरी जानकारी हो और जो स्वयं उसके बीच से आया हो, उसके सुख में सुखी और दुःख में दुःखी हुआ हो और जिसे स्वयं ब्राह्मणों ने विप्रद्रोही कहकर फटकारा और पीड़ित किया हो, उसके संबंध में इस तरह के आरोप की गुंजाइश नहीं है। तब वे ब्राह्मण की चर्चा क्यों करते हैं? इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि तुलसी वर्णाश्रम व्यवस्था में विश्वास करते थे, लेकिन उसका आधार कर्म को मानते थे। यही कारण है कि अनेक स्थलों पर उन्होंने कर्म-च्युत ब्राह्मणों की निन्दा की है, अपढ़, लोभी, कामी तथा आचारहीन ब्राह्मणों को जी भरकर कोसा है। शास्त्रज्ञान से विमुख तथा विषय-भोग में लिप्त तथाकथित ब्राह्मणों को हीन और निंदनीय मानते हुए वे उनकी शोचनीय अवस्था की चर्चा करते हैं ---

सोचिय बिप्र जो बेद बिहीना । तजि निज धरमु बिषय लयलीना।।[1]

स्पष्ट ही, कर्म से च्युत तथा धर्मभ्रष्ट ब्राह्मण तुलसी की दृष्टि में ब्राह्मण नहीं हैं, आदरणीय नहीं हैं। दूसरी ओर जाति-व्यवस्था के रोग से ग्रस्त मध्यकालीन समाज की दुर्दशा देखकर तुलसी स्पष्ट शब्दों में घोषित करते हैं ----

---

1. रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, 172.3.

मेरे जाति-पाँति न चहौं काहू की जाति-पाँति ।[1]

यह तुलसी की समानतावादी दृष्टि का परिचायक है, उनकी मानवतावादी दृष्टि का प्रमाण है। नीच से नीच माना जानेवाला व्यक्ति भी उनकी दृष्टि में बराबरी का हकदार था। मानस के उत्तरकाण्ड में काकभुशुण्डी गरुड़जी से कहते हैं कि अत्यंत नीच माने जाने वाले व्यक्ति से भी प्रेम करना चाहिए। वेदों और सज्जनों की यही राय है ---

पन्नगारि असि नीति श्रुति सम्मत सज्जन कहहिं ।
अति नीचहु सन प्रीति करिअ जानि निज परम हित ।।[2]

तुलसी के आराध्य राम को सिर्फ प्रेम प्यारा है। उनके लिए संबंधों की एकमात्र कसौटी है प्रेम। अन्य कोई कसौटी उन्हें मान्य नहीं। कवि डंके की चोट घोषित करता है ---

रामहि केवल प्रेम पियारा । जानि लेउ जो जाननिहारा ।।[3]

स्पष्ट है कि अवतार के कारणों और प्रयोजनों की चर्चा के प्रसंग में तुलसीदास जिस ब्राह्मण का उल्लेख करते हैं, वह अपने कर्मों से सही अर्थों में ब्राह्मण कहलाने योग्य है, कर्म-च्युत और धर्मभ्रष्ट निरक्षर, लोभी और कामी

- -

1. तुलसीदास : कवितावली, उत्तरकाण्ड, 107.
2. रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, 95.
3. वही, अयोध्याकाण्ड, 137.1.

ब्राह्मण नहीं। इसीलिए ऐसे धर्मरत ब्राह्मणों के कष्ट से उन्हें पीड़ा होती है। वैष्णव भक्त तुलसी का गाय की हत्या से दुःखी होना स्वाभाविक है। उनके समय में इस्लाम के मानने वाले लोगों के बीच गोहत्या मामूली बात थी। भारत में बौद्ध धर्म के प्रचलन के बाद ही गोहत्या आदि को निषिद्ध करार देकर गाय को माता के समान पूजनीय मानने की परंपरा आरंभ हुई थी। अतः गोहत्या से हिन्दू मानस को चोट पहुँचना और उसकी रक्षा के लिए प्रार्थना कोई आश्चर्य की बात नहीं मानी जा सकती। सगुण ईश्वर में विश्वास और इस प्रकार देवी-देवताओं के अस्तित्व में विश्वास करने वाले तुलसी यदि देवों की रक्षा को भी अवतार के प्रयोजनों में शामिल करते हैं तो मध्यकालीन भारतीय सामाजिक परिवेश को दृष्टि में रखते हुए इसे अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता है। देवों के प्रति आस्था, वास्तव में, उच्च मानवीय मूल्यों, आदर्शों के प्रति आस्था है। आगे तुलसीदास बताते हैं कि राक्षसों के अत्याचार के शिकार ये तीन ही हैं, ऐसी बात नहीं है। समूची पृथ्वी इसकी शिकार है। संपूर्ण पृथ्वी की पीड़ा समस्त समाज की पीड़ा है। इस बात की पड़ताल की जानी चाहिए कि मध्यकाल में भारतीय समाज किस पीड़ा को झेल रहा था, जिसे दूर करने के लिए ईश्वर के अवतार राम के हस्तक्षेप की जरूरत महसूस की गई।

यह कोई आकस्मिक बात नहीं कि तुलसी ने "रामचरितमानस" में राक्षसों के अत्याचार से पीड़ित पृथ्वी को एक पात्र के रूप में उपस्थित किया है। धर्म की अतिशय दुर्दशा देखकर पृथ्वी बेचैन होती है--

अतिसय देखि धर्म कै ग्लानी । परम सभीत धरा अकुलानी ।।[1]

---

1. रामचरितमानस, बालकाण्ड, 184.3.

तुलसीदास लिखते हैं कि पर्वतों, नदियों, समुद्रों का बोझ पृथ्वी के लिए उतना भारी नहीं था जितना एक पर-द्रोही अर्थात् दूसरों का अनिष्ट करने वाला प्राणी। रावण ऐसा ही प्राणी था। उससे भयभीत पृथ्वी सबकुछ चुपचाप सहने को विवश थी, विरोध की आवाज नहीं उठा सकती थी। कोई उपाय न देखकर वह गाय का रूप धारण करके उन देवताओं तथा मुनियों के पास जाती है, जो स्वयं रावण के डर से इधर-उधर छिपे हुए थे। जाहिर है, ऐसे लोग उसकी सहायता करने में असमर्थ हैं। जो अपनी सहायता नहीं कर सकता, वह दूसरों की सहायता क्या करेगा? तुलसी के शब्दों में ---

धेनु रूप धरि हृदयँ बिचारी । गई तहाँ जहँ सुर मुनि झारी ।।
निज संताप सुनाएसि रोई। काहू तें कछु काज न होई ।।[1]

तब भयभीत और शोक से व्याकुल पृथ्वी देवताओं, मुनियों और गंधर्वों के साथ ब्रह्मा के पास गई। ब्रह्मा ने भी इस संबंध में अपनी असमर्थता जताई। लेकिन, उन्होंने पृथ्वी को धैर्य धारण कर श्री विष्णु भगवान की वंदना करने का परामर्श दिया। अब समस्या यह थी कि विष्णु मिलेंगे कहाँ — बैकुण्ठपुरी में या क्षीरसागर में। इस संबंध में देवताओं के बीच विचार-विमर्श चल ही रहा था कि शंकर ने सुझाव दिया कि विष्णु सिर्फ बैकुण्ठपुरी या क्षीरसागर में रहने वाले नहीं हैं। वे तो सर्वव्यापी हैं। अतः उनकी खोज में कहीं जाने की आवश्यकता नहीं। साथ ही, उन्होंने एक महत्वपूर्ण बात यह भी कही कि भगवान प्रेम के वश में हैं,उसीसे वे प्रकट होते हैं ---

- -

1. रामचरितमानस, बालकाण्ड 184. 7-8.

हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना ।।
देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं।।
अग जगमय सब रहित बिरागी। प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी ।।[1]

शंकर की बात मानकर ब्रह्मा ने वहीं हाथ जोड़कर विष्णु की स्तुति की। स्तुति समाप्त होने पर आकाशवाणी हुई, जिसमें कहा गया कि डरने की कोई बात नहीं। तुम्हारे लिए मैं सूर्यवंश में अपने अंशों सहित मनुष्य रूप में अवतार लूँगा। परम तपस्वी कश्यप तथा अदिति को मैं वर दे चुका हूँ। वे ही दशरथ और कौसल्या के रूप में अयोध्या में मनुष्यों के राजा हैं। मैं उन्हीं के घर में चार भाइयों के रूप में अवतार लूँगा और पृथ्वी का भार हरकर सबको निर्भय बना दूँगा ----

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा । तुम्हहि लागि धरिहउँ नर बेसा ।।
अंसन्ह सहित मनुज अवतारा । लेहउँ दिनकर बंस उदारा ।।
कस्यप अदिति महातप कीन्हा । तिन्ह कहुँ मैं पूरब बर दीन्हा ।।
ते दसरथ कौसल्या रूपा । कोसलपुरीं प्रगट नरभूपा ।।
तिन्ह कें गृह अवतरिहउँ जाई । रघुकुलतिलक सो चारिउ भाई ।।
. . . .
हरिहउँ सकल भूमि गरुआई । निर्भय होहु देव समुदाई ।।[2]

इस प्रकार पृथ्वी की पीड़ा, उसकी निस्सहायता से द्रवित होकर विष्णु अपने अंशों सहित राम के रूप में अवतार लेने का निश्चय करते हैं। उनके अवतार का

- -

1. रामचरितमानस, बालकाण्ड 184.7-8.
2. वही, 187.1-5,7.

प्रयोजन है असुरों का नाशकर पृथ्वी की पीड़ा दूर करना, उसे बोझमुक्त करना। "रामचरितमानस" के कथानक का आधार पौराणिक है। रामकथा त्रेता युग में घटित बतायी गई है। लेकिन जिस काल में तुलसी उसकी रचना या कहा जाना चाहिए पुनर्रचना कर रहे थे, उस काल के सामाजिक, राजनीतिक परिवेश के दबाव से "मानस" को मुक्त नहीं माना जा सकता। वास्तव में तुलसी की रामकथा के ताने-बाने मध्यकालीन भारतीय समाज में बुने गये हैं। "रामचरितमानस" में वर्णित पृथ्वी की पीड़ा का उस समय के समाज से कुछ लेना-देना है कि नहीं, उसके दुःख-दर्द से कुछ लेना-देना है कि नहीं, इस बात की चर्चा अपेक्षित है। तुलसी के साहित्य में अभिव्यक्त अवतार की अवधारणा के सामाजिक संदर्भों को समझने की दिशा में यह एक महत्वपूर्ण बिन्दु है।

तुलसीदास ने पृथ्वी की शोचनीय, दयनीय अवस्था की पर्याप्त चर्चा की है, उसके कारणों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। उनके विवेचन से कुछ महत्वपूर्ण तथ्य मिल सकते हैं। रावण का आतंक सारे लोकों में व्याप्त था। मनुष्य, देवता किंनर, नाग सब उसके डर से काँपते थे। वह किसी को शांतिपूर्वक बैठने नहीं देता था। डर के मारे सब उसकी आज्ञा मानने को बाध्य थे और नित्य आकर उसके चरणों में सिर नवाते थे। तुलसीदास के अनुसार ---

> ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनुधारी । दसमुख बसवर्ती नर नारी ।।
> आयसु करहिं सकल भयभीता । नवहिं आइ नित चरन बिनीता ।।[1]

रावण ने संपूर्ण विश्व को अपनी भुजाओं के बल से वश में कर लिया था और इस प्रकार मण्डलीक राजाओं का शिरोमणि बनकर अर्थात् सम्राट् बनकर अपने

---

1. रामचरितमानस, बालकाण्ड 182.12-13.

इच्छानुसार राज्य करता था। उसके बाहुबल की करामात इतनी ही नहीं थी। उसने देवता, यक्ष, गंधर्व, मनुष्य, किन्नर तथा नागों की कन्याओं तथा सुंदर स्त्रियों का अपहरण कर उनसे विवाह कर लिया था, उन्हें अपने हरम में रखा था ——

भुजबल बिस्व बस्य करि राखेसि कोउ न सुतंत्र ।
मंडलीक मनि रावन राज करइ निज मंत्र ।।
देव जच्छ गंधर्व नर किंनर नाग कुमारि ।
जीति बरीं निज बाहुबल बहु सुंदर बर नारि ।।[1]

मध्यकालीन भारतीय समाज की परिस्थितियों की चर्चा के प्रसंग में उस समय के शासक वर्ग की ज्यादतियों, उनके द्वारा जनता की भयंकर लूट, उसके दमन आदि पर प्रकाश डाला जा चुका है। प्रस्तुत प्रसंग में यह देखने की आवश्यकता है कि उस विवरण की पुष्टि तुलसी की रचना से होती है। उपरिउद्धृत दोहे इस बात की सूचना देते हैं कि महाबली राक्षसराज रावण के राज्य में कोई स्वतंत्र नहीं था। वह मनमाने ढंग से शासन करता था और लोग उसके विरोध में कुछ नहीं कर सकते थे, सब कुछ मूक होकर सहने को अभिशप्त थे। साथ ही वह अतिशय भोग-विलास में लिप्त रहता था, दुनिया भर की सुंदर स्त्रियाँ उसके हरम की शोभा बढ़ाती थीं। मुगल सम्राटों के हरम भी रावण के हरम से कम नहीं थे। पहले के बर्बर, आततायी सुलतान शासकों की कौन कहे, अपेक्षया उदार और सहिष्णु मुगल सम्राट् का हरम भी इसका अपवाद नहीं। उसके शाही निवास के उस भाग में जिसे "जनाना" कहा जाता था, कम-से-कम पाँच हजार स्त्रियाँ रहती थीं। जाहिर है कि वे

- -

1. रामचरितमानस, बालकाण्ड 182 (क,ख)

सब अपनी इच्छा से हरम की शोभा बढ़ाने नहीं आई होंगी। वे जोर-जबर्दस्ती की शिकार बनकर वहाँ आई होंगी। यह भी स्पष्ट है कि वे किसी एक धर्म, एक जाति या एक क्षेत्र से ही संबंधित नहीं रही होंगी। भोग-विलास में लिप्त, विषयानुरागी व्यक्ति के लिए ये चीजें महत्व नहीं रखतीं। सर्वशक्तिशाली सम्राट (रावण) के राज्य में कोई स्वतंत्र नहीं था। जनता दमन और शोषण की शिकार थी। मध्यकाल की जनता की स्थिति भी इससे बहुत भिन्न नहीं कही जा सकती। डॉ. तपन रायचौधरी का मत है कि मध्यकालीन साम्राज्य जनता के अवपीड़न, उसके खिलाफ बल प्रयोग करने की शक्ति पर टिका था। उनके शब्दों में ---

" The survival of the empire and its ruling class depended on their power to coerce."[1]

एक ओर सामान्य जनता का भयंकर दमन, उत्पीड़न तथा दूसरी ओर शासक सामंत वर्ग की घोर विलासिता मध्यकालीन भारतीय समाज की सचाई है, जिसे झुठलाया नहीं जा सकता।

रावण और उसके आसुरी सहायकों द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों का अंत नहीं था। असुरों के समूह अनेक प्रकार के उपद्रव करते थे, अनेक तरह से लोगों को पीड़ित करते थे। तुलसीदास ने उनका वर्णन करते हुए लिखा है ---

करहिं उपद्रव असुर निकाया । नाना रूप धरहिं करि माया ।।
जेहि बिधि होइ धर्म निर्मूला । सो सब करहिं बेद प्रतिकूला ।।

---

1. तपन रायचौधरी एवं इरफान हबीब (सं.) कैम्ब्रिज इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया, खण्ड-1, पृ. 179.

जेहिं जेहिं देस धेनु द्विज पावहिं । नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं।।
सुभ आचरण कतहुँ नहिं होई। देव बिप्र गुरु मान न कोई ।।
नहिं हरि भगति जग्य तप नाना । सपनेहुँ सुनिय न बेद पुराना।।[1]

स्वयं रावण का हाल यह था कि जप, योग, वैराग्य, तप तथा यज्ञ में देवताओं तथा अन्य लोगों के भाग लेने की बात वह सुन नहीं पाता था। वह ऐसा असहिष्णु था कि इनकी चर्चा सुनते ही दौड़ पड़ता और सबको पकड़कर दंड देता। ऐसे पवित्र कर्म, पवित्र आचरण की स्वतंत्रता भी जिस समाज में न हो, उसके पतन का अनुमान लगाया जा सकता है। रावण के साम्राज्य में सर्वत्र भ्रष्ट आचरण व्याप्त था। वेद, पुराण में आस्था रखनेवाले, उनका पठन-पाठन करनेवाले लोगों को अनेक तरह से दंडित किया जाता था। तुलसीदास के शब्दों में ---

जप जोग बिरागा तप मख भागा श्रवन सुनइ दससीसा ।
आपुनु उठि धावइ रहै न पावइ धरि सब घालइ खीसा ।।
अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धर्म सुनिय नहिं काना ।
तेहि बहुबिधि त्रासइ देस निकासइ जो कह बेद पुराना ।।

बरनि न जाइ अनीति घोर निसाचर जो करहिं ।
हिंसा पर अति प्रीति तिन्ह के पापहि कवनि मिति ।।[2]

वस्तुतः राक्षसों के अत्याचारों का सही-सही वर्णन नहीं किया जा सकता है। तुलसीदास सौ बात की एक बात कहते हैं कि हिंसा पर जिनका इतना प्रेम है, उनके अत्याचारों की चर्चा कहाँ तक की जा सकती है?

---

1. रामचरितमानस, बालकाण्ड 183. 5-8.
2. वही, 183, छन्द.

तुलसीदास द्वारा रावण और उसकी सेना के अत्याचारों, उपद्रवों के वर्णन से मिलता-जुलता वर्णन मध्यकाल के भारतीय इतिहास में मिलता है। दोनों में आश्चर्यजनक रूप से समानता है। तुलसी के अनुसार राक्षसों के समूह सारे धर्म विरोधी कार्य करते हैं। जहाँ-जहाँ वे गौ और ब्राह्मणों को पाते हैं, उन गाँवों और शहरों में आग लगा देते हैं, उन्हें नष्ट कर डालते हैं। असल में, गौ तथा ब्राह्मण इस स्थिति के विशेष रूप से शिकार थे। इस्लाम धर्म में गो-हत्या की इजाजत है, जबकि हिन्दू उसे मातृवत् पूजनीय मानते हैं। अतः गो-हत्या से उनके धार्मिक मानस को कितना गहरा आघात लगता होगा, यह अनुमान लगाया जा सकता है। दूसरी ओर इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि मध्यकाल में विशेषकर सल्तनत काल के दौरान हिन्दुओं को जोर-जबर्दस्ती द्वारा इस्लाम स्वीकार करने अथवा हिन्दू होने की कीमत "जजिया" के रूप में चुकाने को बाध्य किया जाता था। ऐसी स्थिति में मूर्तिपूजक तथा मूर्तिपूजा को प्रोत्साहन देने तथा धार्मिक क्रियाकलापों को संपन्न करानेवाले ब्राह्मणों पर यदि उनकी विशेष कोपदृष्टि रही हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। जहाँ तक गाँव और नगर को लूटने, उनमें आग लगाने की बात है, वह तो ऐतिहासिक तथ्य है ही। पन्द्रहवीं शताब्दी के इतिहासकार पद्मनाभ ने अलाउद्दीन खलजी के विनाशक सैनिक अभियानों के बारे में लिखा है--

" The conquering army burnt villages; devastated the land, plundered people's wealth, took Brahmanas, children and women of all castes captive, and flogged them with thongs and raw hide, carried a moving prison with it, and converted the prisoners into obsequious Turks."[1]

---

1. के.एम. मुंशी द्वारा "द स्ट्रगल फॉर एम्पायर" की प्रस्तावना में उद्धृत, पृ. 15.

अर्थात् विजेता फौज गाँवों को जला देती थी, खेतों को उजाड़ डालती थी, लोगों के धन लूट लेती थी, ब्राह्मणों तथा सभी जातियों के बच्चों और स्त्रियों को बंदी बनाकर उन्हें कोड़ों तथा सख्त चाबुकों से पीटती थी। उनके साथ एक चलता-फिरता कारागार होता था और वे बंदियों को चापलूस तुर्क बना डालते थे।

उपर्युक्त विवरण तथा इस तरह के अनेक विवरण इस बात के प्रमाण हैं कि तुलसीदास ने रावण की आसुरी फौज द्वारा गाँव, नगर जलाने, ब्राह्मणों तथा अन्य लोगों को दंडित करने, विभिन्न जातियों की स्त्रियों का अपहरण करने की जो चर्चा की है, वह रामावतार के मिथकीय काल की सचाई हो या न हो, तुलसी के काल या उससे पहले के काल की सचाई जरूर रही है। तुलसी के काल में यह सचाई कोई बहुत दूर की चीज़ नहीं रही होगी। उन्हें इसकी गंध अपने परिवेश से मिली होगी। प्रसंगात् रामधारी सिंह "दिनकर" ने लिखा है ---

"भारत में इस्लाम का आरंभिक इतिहास मारकाट, खूँरेजी, धर्म-परिवर्तन, अभद्रता और अन्याय का इतिहास है।"[1]

आक्रान्ता शासकों द्वारा जनता का शोषण, उत्पीड़न यदि सचाई है तो उस शोषण, उत्पीड़न के विरुद्ध आक्रोश भी उससे कम बड़ी सचाई नहीं। विपरीत परिस्थितियों में भयवश या अन्य कारणों से वह आक्रोश प्रकट भले न हो पाता हो, लेकिन कभी-न-कभी तो उसे प्रकट होना ही है। मौका पाकर एक या दूसरे रूप में वह व्यक्त हो ही जाता है। वेद, पुराण की चर्चा करने पर दंड दिया जाना, देश निकाला दिया जाना आदि वर्णन

1. रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ० 274.

अतिशयोक्तिपूर्ण होते हुए भी मजबूत आधार पर अवस्थित हैं, इसमें संदेह नहीं।

इसी प्रसंग में आगे तुलसीदास असुरों के लक्षण बताते हैं, एक तरह से उन्हें परिभाषित करते हैं। उनके अनुसार रावण के साम्राज्य में ---

बाढ़े खल बहु चोर जुआरा। जे लंपट परधन परदारा ।।
मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा ।।
जिन्ह के यह आचरण भवानी। ते जानेहु निसिचर सब प्रानी ।।[1]

अर्थात् पराये धन और परायी स्त्री पर मन चलाने वाले, दुष्ट, चोर और जुआरी बहुत बढ़ गए थे। वे लोग माता-पिता और देवता को नहीं मानते थे, उन्हें आदर नहीं देते थे। साधुओं की सेवा करना तो दूर उलटे उन्हीं से सेवा करवाते थे। पार्वती को समझाते हुए शंकर कहते हैं कि जिनके ऐसे आचरण हैं, उन सबको राक्षस ही समझना चाहिए। उपर्युक्त चौपाइयों में तुलसीदास ने असुरों के जो लक्षण बतलाये हैं, उनपर विचार करने की जरूरत है। रावण के राज्य में दुष्ट, चोर और जुआरियों की भरमार है। उनकी उपस्थिति तो बराबर रहती आई है कमोबेश रूप में, लेकिन वहाँ उनकी बहुतायत है, वे सर्वत्र छाये हुए हैं। उनमें सिर्फ यही दोष हों, सो नहीं। वे लंपट, दूसरों का धन लूटने वाले अर्थात् लुटेरे तो हैं ही, साथ ही दूसरों की स्त्रियों को बुरी निगाह से देखने वाले और व्यभिचारी भी हैं। भारत में इस्लाम के आगमन के आरंभिक दौर में यह स्थिति आम बात थी, जहाँ लोगों की संपत्ति तथा स्त्रियों की इज्जत पर एक साथ

---

1. रामचरितमानस, बालकाण्ड 184.1-3.

हाथ साफ किया जाता था। उन राक्षसों के लक्षण बताते हुए शंकर आगे कहते हैं कि वे माता-पिता तथा देवों को नहीं मानते हैं। राक्षस शिरोमणि रावण तथा उसके खानदान पर यह लक्षण लागू नहीं होता। स्वयं रावण शंकर का भक्त था, उनकी आराधना करता था तथा उसने उनसे वरदान प्राप्त किया था। रावण के सारे बेटे आज्ञाकारी थे, माता-पिता को मानते थे। वे देवों को भी मानते थे। मेघनाद ने अपने इष्टदेव से बहुत कुछ पाया था। लंकाकाण्ड में कुंभकर्ण की मृत्यु के बाद मेघनाद रावण से कहता है कि आप कल के युद्ध में मेरा कौशल और पुरुषार्थ देखिएगा। मैंने अपने इष्टदेव से जो बल और रथ पाया था, वह मैंने अब तक आपको नहीं दिखलाया है ---

इष्ट देव सैं बल रथ पायउँ। सो बल तात न तोहि देखायउँ।।[1]

स्पष्ट है कि वह देव को मानता था, उसकी आराधना करता था। उसमें और रावण के अन्य बेटों में चाहे जो भी दोष रहे हों, लेकिन प्रस्तुत प्रसंग में तुलसीदास द्वारा बताये गये दोष उनमें प्रायः नहीं मिलते। तुलसी आसुरी आचरण की अपनी कसौटी प्रस्तुत कर बतलाते हैं कि जिनमें ये सब लक्षण मिलें, उन सबको असुर समझना चाहिए। निश्चय ही, यह एक व्यापक कसौटी है और राम, रावण के मिथकीय काल से अधिक तुलसी के किंचित् पूर्ववर्ती तथा उनके अपने काल में अधिक प्रासंगिक है। भारत में इस्लामी शासन के आरंभिक दौर में ही नहीं उसके बाद भी, तुलसी के काल में भी असहिष्णु और अनुदार शासक वर्ग द्वारा निरीह जनता पर किये जानेवाले अत्याचार इसके प्रमाण हैं। इस ऐतिहासिक सचाई को झुठलाया नहीं जा

---

1. रामचरितमानस, लंकाकाण्ड 72.8.

सकता है। तुलसीदास इस सचाई को मिथकीय काल में प्रक्षेपित कर उसे रावण के राज्य की सचाई बना देते हैं। यह उनके अपूर्व कौशल तथा उनकी प्रतिभा का प्रमाण होने के साथ-साथ, अपने युग की दुर्दशा और तज्जन्य उनकी चिन्ता का भी प्रमाण है। "रामचरितमानस" के बालकाण्ड में राक्षसों के उपर्युक्त लक्षणों की चर्चा के तुरंत बाद वे राक्षसों के अत्याचारों, उपद्रवों से पीड़ित तथा उनके भार से आक्रान्त पृथ्वी की व्याकुलता और उसका गौरूप धारण कर ब्रह्मादि के पास जाने का प्रसंग उठाते हैं। पृथ्वी की दुर्दशा तथा उसकी करुण पुकार से द्रवित होकर विष्णु राम के रूप में अवतार लेने की घोषणा करते हैं, जिसकी चर्चा की जा चुकी है।

"मानस" में रामावतार के सामाजिक संदर्भों के विवेचन के प्रसंग में मध्यकालीन भारतीय राजनीतिक, सामाजिक परिवेश की उपर्युक्त रूप में प्रस्तुति बहुतों को विचारोत्तेजक लग सकती है, उनके गले के नीचे नहीं उतर सकती है। इसमें उन्हें सांप्रदायिक विचारों की बू मिल सकती है। लेकिन एक बात बराबर स्मरणीय है कि यहाँ यह नहीं कहा जा रहा कि "रामचरितमानस" में राम के अवतार की अवधारणा की एकमात्र पृष्ठभूमि यही है। आरंभ में ही संकेत दिया जा चुका है कि राम के अवतार का कोई एक कारण नहीं, उसका कोई एक प्रयोजन नहीं। उसके कारण और प्रयोजन इतने सरल और सीधे नहीं, बल्कि जटिल हैं। कवि तुलसीदास कोई मध्यकालीन भारत का राजनीतिक इतिहास लिखने नहीं बैठे थे, यह एक तथ्य है। लेकिन इससे कम महत्वपूर्ण तथ्य यह नहीं कि काव्य-रचना के समय वे अपने समय की राजनीति तथा अर्थनीति की ओर से आँख मूँदकर नहीं बैठे थे, उससे दामन बचाकर नहीं बैठे थे। एक महान कवि अपने काल और समाज को खुली निगाह से देखता है। वह सिर्फ़ दर्शक नहीं, भोक्ता होता है।

महान कवि अपनी संस्कृति का व्याख्याता ही नहीं, किसी अर्थ में उसका पथ-प्रदर्शक, उसका नियंता भी होता है। वह अपने समाज में होने वाले उथल-पुथल से प्रभावित होता है, आंदोलित होता है। भारत में मुसलमानों के आगमन तथा उनकी सत्ता की स्थापना को भक्तिकाल के आविर्भाव के लिए काफी हद तक जिम्मेदार मानते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है ---

"देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया।.... इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिन्दू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?"[1]

आचार्य शुक्ल की भक्ति के विकास-संबंधी इस निराशावादी धारणा का पं.हजारी प्रसाद द्विवेदी-प्रभृति विद्वानों ने खंडन किया है, उससे असहमति प्रकट की है। इसमें संदेह नहीं कि भक्ति की धारा काफी पहले से चली आ रही थी, जिसे स्वयं शुक्लजी ने भी स्वीकार किया है। आचार्य शुक्ल की इस स्थापना से पूरी सहमति प्रकट न करते हुए भी कि भक्तिकाल के आविर्भाव के लिए इस्लामी सत्ता की स्थापना जिम्मेदार है, उनके कथन में जो सचाई है, उसे रेखांकित किया जाना चाहिए। भक्ति के विकास का एकमात्र कारण इस्लामी सत्ता की स्थापना नहीं है, इसके दूसरे सामाजिक, आर्थिक कारण भी हैं, लेकिन इसकी भूमिका को नजरअंदाज नहीं किया जाना

---

1. रामचंद्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ.43.

चाहिए। इतने बड़े उथल-पुथल का लोगों के मानस पर कोई असर न पड़ा, उनमें कोई उद्वेलन न हुआ, यह कहने की हिमाकत नहीं की जा सकती। अत्याचारी, असहिष्णु आक्रान्ताओं ने उस समय की जनता के सामने सांस्कृतिक संकट अवश्य पैदा किया होगा। पराजय और निराशा की घड़ी में ईश्वर का स्मरण एक अत्यंत स्वाभाविक बात है, कोई चौंकानेवाली बात नहीं। स्वयं कार्लमार्क्स के धर्म-संबंधी पूर्वोक्त कथन भी इस बात का प्रमाण हैं। यहाँ यह बात फिर रेखांकित की जा रही है कि मध्यकाल में जनता की दुर्दशा, उसकी तकलीफों का एकमात्र कारण इस्लामीशासकवर्ग ही नहीं था। अगर इसी को एकमात्र कारण मानेंगे तो स्वभावतः भक्ति आंदोलन को इस्लाम की चुनौती का उत्तर मात्र मानने को बाध्य होंगे, जैसा कि डॉ. गोविन्दचंद्र पाण्डेय मानते हैं ---

"सल्तनत काल में हिंदुओं ने इस्लाम की चुनौती का उत्तर भक्ति आंदोलन के रूप में अपने धर्म के मूल आदर्शों की नई परिस्थितियों के प्रकाश में नवीन व्याख्या करके दिया।"[1]

भक्ति आंदोलन या भक्तिकाव्य के विकास का संपूर्ण श्रेय इस्लामी सत्ता को देना निश्चय ही एक प्रकार का सरलीकरण है। यह सवाल इतना सरल और सीधा नहीं। लेकिन उस समय हिंदुओं के सामने कोई सांस्कृतिक संकट था ही नहीं ---- यह बात गले के नीचे नहीं उतरती। किसी-न-किसी रूप में यह संकट था और उस युग के जन-मानस को कुरेद रहा था।

आधुनिक काल के अत्यंत प्रखर एवं प्रगतिशील कवि "निराला" तुलसीदास को अपना प्रिय कवि मानते थे। उन्होंने तुलसी पर

---

1. श्रीराम गोयल [सं.] : भारत में मुगल साम्राज्य का प्रारंभिक इतिहास, पृ. 6.

कविताएँ लिखी हैं। "तुलसीदास" शीर्षक उनकी प्रसिद्ध कविता तुलसी पर लिखी गई कविताओं में सर्व-श्रेष्ठ मानी जाती है। "निराला" ने इस कविता में दिखलाया है कि मध्यकाल में हिंदू जीवन का "सांस्कृतिक सूर्य " इस्लामी आक्रमण की तीव्र वर्षा में छिप गया है। धीरे-धीरे इस्लामी संस्कृति शरद, चाँदनी की तरह फैलने लगती है। इस्लामी संस्कृति का यह प्रसार "निराला" के तुलसीदास के सामने सांस्कृतिक चुनौती के रूप में आता है। कविता की आरंभिक पंक्तियाँ हैं ---

भारत के नभ का प्रभापूर्य
शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य
अस्तमित आज रे -- तमस्तूर्य दिङ्मंडल;

हिन्दू सांस्कृतिक सूर्य अस्तमित है, वातावरण तिमिराच्छन्न हो गया है। स्थिति निराशाजनक है। आरंभिक छंद के उत्तरार्द्ध में वे इस स्थिति के कारण पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं ---

उर के आसन पर शिरस्त्राण
शासन करते हैं मुसलमान;
है ऊर्मिल जल; निश्चलत्प्राण पर शतदल ।[1]

सांस्कृतिक प्रतीक शतदल "निश्चलत्प्राण" हो गया है इस्लामी शासन के कारण। स्पष्ट है कि "निराला" इसे संकट की घड़ी समझते हैं। उनके तुलसीदास संकट की इस चुनौती से जूझने के लिए तत्पर होते हैं, तामसी

1. निराला रचनावली, खंड-1, पृ. 267.

संस्कारों को समाप्त करने के लिए तैयार होते हैं। इस कविता के आधार पर "निराला" को सांप्रदायिक करार देने के लिए काफी हिमाकत चाहिए, हालाँकि ऐसी स्थिति में कोई कमजोर कवि इस विशेषण से विभूषित होने को अभिशप्त होता। अपने परिवेश, अपने समाज से गहरे स्तर पर जुड़े संवेदनशील कवि "निराला" के तुलसीदास की यह छवि हममें से कुछ लोगों को चौंकानेवाली लग सकती है, "साम्प्रदायिक" तक लग सकती है। अगर ऐसा है तो यह हमारे अपने समय के मानदंडों को मध्यकाल में फिट करके देखने से उत्पन्न "दृष्टि-दोष का परिणाम ही माना जाना चाहिए। आज आवश्यकता है इतिहास को खुली निगाह से देखने और तथ्यों के विवेचन की, न कि पूर्वाग्रहग्रस्त होकर उसे दबाने और झुठलाने की। डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों में ----

"मध्यकालीन भक्ति-काव्य के उदय में इस्लाम की आक्रामक परिस्थिति का गुणात्मक योगदान है, इसे कई कोणों से देखा और समझा जा सकता है। और ऐसा मानने में कोई साहित्यिक, सामाजिक या कि ऐतिहासिक संकोच की बात भी नहीं जान पड़ती।"[1]

मध्यकाल के पराजित/पीड़ित, आहत भारतीय मन को राम के मिथक के द्वारा तुलसीदास ने सहारा दिया, सांत्वना दी। विराट् शक्ति से संपन्न राम का मिथक इस दृष्टि से उस काल के लिए उन्हें सर्वथा उपयुक्त प्रतीत हुआ और उसके माध्यम से उन्होंने गहरे सांस्कृतिक धक्के दिये। उन्होंने लोकमानस में राम के शक्तिशाली मिथक को गहराई

---

1. रामस्वरूप चतुर्वेदी : हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, पृ. 45-46.

में प्रतिष्ठित कर उसे झकझोरने का प्रयास किया, उसे जगाने का प्रयास किया। डॉ. शंभुनाथ के अनुसार तुलसी ने राम के मिथक की तलाश अपने युग की आवश्यकता के अनुरूप ही की और उन्होंने उसे प्रासंगिक बनाकर उपस्थित किया। उनके शब्दों में ---

"हताशा से ग्रस्त, पराजित और टूटे हुए मन एवं मध्यकालीनतावाद से ग्रस्त होकर मरती हुई संस्कृति के बीच अपने स्वाधीनता के मूल्यों के लिए परवशता के प्रतीक रावण से लड़ते हुए राम को तुलसी ने तलाश लिया, यह एक बहुत बड़ा कार्य है। तुलसी अपने समय की पूरी व्यवस्था को बनाये रखने के लिए कार्य नहीं कर रहे थे। कहीं-न-कहीं, अपनी ऐतिहासिक सीमाओं के भीतर, उसे थोड़ा बहुत बदलने के लिए बेचैन थे। इस कार्य के लिए उन्हें राम को मजबूत बनाना था। इसीलिए दानव-वर्ग में रावण की भयंकरता का भी उन्होंने बढ़-चढ़कर वर्णन किया।"[1]

तुलसी दवारा रामावतार के मिथक के चयन के संभावित कारणों का यह वस्तुपरक विवेचन है।

तुलसीदास ने "रामचरितमानस" तथा अन्य रचनाओं में जो राम के अवतार के कारणों और प्रयोजनों की चर्चा की है, वह उनके गहन युग-बोध की उपज है। उन्हें तत्कालीन लोकजीवन का प्रत्यक्ष अनुभव था, वे स्वयं उसके भोक्ता थे। लोकपीड़क शासक वर्ग तथा विश्व-परितापी रावण की रीति-नीति में उन्हें गहरा साम्य दिखायी पड़ा। जैसा कि देख चुके हैं, उन्होंने आसुरी प्रकृति का जैसा वर्णन किया है, वह

---

1. शंभुनाथ : साहित्य और जनसंघर्ष, पृ. 30.

मध्यकालीन शासक वर्ग के आचार-व्यवहार से काफ़ी मेल खाता है। राम-रावण की पौराणिक गाथा को उन्होंने अपने युग की प्रासंगिकता के बीच तराशकर प्रस्तुत किया। आहत और निराश समाज के उद्बोधन के लिए सिर्फ़ उपदेशात्मक ढंग से काम नहीं चल सकता था, सूक्ष्म तरीके से काम नहीं चल सकता था। इसके लिए लोक के सामने ऐसा आदर्श और ठोस गाथा प्रस्तुत करने की आवश्यकता थी, जो लोगों की समझ में आये और महान् आदर्श उपस्थित करके उन्हें संघर्ष की प्रेरणा दे सके, कर्म की प्रेरणा दे सके। अवतारी राम का मिथक इस दृष्टि से सर्वाधिक सशक्त तथा सार्थक प्रतीत हुआ और उन्होंने उसका कलात्मक इस्तेमालकर महान् काव्य की रचना की। उन्होंने ऐसे राम की कथा प्रस्तुत की जो गुणों की खान हैं तथा जो संसार का कल्याण करने वाले तथा मुक्ति, धन, धर्म प्रदान करने वाले हैं ---

जग मंगल गुन ग्राम राम के । दानि मुकुति धन धरम धाम के।।[1]

तुलसी अपने युग की दुःस्थिति से चिंतित थे। तत्कालीन शासन-व्यवस्था उन्हें अरुचिकर लगती थी। जिस व्यवस्था में सिर्फ़ दंड-नीति का प्रयोग ही होता है, वह भला कैसे पसंद आ सकती थी। वे लिखते हैं ---

गोंड़ गवाँर नृपाल महि जमन महा महिपाल ।
साम न दाम न भेद कलि केवल दंड कराल ।।[2]

---

1. रामचरितमानस, बालकाण्ड 32.2
2. दोहावली, 559.

अर्थात् कलियुग में भारतवर्ष में साम दाम, दाम तथा भेद नीति का कोई भी प्रयोग नहीं कर रहा है। केवल दंड नीति का प्रयोग हो रहा है, क्योंकि गोंड़ तथा गँवार राजा हैं और इन सबके ऊपर एक मुसलमान महाराजा है। ऐसे महाराजा के अनीतिपूर्ण शासन में घुटन का अनुभव और उसकी समाप्ति की तीव्र कामना अत्यंत स्वाभाविक है। लगता है कि अपने युग के अत्याचारी, अनीतिपूर्ण शासन का प्रक्षेपण उन्होंने रावण के शासन के रूप में कर दिया है। और उससे मुक्ति की भारतीय जनमानस की तीव्र कामना, तीव्र व्याकुलता को रावण के राज्य के पराजित देवों, मनुष्यों, किन्नरों, गंधर्वों और अंततः पृथ्वी की आर्त पुकार में रूपान्तरित कर दिया है। रावण के अधर्मयुक्त कर्म तथा उसके साम्राज्यवादी विचार मध्यकाल के इस्लामी शासन की प्रतिध्वनि हैं, इसमें संदेह नहीं। प्रसंगात् डॉ॰ रमेश कुंतल मेघ तुलसीदास द्वारा रावण तथा रावण-पक्ष की रचना के दो स्रोत स्वीकार करते हुए लिखते हैं ---

"पहले स्रोत तो पौराणिक असुर और दानव हैं ही, दूसरे स्रोत के रूप में पूर्ववर्ती मुसलमान हमलावरों की बर्बरताएँ हैं। अफगान शासकों ने निरंकुश लूट-पाट, हिंसा, मंदिरों के विध्वंस, बंदियों के कत्लेआम, जलते हुए शहरों और गाँवों के खंडहरों तथा भुखमरी, अकाल और धार्मिक अत्याचारों से भारतीय समाज और संस्कृति को रौंद डाला था। लोक-चित्त में वे बर्बरों और म्लेच्छों के रूप में भयपूर्वक प्रतिष्ठित हो चुके थे।"[1]

स्पष्ट है कि तुलसी ने राम-रावण के मिथक को अपने परिवेश में ढालकर प्रस्तुत किया। यहाँ सवाल उठता है कि तुलसी ने अपने समकालीन शासन का

---

1. रमेश कुंतल मेघ : तुलसी : आधुनिक वातायन से, पृ॰ 13.

खुलकर विरोध क्यों नहीं किया? राम के मिथक के सहारे प्रच्छन्न विरोध का मार्ग ही उन्होंने क्यों चुना? असल में मिथक कला की संभावनाओं को विकसित करता है। वह यथार्थ को सांस्कृतिक जटिलताओं के माध्यम से प्रस्तुत करता है। तुलसी रणभूमि में तलवार भाँजनेवाले योद्धा नहीं, बल्कि कलाकार, कवि थे। लेकिन अपने युग की लड़ाई में उन्हें तटस्थ नहीं कहा जा सकता। उन्होंने उसमें पक्षधर की हैसियत से भाग लिया, खूब भाग लिया, लेकिन अपने तरीके से। अपनी रचनाओं में राम और रावण के मिथक को साधनहीनऔर साधनसंपन्न, विपन्न और समृद्ध की प्रतिनिधि संघर्ष-गाथा के रूप में उपस्थित कर उन्होंने उसे जन-मानस में स्थायी रूप से प्रतिष्ठित कर दिया।

जैसा कि कहा जा चुका है, तुलसीदास के साहित्य में अवतार के अनेक प्रयोजन बताये गये हैं। अन्यायी असुरों को मारकर धर्म की स्थापना, गौ की रक्षा, पृथ्वी को बोझमुक्त करना ये सारे प्रयोजन लोक कल्याणकारी हैं। इनका संबंध लोक-रक्षा से है, लोक की व्यवस्था से है। साथ ही यह स्पष्ट है कि वे मनुष्य से गहरा प्रेम करते हैं और उनके कल्याण के लिए अवतरित होते हैं। राम के जन्म के तुरंत बाद माता कौसल्याउन्हें करुणा सागर कहकर संबोधित करती हुई उनकी स्तुति करती है ---

करुना सुख सागर सब गुन आगर जेहि गावहिं श्रुति संता ।
सो मम हित लागी जन अनुरागी भयउ प्रगट श्रीकंता ।।[1]

भगवान करुणा के सागर हैं। करुणा किनके लिए? सबके लिए। वे "जन अनुरागी" है, लोगों से प्रेम करने वाले हैं। न सिर्फ वे प्रेम करने वाले

---

1. रामचरितमानस, बालकाण्ड 192.2 छंद ।

हैं, बल्कि प्रेम के वशीभूत भी हैं। वे भक्तों के प्रेम की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं। किसी भी स्थिति में वे उनका कल्याण करने को तत्पर रहते हैं। स्वयं कष्ट सहकर भी वे उनका हित करते हैं ---

राम भगत हित नर तनु धारी । सहि संकट किए साधु सुखारी ।।[1]

"मानस" में अनेक स्थलों पर भक्त के हित में, उसके प्रति प्रेमवश अवतरित होने की बात कही गई है। राम के पास मनुष्य को परखने की एक ही कसौटी है- प्रेम। तुलसी कहते हैं ---

रामहि केवल प्रेमु पियारा । जानि लेउ जो जाननिहारा ।।[2]

ठीक यही बात "विनयपत्रिका" में भी कही गई है ---

स्वामी सर्वग्य सों चलै न चोरी चार की ।
प्रीति पहिचानी यह रीति दरबार की ।।[3]

अर्थात् स्वामी सर्वज्ञ हैं, घट-घट की बात जानते हैं, उनसे किसी तरह की चोरी छिप नहीं सकती। उनके दरबार की यही रीति है कि वहाँ सिर्फ़ प्रेम की ही पूछ है और किसी चीज़ की नहीं।

विष्णु के अवतार राम प्रेम की महत्ता का जो बखान करते हैं, वह मध्यकालीन भारतीय समाज की एक गहरी आवश्यकता थी। जिस युग में चारों तरफ

---

1. रामचरितमानस, बालकाण्ड 24.।
2. वही, अयोध्याकाण्ड 137.।
3. विनयपत्रिका, 71.

हिंसा, घृणा, द्वेष की विषाक्त गंध फैली हो, उसमें प्रेम कितना दुर्लभ रहा होगा, यह अनुमान करना कठिन नहीं है। जिस युग में राजाओं के दरबार में और सब कुछ मिलता हो, न मिलता हो तो बस प्रेम, उस युग में तुलसी की यह घोषणा कि राम के दरबार में सिर्फ प्रेम की रीति चलती है, कितनी क्रांतिकारी अवधारणा है, कहने की जरूरत नहीं। तुलसी "विनयपत्रिका" में ही एक अन्य स्थल पर इस बात को रेखांकित करते हैं कि राम ही प्रीति की रीति जानते हैं। प्रेमी के नाते के आगे अन्य सारे नाते उनके लिए त्याज्य हैं ---

जानत प्रीति-रीति रघुराई ।
नाते सब हाते करि राखत, राम सनेह-सगाई ।।[1]

इस प्रकार तुलसीदास भक्त के प्रति प्रेम को अवतार के कारण तथा उसके कल्याण को अवतार के प्रयोजन के रूप में उपस्थित करते हैं।

तुलसी ने अवतार की अवधारणा में ढेर सारे प्रयोजनों को समेटा है, सबको एकत्र कर दिया है। उनके राम के अवतार के अनेक प्रयोजन हैं। उन सबका उल्लेख करने में उन्होंने असमर्थता जतलायी है। "मानस" में एक स्थल पर अवतार के कई प्रयोजनों को एकत्र करते हुए उन्होंने लिखा है ---

भगत भूमि भूसुर सुरभि, सुरहित लागि कृपाल ।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटत जंजाल ।।[2]

---

1. विनयपत्रिका, 164.
2. रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड 93.

राम एक ओर पृथ्वी का भार उतारने के लिए अवतरित होते हैं, तो दूसरी ओर सिर्फ़ भक्त के प्रेम के कारण ही। अवतार-प्रयोजनों का वैविध्य कवि की अवतार-विषयक व्यापक और ठोस अवधारणा का परिचायक है।

3.8 रामावतार और मध्यकालीन सामाजिक यथार्थ

वस्तुतः महान साहित्य की रचना सामाजिक यथार्थ की गहरी समझ से ही संभव है। तुलसी ने राम के अवतार के मिथक को अपने काव्य के केन्द्र में यों ही नहीं रखा है। अपने युग और अपने समाज से गहरे स्तर पर जुड़े कवि तुलसी ने रामावतार के मिथक का चयन कल्पना के मौज में नहीं, बल्कि बहुत सोच-विचारकर किया है। निश्चय ही इसके पीछे युग का यथार्थ रहा है। मिथक कल्पना की उपज नहीं होता। वह यथार्थ के आग्रह से रूप ग्रहण करता है या रूप बदलता है। डॉ. विजेन्द्र नारायण सिंह के शब्दों में ---

"मिथकीय स्थिति जातीय आवश्यकता, यथार्थ की आवश्यकता के कारण उत्पन्न होती है। मिथक यथार्थ को समायोजित, व्यवस्थित करने का माध्यम बनता है। महान कविता मनुष्य की सार्वजनीन-सार्वकालिक नियति से संबद्ध होती है।"[1] मानना चाहिए कि रामावतार का मिथक मध्यकालीन भारत की जातीय चेतना से जुड़कर तुलसीदास के महान् साहित्य की केन्द्रीय वस्तु बनता है। उसके माध्यम से कवि ने मध्यकाल के गहरे सामाजिक यथार्थ को वाणी देने का सफल प्रयास किया है। तुलसी के साहित्य में रामावतार

---

1. विजेन्द्र नारायण सिंह : काव्यालोचन की समस्याएँ, पृ. 31.

के प्रयोजनों के विवेचन के संदर्भ में मध्यकाल की सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों की चर्चा की गई है। प्रस्तुत प्रसंग में उसी सिलसिले को आगे बढ़ाते हुए इस बात की पड़ताल की कोशिश की जा रही है कि आखिर वे कौन से आर्थिक, सामाजिक यथार्थ थे जिन्होंने तुलसी के मानस को विशेष रूप से आंदोलित किया तथा जिनकी अभिव्यक्ति रामावतार के शक्तिधर मिथक के माध्यम से हुई।

तुलसीदास की रचनाओं में कलियुग की चर्चा मिलती है और खूब मिलती है। यह कलियुग क्या है? क्या इसका उनके समकालीन समाज से कोई संबंध है? क्या तुलसी के लिए यह कोई बड़ी समस्या के रूप में आता है? फिर राम के अवतार से इसका क्या संबंध है आदि? इस दृष्टि से तुलसी-साहित्य के प्रासंगिक अंशों के विवेचन से इन सवालों के जवाब खोजे जाने चाहिए, उनका विश्लेषण किया जाना चाहिए।

दरिद्रता तथा सामाजिक उत्पीड़न की चर्चा तुलसी के साहित्य में अनेक स्थलों पर मिलती है। अक्सर यह चर्चा कलियुग-वर्णन से जुड़ी हुई है या कलियुग-वर्णन के प्रसंग में दरिद्रता, सामाजिक उत्पीड़न, अन्याय की चर्चा अक्सर हुई है। "रामचरितमानस" के उत्तरकाण्ड में काकभुशुण्डी गरूड़ से अपने पूर्व-जन्म के बारे में बताते हुए कलियुग को अतीत के एक युग के रूप में स्मरण करते हैं ---

पुरूब कल्प एक प्रभु जुग कलियुग मल मूल ।
नर अरु नारि अधर्म रत सकल निगम प्रतिकूल ।।[1]

अर्थात् हे प्रभो ! पूर्व के एक कल्प में पापों का मूल युग कलियुग था, जिसमें पुरुष और स्त्री सभी अधर्मपरायण और वेद के विरोधी थे। स्पष्ट ही,

---

1. रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड 96 ख.

कलियुग के प्रति कवि की धारणा अच्छी नहीं है। वह उसे पापों का मूल, अधर्म को प्रश्रय देने वाला युग मानता है। आगे काकभुशुण्डी कलियुग के लक्षणों का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं, यथा ---

> कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भए सदग्रंथ ।
> दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु पंथ ।।[1]

वर्णाश्रम व्यवस्था में विश्वास करने वाले तुलसीदास कलियुग में उसके नष्ट होने की चर्चा और उस पर चिन्ता प्रकट करते हैं। लेकिन ध्यातव्य है कि उनका आक्रोश अन्य वर्णों के साथ-साथ ब्राह्मणों पर भी है -- उन ब्राह्मणों पर जो वेदों को बेचने वाले, अपने लिए विहित आचार-विचार का पालन न करने वाले तथा इस प्रकार अपना धर्म छोड़कर अधर्म में लिप्त व्यक्ति बन गए हैं। तुलसी के शब्दों में ---

> बरन धर्म नहिं आश्रम चारी । श्रुति विरोध रत सब नर नारी ।।
> द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन । कोउ नहिं मान निगम अनुसासन ।।
> मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा । पंडित सोइ जो गाल बजावा ।।
> मिथ्यारंभ दंभ रत जोई । ता कहुँ संत कहइ सब कोई ।।
> सोइ सयान जो परधन हारी । जो कर दंभ सो बड़ आचारी ।।
> जो कह झूठ मसखरी जाना । कलिजुग सोइ गुनवंत बखाना ।।
> निराचार जो श्रुतिपथ त्यागी। कलिजुग सोइ ग्यानी सो बिरागी ।।
> जाकें नख अरु जटा बिसाला । सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला ।।

---

1. रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड 97 क.

असुभ बेष भूषण धरें भच्छाभच्छ जे खाहिं ।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माहिं ।।[1]

इस प्रकार वे कलियुग के अनेक और लक्षणों पर प्रकाश डालते हैं। जो व्यक्ति दूसरों का धन छीनता है, वही बुद्धिमान है। जो झूठ बोलता है, वही गुणवान है तथा जो आचारहीन है, वही वैरागी है। जाहिर है कि ये स्थितियाँ तुलसी के लिए क्लेशकर रही होंगी, उनकी चिन्ता का विषय रही होंगी। तुलसीदास की दृष्टि में कलियुग के "भूप प्रजासन" हैं अर्थात् प्रजा को खा जाने वाले हैं। अपने जमाने की सामंती व्यवस्था और उसके सर्वोच्च शासक सम्राट की अत्याचारपूर्ण, अन्यायपूर्ण, प्रजापीड़क नीतियों से ही तुलसी के क्षोभ का जन्म हुआ है, इसमें संदेह नहीं। उन्होंने अपनी रचनाओं में अनेक स्थलों पर कलियुग के राजा का उल्लेख किया है और ध्यान देने की बात है कि उन्होंने शायद ही कहीं उसकी प्रशंसा में कोई शब्द कहा हो। इनमें से कुछ की चर्चा प्रासंगिक होगी ।

"कवितावली" के उत्तरकाण्ड में कलियुग की सामाजिक स्थिति का वर्णन करते हुए तुलसीदास लिखते हैं ---

बेद-पुरान बिहाइ सुपंथु, कुमारग, कोटि कुचालि चली है ।
कालु कराल, नृपाल कृपाल न, राजसमाज बड़ोई छली है ।।[2]

समय बड़ा कठिन है। किसके लिए ? स्पष्ट ही, सामान्य जनता के लिए । समय की कठिनता की चर्चा के तुरंत बाद तुलसी राज समाज के छली, धोखेबाज होने की बात कहते हैं। वस्तुतः समय कठिन इसी कारण है।

---

1. रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड 98 क. 1-8.
2. कवितावली, उत्तरकाण्ड 85.

मध्यकाल का राजतंत्र अत्यंत भ्रष्ट था -- ऊपर से नीचे तक । राजा ही नहीं, उसके कर्मचारी भी सामान्य जनता के लिए कष्ट के कारण थे, बल्कि वे राजा से ज्यादा अन्यायी, ज्यादा अत्याचारी थे। तुलसीदास के अनुसार—

त्रिबिध एक बिधि प्रभु अनुग अवसर करहिं कुठाट ।
सूधे टेढ़े सम विषम सब महँ बारहबाट ।।
प्रभु तें प्रभु गन दुखद लखि प्रजहि सँभारै राउ ।
कर तें होत कृपान को कठिन घोर घन घाउ ।।[1]

अर्थात् अवसर पड़ने पर मालिक यदि एक प्रकार से बुराई करता है तो उसके अनुगामी सेवक तीन प्रकार से करते हैं। वे सीधे-सादे लोगों से भी टेढ़ा बर्ताव करते हैं, समता में भी विषमता करते हैं और सब कामों को बिगाड़ देते हैं। मालिक की अपेक्षा मालिक के परिचारक लोग अधिक दुःखदायी होते हैं। इसलिए राजा को चाहिए कि वह स्वयं अपनी प्रजा की देखभाल करे, उसके हितों का खयाल रखे। जाहिर है कि उस काल में ऐसा राजा दुर्लभ था। उसके अधिकारी, कर्मचारी मनमानी करते थे और जनता को अनेक तरह से लूटते थे। मुगलकाल में विशाल शासनतंत्र को चलाने के लिए राजकर्मचारियों, अधिकारियों का विशाल वर्ग था। यह वर्ग काफी समृद्ध था। उसकी समृद्धि का रहस्य मात्र वेतन नहीं, बल्कि सामान्य जनता की लूट थी। मुगलकाल के राजस्व कर्मचारियों की अतिशय समृद्धि के कारणों के बारे में प्रो. सतीशचन्द्र ने लिखा है ----

"Their prosperity certainly did not depend upon their salaries, but on their manipulations, including bribe-taking, defalcation of revenue and revenue farming."[1]

- -

1. दोहावली, दोहा 500, 501.
2. कैम्ब्रिज इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया (सं.) खंड-1, पृ.466.

इस प्रकार जिन राज कर्मचारियों, अधिकारियों की समृद्धि उनके वेतन पर नहीं, बल्कि घूसखोरी और गबन पर निर्भर हो, उनसे जनता का कितना भला होता होगा, इसका अंदाजा लगाया जा सकता है। जाहिर है कि वे जनता को लूटते थे, उसे सब तरह से परेशान करते थे। राजा तो दूर रहता था, जनता से उसका कोई सीधा संबंध नहीं होता था। जनता से सीधा संपर्क था इन्हीं लुटेरे और अत्याचारी राजकर्मचारियों का, अधिकारियों का। ऐसे लोगों के सहारे चलने वाला शासनतंत्र सही अर्थों में जनता के लिए कितना कल्याणकारी रहा होगा, इसका अनुमान कठिन नहीं है। ऐसा भ्रष्ट शासनतंत्र कवि तुलसीदास की कलियुग-संबंधी कल्पना को मजबूत आधार प्रदान करता है। स्वाभाविक है कि यह स्थिति उन्हें तत्कालीन सामंती व्यवस्था से अधिकाधिक विमुख करती गई ।

तुलसीदास का विचार है कि देवताओं के दरबार से भी पृथ्वी के राजाओं के दरबार बड़े हैं क्योंकि इनमें भगवान के भक्त भी अपमानित होते हैं ---

बड़े बिबुध दरबार तें भूमि भूप दरबार ।
जाचक पूजत पेखियत सहत निरादर भार ।।[1]

राजाओं के दरबार में भक्तों का अपमान होता है और भाँड़ों, बटमारों, लुटेरों का आदर होता है। तुलसीदास के शब्दों में ---

चोर चतुर बटमार नट प्रभु प्रिय भँडुआ भंड ।
सब भच्छक परमारथी कलि सुपंथ पाषंड ।।[2]

---

1. दोहावली, 393.
2. वही, 549.

ऐसे कुपथगामी, व्यभिचारी लोगों को संरक्षण देने वाला राजा तुलसीदास को फूटी आँखों भी नहीं सुहाता। चाटुकारों, बदमाशों से घिरे मध्यकाल के अभिमानी सामंत उनकी दृष्टि में तुच्छ हैं, नीच हैं। ऐसे लोगों के प्रति उनके मन में गहरी वितृष्णा और घृणा का भाव है। मध्यकालीन समाज के शासनतंत्र की जो वस्तुतः शोषकतंत्र था, कलई खोलते हुए तुलसीदास ने लिखा है ---

काल तोपची तुपक महि दारू अनय कराल ।
पाप पलीता कठिन गुरु गोला पुहुमी पाल ।।[1]

समय ही गोलंदाज है, तोपची है, पृथ्वी ही तोप है, विकराल अनीति ही बारूद है, पाप ही पलीता है तथा राजा ही कठोर एवं भारी गोला है। तुलसीदास ने इतना लिखा, यह नहीं लिखा कि इसका शिकार था मध्यकाल का विशाल शोषित वर्ग। अन्याय, अनीति के चक्र में फँसा यह वर्ग असहाय था, लाचार था। तुलसीदास शोषकतंत्र के रेशे-रेशे को उघाड़कर रख देते हैं, लेकिन इसकी जिम्मेदारी काल पर आरोपित कर देते हैं। यह उनके दृष्टिकोण की सीमा हो सकती है। लेकिन मध्यकाल की जनता के चौतरफा शोषण में शासक सामंत वर्ग की भूमिका इससे कम नहीं हो जाती ।

वस्तुतः तुलसीदास के मानस में कलियुग की जो भयानक छवि बनी है, उसका आधार मध्यकाल का भ्रष्ट और उत्पीड़क शासनतंत्र ही था, इसमें संदेह नहीं। तुलसी अपने समाज के बहुलांश की पीड़ा से परिचित थे। उन्होंने स्वयं भी उस पीड़ा का अनुभव किया था। अपने जमाने की लोकपीड़क सत्ता का उन्हें गहरा बोध था। इस संबंध में उन्हें

- -

1. दोहावली, 515.

कोई भ्रम नहीं था। तुलसी ने "कवितावली" में उस युग की शोषक सत्ता के प्रति घोर उपेक्षा भाव व्यक्त करते हुए लिखा ---

> जाचे को नरेस, देस-देस को कलेस करे
> देहैं तो प्रसन्न ह्वै बड़ी बड़ाई बौंड़िए ।
> कृपा-पाथनाथ लोकनाथ-नाथ सीतानाथ
> तजि रघुनाथु हाथ और काहि ओड़िए ।।[1]

महान् व्यक्तियों, राजाओं की उदारता का बखान करने वाले लोगों, चाटुकारों को तुलसीदास इन पंक्तियों में मुँहतोड़ उत्तर दे रहे हैं। देश-देश के कष्ट का कारण राजाओं को मानने वाले तुलसीदास भला उनसे सहायता माँगने की क्यों सोचें ? जनता के क्लेश का कारण कोई आधिभौतिक सत्ता नहीं, बल्कि तत्कालीन सामंत शासक वर्ग है। तुलसी की पारखी दृष्टि इस संबंध में किसी भ्रम का शिकार नहीं हो सकती। मध्यकाल की जटिल सामाजिक व्यवस्था में जनता के क्लेश के कारणों की सही पहचान उनकी दयनीय अवस्था का वास्तविक कारण सामंती व्यवस्था थी जो ऊपर से नीचे तक शोषण पर टिकी थी। उस व्यवस्था के अन्यायी शासकों से इस बात की आशा करना व्यर्थ था कि वे जनता के कष्ट का निवारण करेंगे। इसीलिए तुलसीदास किसी भी हालत में उनसे सहायता की याचना न करने पर बल देते हैं, लोगों को इसकी सलाह देते हैं। वे उनकी उपेक्षा करने पर जोर देते हैं, जो निश्चय ही, उस काल में एक क्रांतिकारी चीज़ मानी जा सकती है। साथ ही वे राजा राम में आस्था दृढ़ करने की, उनकी भक्ति करने की सलाह भी देते हैं। उनका विश्वास है कि मदद राम से ही मिल

- -

1. कवितावली, उत्तरकाण्ड 25.

सकती है। इसलिए उन्हीं के आगे हाथ फैलाया जाय। यहाँ यह बात रेखांकित की जानी चाहिए कि कवि राम की ओर तब मुड़ता है, उनकी भक्ति पर तब जोर देता है, जब अपने युग की व्यवस्था से उसका मोहभंग हो जाता है। यह भी स्पष्ट है कि कवि राम की ओर जिन कारणों से मुड़ता है, वे कोई आध्यात्मिक नहीं, बल्कि भौतिक कारण हैं, दैनन्दिन जीवन के कष्ट हैं, क्लेश हैं। अवतार राम में उसे पूरी आस्था है और उसे लगता है कि वे सारी आशाएँ पूरी करेंगे, जरूरतें पूरी करेंगे। इससे अवतार की अवधारणा पुष्ट होती है, दृढ़ होती है। साथ ही रामावतार में आस्था तथा उसकी भक्ति से अपार साहस और बल प्राप्त होता है जिसका प्रत्यक्ष परिणाम है अपने युग के शासक वर्ग की पूर्ण उपेक्षा, उसका विरोध। इससे तुलसी-साहित्य में व्यक्त अवतारवाद के सामाजिक आधार का तो पता चलता ही है, तत्कालीन समाज में उसकी भूमिका भी स्पष्ट होती है।

कलियुग का जो सबसे महत्वपूर्ण लक्षण माना जा सकता है, वह है भयानक गरीबी का विशाल साम्राज्य। तुलसीदास ने अपनी रचनाओं में गरीबी का काफी वर्णन किया है। वस्तुतः समाज की भयंकर दुर्दशा, भयंकर गरीबी ने उन्हें विचलित कर दिया था, आंदोलित कर दिया था। उन्होंने स्वयं गरीबी की पीड़ा भोगी थी। बचपन से ही वे उसके शिकार थे। उन्होंने लिखा है ---

जायो कुल मंगन बधावनो बजायो सुनि,
भयो परिताप पाप जननी-जनक को ।
बारे तें ललात बिललात द्वार-द्वार दीन,
जानत हौं चारि फल चारि ही चनक को ।।[1]

---

1. कवितावली, उत्तरकाण्ड 73.

यह कोई कल्पना नहीं, उनका यथार्थ है -- भोगा हुआ यथार्थ। सब तरह से उपेक्षित तुलसीदास भयंकर गरीबी से गुजरते हुए अपमान सहने को अभिशप्त थे। ऐसी हालत में अनाज के चार दाने ही चार फल, चार पुरुषार्थ थे। अंदाजा लगाना कठिन नहीं है कि तुलसीदास कितनी पीड़ा, कितने अभावों से घिरे रहे होंगे। और यह अकेले तुलसी की व्यथा नहीं, बल्कि मध्यकाल के सामान्य जन की व्यथा है। तुलसी की उपर्युक्त पंक्तियों में शोषित, पीड़ित सामान्य जन की उसी असीम व्यथा की अभिव्यक्ति हुई है।

तुलसीदास गरीबी, विषमता की असह्य पीड़ा का बार-बार उल्लेख करते हैं और उसके तुरंत बाद राम की भक्ति की सलाह देते हैं। स्पष्ट ही वे दोनों में संबंध को स्वीकारते हैं। "कवितावली" में वे साफ कहते हैं कि मनुष्य के बिगड़ने के तो अनेक मार्ग हैं, मगर बनने का केवल एक मार्ग है और वह है पेटरूपी पुत्र के लिए राम-नाम लेना ---

जैबे को अनेक टेक, एक टेक ह्वैबे की, जो
पेट-प्रियपूत हित रामनाम लेतु है।[1]

वस्तुतः यह पेट की आग सबसे बढ़कर है। बड़वाग्नि अर्थात् जंगल की आग भी इसके सामने कुछ नहीं। पेट के महत्त्व, उसके प्रभाव की चर्चा करते हुए वे कहते हैं ---

किसबी, किसान-कुल, बनिक, भिखारी, भाट
चाकर चपल नट, चोर, चार, चेटकी।

---

1. कवितावली, उत्तरकाण्ड 82.

पेट को पढ़त, गुन गढ़त, चढ़त गिरि,
अटत गहन-बन अहन अखेट की ।।
ऊँचे नीचे करम धरम अधरम करि,
पेट ही को पचत, बेचत बेटा बेटकी ।।
तुलसी बुझाई एक राम घनस्याम ही तैं
आगि बड़वागि तैं बड़ी है आगि पेट की ।।[1]

यह और कुछ नहीं, मध्यकाल का भयंकर सामाजिक यथार्थ है। यह इस बात का प्रमाण है कि उस काल में जनता का जीवन-स्तरकैसा था, उसकी जीवन स्थिति कैसी थी। यहाँ तुलसी ने जिन लोगों, जिन समुदायों की दुर्दशा का चित्रण किया है, वे सब शोषित वर्ग के हैं, मेहनतकश वर्ग के हैं। ये सारे लोग दिन-रात पेट की चिन्ता में लगे रहते थे क्योंकि पेट भरता नहीं था। कठोर श्रम करने के बावजूद उनकी यह दशा थी। मुगलकाल में जनता की आर्थिक हालत के बारे में डे लाएट के हवाले से मोरलैंड ने लिखा है कि उसकी हालत अत्यंत दयनीय थी। मजदूरों को एक शाम ही भोजन नसीब होता था। उनकी स्थिति की दयनीयता की चर्चा करते हुए मोरलैंड ने लिखा है कि उन्हें भूखों मरना पड़ता था। भूख से छटपटाते हुए घर पर दम तोड़ना या सड़क के किनारे तथा जंगल में भूख से मरने की संभावना --- उनके सामने यही दो विकल्प थे। मोरलैंड ने लिखा है ---

".....he had the choice between the certainty of starvation on the roadside or in the Jungle."[2]

---

1. कवितावली, उत्तरकाण्ड, 96.
2. डब्ल्यू. एच. मोरलैंड : इंडिया ऐट द डेथ ऑफ अकबर, पृ. 269.

जहाँ लोग भयंकर गरीबी के शिकार हों, दिन-रात पसीना बहाने वालों को एक शाम भोजन मिलता हो, लोग भूख से तड़पते हों, वहाँ के जागरूक, समाजचेता कवि की रचना में भूख की चर्चा न हो, उसकी अनुगूँज न सुनाई पड़े, तो यह आश्चर्य की बात होगी। तुलसी के काव्य के संदर्भ में इस आश्चर्य की कोई गुंजाइश नहीं है।

तुलसीदास का विचार है कि पेट की आग ही लोगों से सही-गलत काम करवाती है। वे पेट की आग बुझाने के लिए लोगों द्वारा अपने बच्चों की बिक्री की चर्चा करते हैं। अध्याय के आरंभ में मध्यकाल के सामाजिक, आर्थिक परिवेश की चर्चा के प्रसंग में इस संदर्भ में ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेख हो चुका है। कबीर भी बच्चों की बिक्री की बात करते हैं ---

"को है लरिका बेचई लरिकी बेचइ कोई ।"[1]

तुलसीदास अपने समाज के इस भयावह यथार्थ से आँख नहीं चुराते, बल्कि उससे टकराते हैं अपनी तरह से। उनका विचार है कि पेट की यह आग बुझाने का सामर्थ्य भगवान राम में है और किसी में नहीं। इसलिए वह उनकी भक्ति पर बल देते हैं। तुलसीदास अपने समाज की समस्याओं के प्रति काफ़ी जागरूक हैं। दरिद्रता का दुःख उन्हें सबसे अधिक है। "कवितावली" के एक अन्य पद में उन्होंने दरिद्रता को ही रावण बना डाला है और राम को पेट की आग बुझाने वाला कहा है। मध्यकाल के गहरे सामाजिक यथार्थ का चित्र खींचते हुए वे लिखते हैं -----

- -

1. संत कबीर {सं0}, पृ. 43.

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका-विहीन लोग सीद्यमान सोच-बस,
कहैं एक एकन सों "कहाँ जाई, का करी ?"
बेद हू पुरान कही, लोकहू बिलोकियत
साँकरे सबै पै राम रावरे कृपा करी
दारिद - दसानन दबाई दुनी, दीनबंधु।
दुरित-दहन देखि तुलसी हहा करी ।।[1]

यह पद कितना महत्वपूर्ण है, कहने की आवश्यकता नहीं। मध्यकालीन समाज के सबसे बड़े वर्ग की वास्तविक जीवन-स्थितियों को इतनी सफाई के साथ प्रस्तुत करने के लिए तुलसीदास की जितनी प्रशंसा की जाय, कम होगी। सब ओर से निस्सहाय, भूख से पीड़ित, जीविकाविहीन लोग अपने दुःख के निवारण की तीव्र कामना करते हैं और इसके लिए वे राम की शरण जाते हैं ---- ऐसे अवतारी, देहधारी राम की शरण जो करुणासागर हैं, दयानिधान हैं तथा हैं दीनबंधु, गरीबनेवाज। तुलसी के अनुसार दरिद्रता के भयानक राक्षस का खात्मा राम ही कर सकते हैं। मध्यकाल के मनुष्य का यह कष्ट, यह दुःख ही उन्हें राम के अवतार के परंपरागत मिथक की ओर प्रेरित करता है। यही उसका सामाजिक आधार है। अवतार की अवधारणा के पीछे मध्यकालीन समाज की आर्त पुकार है, उसका हाहाकार है, यह स्पष्ट है। इसलिए तुलसी बार-बार इस बात को रेखांकित करते हैं कि अवतार पृथ्वी का भार हरने के लिए, लोक के कल्याण के लिए होता है।

---

1. कवितावली, उत्तरकाण्ड 97.

तुलसीदास के अवतारी राम दीनबंधु हैं। वे गरीबों पर विशेष रूप से दया करते हैं। राम मनुष्य के बड़े-से-बड़े दुःख दूर कर देते हैं, कर सकते हैं। और तुलसीदास की दृष्टि में गरीबी से बड़ा दुःख और कुछ नहीं — "नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।"[1] इसलिए गरीबों को राम की कृपा आसानी से सुलभ होती है। तुलसीदास के राम "असरन सरन दीन जन गाहक"[2] हैं। राम दीनजन गाहक हैं, बल्कि उनका तो नाम ही है "गरीब-निवाज।" तुलसी के शब्दों में —— "बिरद गरीब-निवाज राम को।"[3] राम गरीबों के दुःख से तुरंत द्रवित होते हैं और उनपर कृपा करके उसे दूर करते हैं। तुलसीदास यह बात जोर देकर कहते हैं कि भगवान् राम ही दुखियों के दुःख को दूर करने वाले हैं, उनके जैसा गरीबनेवाज कोई दूसरा नहीं है ——

"आरत आरति भंजन रामु, गरीबनेवाज न दूसरो ऐसो।"[4]

राम को दीनबंधु, गरीबनेवाज कहना यों ही नहीं है। यह उस पूरे समाज की अवस्था को स्पष्ट करता है जो वास्तव में गरीब था, अभावों से ग्रस्त था, पीड़ित था और इसी कारण राम की ओर मुड़ा था, उनकी भक्ति को प्रेरित हुआ था। उसका विश्वास था कि राम उसके कष्ट हरेंगे, उसकी पीड़ा हरेंगे। यही कारण है कि कवि तुलसी इस बात को बराबर रेखांकित करते हैं कि राम ऐसे लोगों की आशा के केन्द्र हैं। वस्तुतः यह बोध उस कवि का बोध है जिसने अपने युग के समाज को, उसके नंगे यथार्थ को न सिर्फ देखा,

- -

1. रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड 121.13
2. वही, 51.4.
3. विनयपत्रिका 99.
4. कवितावली, उत्तरकाण्ड 4.

बल्कि भोगा भी है। उन्होंने देखा है कि गरीब की कहीं कोई पूछ नहीं। वह सब जगह दुतकारा जाता है, फटकारा जाता है। ठाकुर तो समाज में अनेक हैं, लेकिन वे सब स्वार्थी हैं, उनके यहाँ उसकी कोई गति नहीं। उसे यदि उम्मीद है तो सिर्फ राम से, और किसी से नहीं ---

निलज, नीच, निर्गुन, निर्धन कहँ, जग दूसरो न ठाकुर ठाऊँ ।
है घर-घर बहु भरे सुसाहिब, सूझत सबनि आपनो दाऊँ ।।[1]

ऐसे दुदमर्य समाज में गरीबों को आशा की किरण कहीं दिखती है, तो वह है राम के रूप में। वे नीच-से-नीच व्यक्ति को प्यार से गले लगाते हैं। इसीलिए तुलसी लोगों को सलाह देते हैं राम की भक्ति की। उनके शब्दों में ---

सुमिर सनेह सों तू नाम रामराय को ।
संबल निसंबल को, सखा असहाय को ।।
भाग है अभागेहु को, गुन गुनहीन को ।
गाहक गरीब को, दयालु दानि दीन को ।।[2]

निस्सहाय व्यक्ति का सहारा, उसका सखा, अभागे का भाग्य, गुणहीन का गुण, गरीब को चाहने वाला, उस पर दया करने वाला आदि --- राम क्या नहीं है? राम में ये सारे विशेष गुण हों, यह बात उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं, जितनी यह कि जिसमें ये सब गुण हैं वही राम है। वही राम हो सकता है दूसरा नहीं। कवि तुलसी राम के इन गुणों को विशेष रूप से रेखांकित करते हैं। ये सारे गुण उसी में हो सकते हैं जो साकार हो,

1. विनयपत्रिका, 153.
2. वही, 69.

देहधारी हो। इसलिए उनके राम अवतार हैं -- ईश्वर के अवतार। अवतार यथा वे स्वयं ईश्वर हैं जो नर रूप में लोक की पीड़ा हरने के लिए जन्म ग्रहण करते हैं। तुलसीदास का विश्वास है कि बिना राम-भक्ति के मनुष्य का कष्ट नहीं मिट सकता--"बिनु हरि भगति न जाहिं कलेसा ।"[1] भक्ति का संबंध क्लेश से है अथवा उसका कारण क्लेश है। साथ ही उसका उद्देश्य भी है क्लेश का नाश। यह क्लेश विशुद्ध मानवीय है, भौतिक है, इसमें संदेह नहीं। तुलसीदास के राम इतने उदार हैं कि बिना किसी भेदभाव के लोगों का क्लेश दूर करते हैं। लेकिन उनकी सहज कृपा के अधिकारी विशेष रूप से शोषित और पीड़ित जन हैं, जिनका उद्धार बिना सेवा के ही करते हैं--

ऐसो को उदार जग माहीं ।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर रामसरिस कोउ नाहीं ।।[2]

स्पष्ट है कि तुलसीदास ने अपने समकालीन समाज की पीड़ा, उसकी गहरी व्यथा का यथार्थ चित्रण अपनी रचनाओं में --- खास तौर पर कलियुग-वर्णन के प्रसंग में --- किया है। उसका तथ्य उनके युग का तथ्य है और इतिहास इस बात का साक्षी है। कलियुग-वर्णन मध्यकालीन सामाजिक, आर्थिक यथार्थ की उनकी सही समझ का परिचायक है। अपने युग में व्याप्त पीड़ा से कवि तुलसी का असंतोष और उससे मुक्ति पाने के लिए रामावतार की अवधारणा -- यह एक तथ्य है। राम का यह व्यक्तिपरक मिथक उन्हें युग के भयावह यथार्थ का सामना करने का साहस प्रदान करता है। तुलसी राम के अवतार को, उनकी भक्ति को कलियुग की काट के रूप में प्रस्तुत करते हैं। मध्यकाल के समाज में फैली दरिद्रता तथा सामाजिक अन्याय,

1. रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड 89.5.
2. विनयपत्रिका, 162.

उत्पीड़न के बीच तुलसी राम को स्मरण करते हैं, उनसे मदद की आशा और उसकी याचना करते हैं। उनकी यह व्यथा उनकी रचनाओं में अनेक स्थलों पर मुखरित हुई हैं। राम का मिथक उस समाज के यथार्थ से विकसित होता है और विपत्तिग्रस्त समाज का सहारा बनता है। राम की क्या बात, उनका नाम तक कलियुग के त्रिविध ताप का नाश करने वाला है, उसके दुःखों की तीखी धूप से बचाने वाला कल्पवृक्ष है अर्थात् कलियुग की काट है। तुलसी के शब्दों में ---

कलि नाम कामतरु राम को ।
दलनिहार दारिद दुकाल दुख, दोष घोर घन घाम को ।।[1]

3.9 रामावतार और सामंत-विरोधी मूल्य

तुलसीदास ने रामावतार के मिथक के माध्यम से मध्यकालीन भारतीय सामाजिक यथार्थ को वाणी दी। वे अपने समाज से असंतुष्ट थे, उसकी व्यवस्था से असंतुष्ट थे। उनकी रचनाएँ अपने आदर्शवादी तेवर के बावजूद साम्प्रतिक यथार्थ से जूझती हैं। तुलसी के समय का समाज सामंती समाज था। वे मानते थे कि समाज की अधिकांश बुराइयाँ किसी अलौकिक शक्ति की देन नहीं, बल्कि मानव द्वारा पैदा की गई हैं। आकस्मिक नहीं कि उनके काव्य में लौकिक राजाओं के प्रति जगह-जगह उपेक्षा-भाव मिलता है, आक्रोश मिलता है। अनेकत्र तुलसी ने अन्यायी

---

1. विनयपत्रिका, 156.

राजाओं के विनाश की कामना की है। कहना न होगा कि यह तुलसी की व्यवस्था-विरोधी छवि प्रस्तुत करता है। अपने समय की शोषक सामंती व्यवस्था के विभिन्न पहलुओं पर उन्होंने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रहार किये हैं। उनकी रचनाओं में कई ऐसे मूल्यों की अभिव्यक्ति हुई है जो तत्कालीन व्यवस्था के मूल्यों से मेल नहीं खाते, उनके विरोध में जाते हैं। जाहिर है कि इन मूल्यों का आधार है राम का मानवीय चरित्र और उनकी मानवीय गाथा। प्रस्तुत प्रसंग में तुलसी के काव्य में व्यक्त प्रमुख सामंत-विरोधी मूल्यों का विवेचन किया जा रहा है।

रामावतार की कथा के माध्यम से तुलसीदास ने मध्यकालीन भोगवाद को चुनौती दी है, उसका विरोध किया है। सामंती व्यवस्था का चरम मूल्य होता है भोग-विलास, ऐश्वर्य। मध्यकालीन भारतीय इतिहास में सामंत वर्ग के अतिशय भोग-विलास, उसके अतिशय खर्चीले ऐश्वर्य के संबंध में पर्याप्त तथ्य उपलब्ध हैं। जनता के शोषण से इकट्ठा धन आखिर खर्च कहाँ होता था? यह खर्च होता था गजशाला और पत्नीशाला पर। सम्राट् अकबर के हरम में पाँच हज़ार स्त्रियाँ तथा उनके लिए हजारों-हजार सेवक-सेविकाओं की तैनाती ऐतिहासिक तथ्य है। अन्य छोटे-बड़े सामंतों की स्थिति भी इससे बहुत भिन्न नहीं थी। उनके हाथी और घोड़े सोने-चाँदी के जेवरों से लदे होते थे, स्वयं उनकी और उनके खानदान की बात क्या की जाय? किस सामंत के पास कितनी बड़ी संख्या में हाथी, घोड़े हैं, यह सवाल महत्वपूर्ण था। सामंतों की सामाजिक प्रतिष्ठा इस बात पर निर्भर करती थी।

तुलसी के राम विलासिता और ऐश्वर्य के विरोधी हैं। उनकी जीवन-पद्धति मध्यकाल की सामान्य जनता की जीवन-पद्धति से मिलती-जुलती है। जिस युग में किसी भी प्रकार से धन जमा करना, उसको

विलासिता पर खर्च करना महत्वपूर्ण होता हो, उसमें राम द्वारा अपने पिता की अथाह संपत्ति, उनके साम्राज्य का त्याग कोई साधारण बात नहीं। राम को इससे थोड़ा भी लगाव नहीं, इसका जरा भी आकर्षक नहीं। वे अपने पिता का राज्य बटोही की तरह छोड़कर चल देते हैं ----

राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाउ की नाई ।[1]

इतने बड़े साम्राज्य का इतनी निर्ममता के साथ त्याग राम के चरित्र को अतिशय महान् और आदरणीय बना देता है। जिस व्यवस्था में राज्य के लिए, धन के लिए आदमी आदमी का खून करता हो, वहाँ राम का यह महान् त्याग विशेष रूप से महत्ता प्राप्त करता है।

"रामचरितमानस" के अयोध्याकाण्ड में लक्ष्मण निषादराज गुह से कहते हैं कि संसार में जीव को जागा हुआ तभी मानना चाहिए जब सारे भोग-विलास से उसका वैराग्य हो जाय ----

जानिय तबहिं जीव जग जागा । जब सब विषय विलास बिरागा ।[2]

कहने की आवश्यकता नहीं कि लक्ष्मण द्वारा प्रस्तुत मनुष्य के जागरण की यह कसौटी कितनी क्रांतिकारी है, कितनी प्रासंगिक है। यह सामंती भोग-विलास का खुला विरोध है। रावण के आलीशान महल के साथ-साथ उसकी गजशाला और हयशाला भी हनुमान द्वारा लगाई गई आग में जलकर राख हो जाती है। तुलसी इस स्थिति का बड़े ही उत्साह से चित्रण करते हैं। वे इसमें खूब रस लेते हैं ----

---

1. कवितावली, अयोध्याकाण्ड-1.
2. रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड 91.4.

तुलसी अगारु न पगारु न बजारु बच्यो,
हाथी हयसार जो, घोरे घोर सारहीं ।[1]

यह कहना हिमाकत की बात होगी कि इसका मध्यकाल के सामंती महल, गजशाला आदि से कोई लेना-देना नहीं। वस्तुतः यहाँ तुलसी अपने युग की विलासी सामंती सत्ता के विनाश की फैंटेसी प्रस्तुत करते हैं ।

तुलसी के राम की संपूर्ण जीवन-शैली सरल, सहज और इसीलिए सामंत-विरोधी है। उनके पैरों में जूते नहीं हैं। वे बीहड़ जंगल में नंगे पाँव चलते हैं। सीता और लक्ष्मण भी इसके अपवाद नहीं। "मानस" के लंकाकाण्ड में राम-विभीषण का बड़ा मार्मिक संवाद-प्रसंग आया है। युद्धभूमि में राम बिना रथ और बिना कवच के उपस्थित हैं। दूसरी तरफ रावण सुसज्जित रथ पर सवार होकर आया है। राम की साधनहीनता विभीषण को विचलित कर देती है। वे आशंका ग्रस्त होकर राम से पूछते हैं कि ऐसी हालत में आप रावण को कैसे जीतेंगे ---

नाथ न रथ नहिं तन पद त्राना । केहि बिधि जितब बीर बलवाना।।[2]

राम विभीषण की इस शंका का निवारण करते हुए रूपक की भाषा में बतलाते हैं कि विजय के लिए इन बाहरी साधनों की आवश्यकता नहीं होती। उसके लिए आवश्यक होता है शौर्य और धैर्य, सत्य और शील, क्षमा, दया और समता-भाव। इसके साथ ही भक्ति, संतोष, दान, निर्मल मन आदि

---

1. कवितावली, सुंदरकाण्ड 23.
2. रामचरितमानस, लंकाकाण्ड 80.3.

विजय के लिए आवश्यक उपादान हैं। बड़ी लड़ाइयाँ इन्हीं भीतरी गुणों के बल पर जीती जाती हैं, जीती जा सकती हैं। तुलसीदास के शब्दों में-

सुनहु सखा कह कृपानिधाना । जेहिं जय होइ सो स्यंदन आना ।।
सौरज धीरज तेहि रथ चाका । सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका ।।
बल बिबेक दम परहित घोरे । छमा कृपा समता रजु जोरे ।।
. . . .
सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें ।।[1]

इन्हीं नैतिक मूल्यों के बल पर राम रावण पर विजय पाते हैं। इनके अभाव में सारे बाहरी साधनों के बावजूद रावण हारता है। राम की यह विजय साधनसंपन्न पर साधनहीन की विजय है। यह जनता की विजय है। और जनता के पास भला युद्ध के लिए इतने बाहरी साज-सामान कहाँ? राम की यह विजय उन लोगों की विजय है जिन्हें जूते तक नहीं नसीब थे और जो नंगे पाँव चलने को अभिशप्त थे। बाकी साधनों की तो कल्पना भी उनके लिए मुश्किल थी। मध्यकाल के किसान ऐसे ही थे। बाबर के हवाले से मोरलैंड ने लिखा है ---

"..... in India peasants and people of low standing go about barefeet."[2]

राम ऐसे ही साधनहीन लोगों के प्रतिनिधि हैं। तुलसी ने इस साधनहीनता को ही उनका रक्षाकवच बनाकर प्रस्तुत किया और उनमें नैतिक गुणों की प्रतिष्ठा पर बल देकर उनमें आत्म गौरव का संचार किया ।

---

1. रामचरितमानस, लंकाकाण्ड 80.4-11.
2. कैम्ब्रिज इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया [सं.], खंड-1, पृ.459.

राम का चरित्र सामंत वर्ग की भोगवादिता को नकारता है। वे एकपत्नीव्रत धारी हैं। जहाँ रावण के महल में देश-देश से अपहरण कर लायी गयी असंख्य सुंदर स्त्रियाँ हैं, वहाँ राम, लक्ष्मण आदि एकपत्नीव्रत हैं। सामंती व्यवस्था में नारी को उपभोग की वस्तु माना जाता है। इसलिए सामंत वर्ग अन्य वस्तुओं की तरह नारी को भी धन के अंतर्गत गिनता है। उसे कोई व्यक्तित्व प्राप्त नहीं होता॰व्यवस्था में। मध्यकाल में, जहाँ छोटा ज़मींदार भी तीन-चार से कम पत्नियाँ नहीं रखता था, वहाँ तुलसी का राम के एकपत्नीव्रती होने पर बल अपने आप में उस पतनशील व्यवस्था के प्रति कवि के विरोध-भाव का सूचक है। सब तरह के वैभव और ऐश्वर्य से युक्त व्यक्ति भी तुलसी की दृष्टि में उपेक्षा का पात्र है, दो कौड़ी का है यदि वह राम का भक्त नहीं है। ऐसे लोगों की विलासी जीवन-शैली का वर्णन करने के बाद वे कहते हैं ---

ऐसे भए तौ कहा, तुलसी, जो पै जानकीनाथ के रंग न राते ।।[1]

स्पष्ट ही तुलसी के लिए महानता की कसौटी ऐश्वर्य नहीं है। उन्होंने ऐश्वर्यवान लोगों की विलासिता, भोगवादिता के समानांतर राम की सादगी का चित्रण करके उसे सामंत-विरोधी मूल्य के रूप में उपस्थित किया है।

तुलसीदास के राम करुणामय हैं, दयामय हैं। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है। तुलसी की काव्य-रचना का स्रोत मध्यकाल के सामान्य मनुष्य की पीड़ा है, उसकी दयनीय अवस्था है। इसलिए अवतारी राम की जो प्रतिमा वे गढ़ते हैं, वह लोककल्याणकारी है। राम करुणासागर हैं,

---

1. कवितावली, उत्तरकाण्ड 44.

दयानिधान हैं। उनकी करुणा दीन-दुखियों के प्रति है, उपेक्षितों के प्रति है। पक्षीराज जटायु, भीलनी शबरी, निषादराज गुह पर उनकी विशेष कृपा होती है। वे राम की करुणा, दया के विशेष अधिकारी हैं। मानस के अयोध्याकाण्ड में गंगा पार करने के लिए राम जब गुह से नाव लाने को कहते हैं, तो वह सकुचाते हुए उनसे बताता है कि महाराज, मैं आपका रहस्य जानता हूँ, इसलिए नाव लाने का खतरा मोल लेना नहीं चाहता। आपके चरणकमलों में मनुष्य बना देने वाली कोई जड़ी है, ऐसा लोग कहते हैं ----

> चरन कमल रज कहुँ सबु कहई । मानुष करनि मूरि कछु अहई ।।
> छुअत सिला भइ नारि सुहाई । पाहन तें न काठ कठिनाई ।।[1]

जब आपके चरणों की धूल से पत्थर भी नारी बन जाता है, तो मेरी काठ की नाव की क्या बिसात। तुलसी ने यहाँ बड़े ही कलात्मक ढंग से एक महत्वपूर्ण बात कह दी है। राम के स्पर्श से कोई भी वस्तु मनुष्य बन जाती है, बन जा सकती है। वे कहना यह चाहते हैं कि उनकी करुणा इतनी दिव्य है, इतनी मानवीय है कि उसे पाकर कोई भी मनुष्य बन सकता है। ध्वनि स्पष्ट है कि जिस व्यवस्था में मनुष्य को मनुष्य नहीं माना जाता, उसे उसका व्यक्तित्व नहीं प्राप्त होता, उसमें राम के स्पर्शमात्र से, उनकी कृपामात्र से मनुष्य को उसका व्यक्तित्व----उसका खोया हुआ व्यक्तित्व मिल जाता है। मनुष्य के व्यक्तित्व की वापसी का यह प्रसंग सामंत-विरोधी मूल्य माना जाना चाहिए।

राम समाज के सबसे उपेक्षित वर्ग-कोल, भील, किरात आदि-- का उद्धार करते हैं। उनकी असीम करुणा और सहानुभूति पाकर वे

---

1. रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड 100.3

धन्य हो जाते हैं। तुलसी के शब्दों में ---

स्वपच सबर खस जमन जड़ पाँवर कोल किरात ।
रामु कहत पावन परम होत भुवन विख्यात ।।[1]

निषादराज राम की कृपा पाकर "भुवन भूषन" बन गया। वह अपनी अधमता से मुक्त हो जाने की घोषणा करता है ---

कपटी कायर कुमति कुजाती । लोक बेद बाहेर सब भाँती ।।
राम कीन्ह आपन जबहीं तें । भयउँ भुवन भूषन तबही तें ।।[2]

तुलसीदास राम द्वारा इन उपेक्षित, अकुलीन लोगों को महिमा प्रदान करने का प्रसंग उस काल में लिख रहे थे, जिसमें इन नाममात्र के मनुष्यों का शिकार किया जाता था और इन्हें थोक रूप से सालाना काबुल भेजा जाता था और इनके बदले में उधर से कुत्ते तथा घोड़े प्राप्त किये जाते थे। शिकार में पकड़े गये इन लोगों के बारे में मोरलैंड ने लिखा है ----

"......they remain the kings slaves, which he sends yearly to kabul to barter for horses and dogs : these being poor, miserable, thievish people, that live in woods and deserts, little differing from beasts."[3]

---

1. रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड 194.
2. वही, 196.2
3. मोरलैंड : इंडिया ऐट द डेथ ऑफ अकबर, पृ.28.

जानवर की जिन्दगी जीने वाले वनवासियों को राम की करुणा मिलती है, उनका प्रेम मिलता है और इस प्रकार उन्हें मानवीय गरिमा प्राप्त होती है। राम के मानवीय स्पर्श से उनमें आशा और उत्साह का संचार होता है, उनका व्यक्तित्व उन्हें वापस मिल जाता है। राम के अयोध्या लौटने पर जब निषाद विदा होता है तो राम कहते हैं ---

तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता । सदा रहेहु पुर आवत जाता ।।[1]

वर्णाधम निषाद को भरत के समान प्रिय भाई मानना ऐसे उपेक्षित लोगों के प्रति राम की अपार करुणा का परिचायक है। साथ ही यह उस अमानवीय व्यवस्था के प्रति उनके घोर असंतोष और विरोध का प्रमाण भी है, जिसने उन्हें ऐसी स्थिति में ढकेला है और जिसे बदलने के लिए, दुरुस्त करने के लिए उनका अवतार हुआ है।

राम का चरित प्रेम का मूर्तिमान रूप है। जिस समाज में चारों ओर घृणा, विद्वेष, स्वार्थ का साम्राज्य हो, वहाँ प्रेम के इस मूर्तिमान रूप की कल्पना कहीं-न-कहीं उस व्यवस्था के प्रति कवि के असंतोष और विरोध को वाणी देती है। भक्त के प्रति प्रेम रामावतार का एक प्रमुख प्रयोजन है। तुलसी ने राम में जन्मभूमि का प्रेम, गरीब, उपेक्षित और परित्यक्त लोगों के प्रति प्रेम चित्रित किया है। वस्तुतः स्वयं तुलसी में अपने समाज में ऐसे लोगों के प्रति जो गहरा प्रेम उमगा था, वही राम में साकार हो गया है। अपनी भावना के अनुरूप उन्होंने राम को प्रेममय बनाया है। राम प्रेम को सर्वाधिक महत्व देते हैं। वे भक्ति को ही एकमात्र संबंध मानते हैं। वे शबरी से कहते हैं --- "मानउँ एक भगति कर नाता ।"[2]

---

1. रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड 20.3.
2. वही, अरण्यकाण्ड 35.4

नीच से नीच जाति का भक्त उनकी दृष्टि में संभ्रांत कुलाभिमानी अभक्त से श्रेष्ठ है। तुलसी के शब्दों में ---

तुलसी भगत सुपच भलो भजै रैन दिन राम ।
ऊँचो कुल केहि काम को जहाँ न हरि को नाम ।।[1]

जिस व्यवस्था में व्यक्ति अपने गुण नहीं, अपनी जाति और अपने कुल के कारण महान माना जाता हो, वहाँ महानता की कसौटी प्रेम को बनाना एक महत्वपूर्ण तथ्य है, जो वर्तमान पुरानी कसौटी को नकारता है।

स्पष्ट है कि राम के चरित्र में जिन अनेक गुणों की प्रतिष्ठा तुलसी ने की है, वे असाधारण हैं। राम भले ही ईश्वर हों, ईश्वर के अवतार हों, लेकिन जो रूप उन्होंने ग्रहण किया है, वह है मानव का। इसलिए मानवोचित सारे महत्वपूर्ण गुणों का, महत्वपूर्ण मूल्यों का उनमें निवास है। उनका व्यक्तित्व त्याग, दया, करुणा, प्रेम, उदारता आदि मानवीय गुणों का श्रेष्ठ आदर्श है। मानवावतार राम मानव को सर्वाधिक महत्व देते हैं, मानव-शरीर को दुर्लभ बताते हैं ---

बड़े भाग मानुष तनु पावा । सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा।।[2]

आकस्मिक नहीं कि मानव को सर्व-श्रेष्ठ मानने वाले कवि तुलसी को डॉ. रामविलास शर्मा मनुष्य का सबसे बड़ा उपासक मानते हैं। उनके अनुसार--

"तुलसी की भक्ति मानववाद में डूबी हुई है। यह कवि मनुष्य का

- -

1. दोहावली, 407.
2. रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड 43.7

सबसे बड़ा उपासक है। तुलसी ने प्राचीन महाकाव्यों की मानववादी परंपरा को आगे बढ़ाया है। "न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्" पर रामचरितमानस मानो सजीव भाष्य है। अनेक बार तुलसी ने भक्त को भगवान् से बड़ा बतलाया है, इससे अधिक वह मानव-प्रेम का प्रमाण क्या दे सकते थे?"[1]

तुलसीदास रामावतार के मिथक के माध्यम से मानववाद की परंपरा को आगे बढ़ाते हैं, उसे प्रतिष्ठित करते हैं। अवतारवाद के द्वारा राम में व्यापक गुणों की प्रतिष्ठा करके ही वे ऐसा करते हैं। इसी के बल पर रामभक्ति का लोकग्राह्य स्वरूप उपस्थित करने में वे सफल हुए हैं। राम के चरित के द्वारा तुलसीदास लोकधर्म की दो मुख्य विशेषताओं ---- अन्याय का प्रतिवाद तथा प्रेम -- पर विशेष बल देते हैं और उन्हें ऐसे मूल्यों के रूप में प्रस्तुत करते हैं, जो स्थापित व्यवस्था के विरोध में जाते हैं।

तुलसी राम के आदर्श राज्य -- "रामराज्य" की कल्पना करते हैं। अपने समय की दुरवस्था के कारण ही वे उसकी आदर्श कल्पना करते हैं। वस्तुतः रामराज्य की कल्पना के द्वारा तुलसी मध्यकालीन सामंती कुशासन को चुनौती देते हैं, उससे लड़ते हैं। राम वहाँ आदर्श राजा हैं। उनके संरक्षण में सब लोग उदार और परोपकारी हैं। सब एक-दूसरे के मित्र हैं। राम के आदर्श चरित्र के प्रभाव से वहाँ वैषम्य मिट गया है। सारे लोग समान हैं और परस्पर प्रेम-व्यवहार रखते हैं। किसी को किसी प्रकार का कष्ट नहीं है। धर्म का पूरा पालन होता है। रामराज्य में सरयू के तट पर चारों वर्णों के लोग एक साथ स्नान करते हैं -- राजघाट सब बिधि सुंदर बर। मज्जहिं तहाँ बरन चारिउ नर ।।[2] स्पष्ट है कि रामराज्य की आदर्श अवधारणा

---

1. रामविलास शर्मा : परम्परा का मूल्यांकन, पृ. 84.
2. रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड 29.।

मानववाद पर आधारित है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह वर्तमान व्यवस्था के प्रति कवि तुलसी के घोर असंतोष और उसके खात्मे की कामना का ही फैंटेसी के धरातल पर प्रक्षेपण है, जो रामावतार की मिथक-कथा के द्वारा संभव हुआ है।

इस प्रकार तुलसीदास के साहित्य में अनुस्यूत अवतार की अवधारणा का ताना-बाना मध्यकालीन भारतीय सामाजिक परिवेश में बुना गया है। इस पर उस युग की छाप स्पष्ट है। रामावतार के मिथक ने मानव-जीवन और समाज को बदलने के लिए, उसे बेहतर बनाने के लिए अलौकिक विश्वास दिया। परब्रह्म राम मानव रूप में अवतरित होकर युगों-युगों के लिए मनुष्यता के आदर्श बन गए हैं। राम की अवतार मूर्ति सामाजिक असंतोष की उपज है और उस असंतोष को मिटाकर बेहतर समाज व्यवस्था की रचना का साधन भी। वे भारतीय जनता के नैतिक गुणों के प्रतिनिधि हैं। राम के द्वारा प्रतिष्ठित प्रेम का मूल्य पारिवारिक संबंधों के साथ ही व्यापक सामाजिक संबंधों की धुरी है। इसमें संदेह नहीं कि गोस्वामी तुलसीदास ने रामावतार के मिथक को अपनी असाधारण प्रतिभा के सहारे चमकाकर, उसे व्यापक मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित कर और इस प्रकार उसे एक "प्रामाणिक चरित" के रूप में उपस्थित कर इतना महिमाशाली बना दिया, जो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "जीवन भर बना रहने वाला प्रभाव"[1] उत्पन्न करने में समर्थ है।

3.10 अन्य रामभक्त कवियों के साहित्य में अवतारवाद

तुलसीदास के समकालीन तथा परवर्ती कुछ अन्य कवियों ने भी रामभक्ति साहित्य की रचना की। इस संबंध में अग्रदास,

---

1. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 99.

नाभादास, प्राणचंद चौहान, हृदयराम, केशवदास आदि की चर्चा की जा सकती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इन कवियों की रचनाओं में रामोपासना का एक अन्य पक्ष ज्यादा उभरकर सामने आता है और वह है माधुर्य भक्ति का उत्कर्ष। तुलसीदास के राम लोकमर्यादा के रक्षक, लोकविरोधी तत्वों के संहारकर्ता तथा लोकधर्म के संस्थापक है। तुलसी के साहित्य के प्रचार से राम के उस चरित की व्यापक प्रतिष्ठा हुई जिसे रामचन्द्र शुक्ल "शील, शक्ति और सौन्दर्य" का समन्वित रूप मानते हैं। राम की मर्यादाबद्ध, ऐश्वर्यपूर्ण भक्ति को जनमानस में गहरे प्रतिष्ठित करने का श्रेय तुलसीदास को ही है। इसलिए माधुर्यभाव समन्वित राम काव्यधारा को प्रतिष्ठा नहीं मिल सकी। लोक ने उसे स्वीकार नहीं किया।

अग्रदास, नाभादास आदि की रचनाओं में राम के युगल रूप का वर्णन मिलता है। अग्रदास अपने एक पद में राम को भक्तवत्सल तथा अयोध्या नायक के साथ-साथ जानकीरमण के रूप में स्मरण करते हैं। उनका विचार है कि संतों की रक्षा के लिए ही राम सदैव धनुष-बाण लिए रहते हैं--

संतन की रक्षा के कारण निशिदिन लिए रहत कर शायक ।
गौतम घरनि गज ग्राह तारण शरण विभीषण कपि जो सहायक ।
सेवा अल्प मेरु सम मानत करुणा सिन्धु अयोध्या नायक ।
शिव सनकादिक वेणुधर शारद शेष विमल यश गायक ।
जानकीरमण भक्तवत्सल हरि अग्रदास उर आनन्ददायक ।[1]

नाभादास राम के युगल रूप की महत्ता बतलाते हुए कहते हैं कि अयोध्या राम की अखंड विहार-भूमि है और प्रभु के सभी अवतार चारों ओर से इस प्रभु की सेवा करते हैं। उनके शब्दों में ---

1. रागकल्पद्रुम, पद 6.

नित्य श्री नृप मंडली, अवध अखंड विहार ।
तेहि सेवत चहुँ ओर नित, प्रभु के सब अवतार ।।[1]

नाभादास की दृष्टि में अयोध्या भी वृंदावन की तरह नित्य लीलाधाम है। यहाँ तक कि वे राम के कुंज-सुख का वर्णन भी करते हैं ---

युगल लाल प्रिय कुंज सुख, नित नव विमल विहार ।
पंचम भाव रति युगल मति, वर्णत लहत न पार ।।[2]

इस तरह के वर्णन में कवि रस लेता है, यह स्पष्ट है। लोकमर्यादा के पालक और संरक्षक राम यहाँ "कुंजबिहारी" बन गए हैं। अन्य कवियों ने भी इस पहलू को अपने-अपने ढंग से उजागर करने का प्रयास किया है।

रीतिकाल के प्रवर्तक कवि माने जाने वाले केशवदास ने जो काल के विचार से भक्तिकाल की सीमा में आते हैं, रामचरित को आधार बनाकर अपने ग्रंथ "रामचंद्रिका" की रचना की। किन्तु उनका यह महत्वाकांक्षी प्रयास किसी भी लिहाज से "रामचरितमानस" के सामने नहीं ठहरता है। कुछ दूर तक तो केशवदास ने तुलसी द्वारा प्रतिपादित अवतार प्रयोजन आदि का अनुसरण किया है। तुलसी के समान वे भी मानते हैं कि राम भक्तों के कल्याण के लिए अवतार लेते हैं। साथ ही उनके राम अनादि और अनन्त भी हैं ---

तुम अमर अनंत अनादि देव, नहिं वेद बखानत सकल भेव ।
सबको समान नहिं वैर नेह, सब भक्तन कारन धरत देह।।[3]

---

1. नाभादास : रामाष्टयाम, दोहा 3.
2. वही, पृ. 15.
3. केशव ग्रंथावली, खंड-2, पृ. 269.

राम अनेक रूप धारण कर जग को मोह लेते हैं ---

तुम आदि मध्य अवसान एक, जग मोहत हो वपुधरि अनेक।[1]

तुलसीदास की तरह ही केशवदास का भी मत है कि निर्गुण ब्रह्म ही अवतार ग्रहणकर सगुण बन जाता है। किन्तु अपनी "मौलिकता' दिखाते हुए वे राम को "रंगमहल" में सीता की एक सखी राजश्री के साथ स्थापित कर देते हैं ---

जाके रूप न रेख गुन, जानत बेद न गाथ।
रंगमहल रघुनाथ गे, राजश्री के साथ।।[2]

केशवदास की दृष्टि जीवन के गंभीर तथा मार्मिक पक्ष पर नहीं थी। वे चमत्कारवादी कवि, आचार्य थे। अतः उनके काव्य में स्वभावतः मार्मिकता और गहराई का अभाव है। उनकी दृष्टि अलंकार-योजना आदि बाहरी उपादानों पर ज्यादा रमी है। यही कारण है कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी रामचरित को नहीं, बल्कि छंद और अलंकार को ही "रामचंद्रिका" का प्रतिपाद्य विषय मानते हैं। उनके शब्दों में ----

"छंद और अलंकार ही "रामचंद्रिका" में प्रतिपाद्य विषय बन गये हैं।......वस्तुतः केशव रीति-काल के ही आचार्य हैं।"[3]

इस प्रकार भक्तिकाल में तुलसीदास-कृत रामकाव्य से इतर जो रामकाव्य रचा गया है, वह कोई प्रभावशाली काव्य नहीं माना जा सकता है। प्रायः रसिक भक्तों द्वारा रचित यह काव्य किसी भी दृष्टि

---

1. केशव ग्रंथावली, खंड-2 पृ. 284.
2. वही, पृ. 376.
3. हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास, पृ. 149

से मन पर स्थायी प्रभाव नहीं डालता। राम के लोकमर्यादापालक रूप को गौण कर इन कवियों ने उनके युगल रूप की भक्ति पर बल दिया। श्रृंगारपरक माधुर्यभक्ति का मुलम्मा रामचरित पर ज्यादा समय टिक नहीं सकता था, नहीं टिका। हालाँकि इसका एक कारण तुलसीदास का युगांतरकारी साहित्य भी है, जिसके सामने अन्य रामभक्तिपरक रचनाएँ तेजरहित हो गईं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में ---

"गोस्वामी तुलसीदास के लोकव्यापी प्रभाव ने जहाँ रामचरित को अत्यंत लोकप्रिय बना दिया, वहीं रामचरित-संबंधी अन्यान्य काव्यों को श्रीहीन और फीका बना दिया है।"[1]

स्पष्ट ही अवतारवाद की दृष्टि से इस साहित्य का कोई विशेष महत्व नहीं।

3.11 कृष्णभक्ति साहित्य में अवतारवाद : सामाजिक संदर्भ

कृष्णावतार का मिथक भक्तिकालीन कृष्णभक्ति साहित्य में अपने संपूर्ण विस्तार में अभिव्यक्त हुआ है। विष्णु के अवतार कृष्ण का चरित भारतीय इतिहास के दबावों में रूपान्तरित होता रहा है। "महाभारत" में कृष्ण का जो स्वरूप वर्णित है, वह साहित्य में उनके उपयोग की महत्वपूर्ण शुरुआत है। बाद में पौराणिक साहित्य में लीला-प्रसंग से जुड़कर उनका व्यक्तित्व बहुरंगी बनता है और उसके अनेक पक्ष सामने आते हैं। धर्म और काव्य ने ढेर सारे काल्पनिक प्रसंगों की उद्भावना करके उन्हें कृष्ण-चरित से जोड़ा, उसे लीलाओं से संपन्न बनाया। "महाभारत" के

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य :उद्भव और विकास,पृ.149.

सूत्रधार कृष्ण पुराणों में आकर सूत्रधार मात्र नहीं रहते, बल्कि उनका वह रूप धीरे-धीरे गौण पड़ता जाता है और उनके व्यक्तित्व की अनेक नई छवियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। यहाँ गोपाल कृष्ण का अत्यंत मनोहर रूप महत्वपूर्ण हो जाता है और महत्वपूर्ण हो जाता है उनका गोपीजन वल्लभ रूप। भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य में कृष्ण का यही रूप सर्वाधिक सामने आता है। भागवत आदि पुराणों में कृष्ण का अवतारवादी रूप व्यापक प्रसार पा चुका था। एक ओर वे विष्णु के अवतार माने गए तो दूसरी ओर स्वयं भगवान ही। भक्ति साहित्य में कृष्ण के दोनों रूप मिलते हैं।

सूरदास आदि कवियों के साहित्य में अभिव्यक्त अवतारवाद के विवेचन के पूर्व क्रान्तदर्शी महाप्रभु वल्लभाचार्य के विचारों की संक्षिप्त चर्चा अपेक्षित है। कृष्णभक्ति काव्यधारा के विकास में उनका बहुत महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वल्लभाचार्य (सं. 1535 -- सं. 1587) उच्च कोटि के शास्त्रकार, भाष्यकार और अपने समय के जागरूक व्यक्ति थे। उन्होंने "ब्रह्मसूत्र" का भाष्य लिखा जो "अणुभाष्य" कहलाता है। इसी ग्रंथ में उन्होंने दार्शनिक सिद्धांत "शुद्धाद्वैतवाद" का प्रतिपादन किया है। वल्लभाचार्य ने शंकराचार्य के मायावादी सिद्धान्त, जिसके अनुसार सृष्टि-मात्र मिथ्या है, के विरोध में ब्रह्मवाद के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इसके अनुसार शुद्ध ब्रह्म ही सृष्टि करता है। मायारहित होने के कारण ब्रह्म शुद्ध है। वल्लभ का विचार है कि जगत् ब्रह्म की वास्तविक अभिव्यक्ति है। वे कृष्ण को "पूर्ण पुरुषोत्तम" कहते हैं। यह जगत् ईश्वर की लीला के कारण अस्तित्व में आता है। जीव ब्रह्म का अंश है। ब्रह्म के सत्, चित्, आनंद में से जीव आनंद के अंश को भुला चुका होता है। आनंद अंश की संप्राप्ति से वह ब्रह्मवत् हो जाता है, हालाँकि तब भी उसका व्यक्तित्व सुरक्षित रहता

है। ईश्वर की कृपा से ही उसे यह आनंद प्राप्त होता है। स्पष्ट है कि आनंद ईश्वर-कृपा का परिणाम है और ईश्वर-कृपा की प्राप्ति के लिए किसी तरह का बंधन नहीं है। द्विज-शूद्र, स्त्री-पुरुष, साक्षर-निरक्षर, धनी-निर्धन के भेद की यहाँ कोई स्वीकृति नहीं, उसका कोई औचित्य नहीं। भारतीय समाज में सदियों से उपेक्षित शूद्र वर्ण के लोगों तथा स्त्रियों को भक्ति के क्षेत्र में समान अधिकार दिलाने में महाप्रभु वल्लभाचार्य का अप्रतिम योगदान है। मध्यकालीन भारतीय परिस्थितियों में यह कितना प्रगतिशील विचार रहा होगा, कहने की आवश्यकता नहीं। आनन्द को ईश्वर-कृपा का परिणाम मानकर तथा ईश्वर-कृपा की प्राप्ति में सभी तरह के भेदभावों को नकारकर वल्लभ दर्शन को सामान्य मनुष्य के जीवन से जोड़ते हैं। वल्लभाचार्य ने "पुष्टिमार्ग" की प्रतिष्ठा की जिसमें सूरदास आदि महत्वपूर्ण कवि शामिल हुए। उनके अनुसार भगवान का अनुग्रह ही पुष्टि है, जिससे हृदय में भक्ति का संचार होता है। भगवान के चरणों में अपने को पूर्णरूपेण समर्पित करने से भगवान का अनुग्रह प्राप्त होता है। स्पष्ट ही पुष्टिमार्ग भगवान के अनुग्रह पर, उनकी कृपा पर सर्वाधिक बल देता है और इसमें किसी तरह के शास्त्रीय विधि-निषेध का बंधन नहीं है। भागवत की "सुबोधिनी टीका" तथा "कृष्णाश्रय" नामक अपने ग्रंथों में वल्लभाचार्य ने कृष्ण को परब्रह्म मानते हुए उन्हें "पुरुषोत्तम" कहा है तथा उनकी लीला को नित्य लीला की संज्ञा दी है। वल्लभाचार्य ने प्रेमलक्षण भक्ति को रेखांकित कर प्रेम को सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व के रूप में प्रतिष्ठित किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में-

"भक्ति की साधना के लिए वल्लभ ने उसके "श्रद्धा" के अवयव को छोड़कर जो महत्व की भावना में मग्न करता है, केवल "प्रेम" लिया। प्रेमलक्षणा भक्ति ही उन्होंने ग्रहण की।"[1]

---

1. रामचन्द्र शुक्ल : सूरदास, पृ. 76-77.

कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य वल्लभाचार्य के अनंतर गति प्राप्त करता है।

भक्तिकालीन हिन्दी कृष्णभक्ति काव्य ब्रजभाषा में लिखा गया है। इसके पूर्व विद्यापति ने मैथिली में राधाकृष्ण की प्रेमलीला का चित्रण किया था। किन्तु उस चित्रण में शरीर पक्ष ही प्रधान था। भक्तिकाव्य में अपने आराध्य के प्रति जो गहरा प्रेम और समर्पण मिलता है, उसका यहाँ अभाव है। विद्यापति की दृष्टि पर शृंगारिकता ही हावी है। कृष्णावतार को केन्द्र में रखकर जो श्रेष्ठ ब्रजभाषा काव्य रचा गया, उसके वास्तविक आरंभकर्ता का श्रेय कविवर सूरदास को ही मिलना चाहिए। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में ---

"वस्तुतः सूरदास ही ब्रजभाषा के प्रथम कवि हैं और लीलागान का महान समुद्र "सूरसागर" ही उसका प्रथम काव्य है।"[1] स्वाभाविक है कि कृष्ण भक्ति साहित्य में अवतारवाद की चर्चा का आरंभ सूरदास के साहित्य के विवेचन से हो।

312 सूरदास का साहित्य : कृष्णावतार तथा उसकी मनोहर लीलाओं से ओतप्रोत

सूरदास कृष्णभक्ति काव्यधारा के सर्वाधिक महत्वपूर्ण कवि हैं। उनका आविर्भाव पन्द्रहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में माना गया है तथा तिरोधान सोलहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में। जाहिर है कि उन्होंने लंबी आयु पायी थी। पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी का

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास, पृ. 108

भारतीय समाज विकास की किन परिस्थितियों से गुजर रहा था, उसका स्वरूप कैसा था आदि बातों की चर्चा की जा चुकी है। उसे यहाँ दोहराने का कोई औचित्य नहीं। फिर भी सूरदास के साहित्य के विवेचन-क्रम में, उसमें अभिव्यक्त अवतार के सिद्धान्त के विवेचन-क्रम में उसकी चर्चा यथाप्रसंग की जाएगी। इससे उनके साहित्य में व्यक्त अवतारवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि को समझने में सुविधा होगी।

सूरदास की सबसे प्रसिद्ध काव्य-कृति "सूरसागर" है। ऐसे तो विद्वानों ने उनकी रचनाओं की लंबी सूची प्रस्तुत की है और उनकी संख्या पच्चीस तक बतलाई है, किन्तु, उनमें से अधिकांश रचनाएँ "सूरसागर" के पदों के संग्रह-मात्र हैं। "सूरसारावली" तथा "साहित्यलहरी" नामक दो अन्य रचनाएँ भी उनकी लिखी गयी मानी जाती हैं। "सूर सारावली" को "सूरसागर" का सार माना जाता है हालाँकि इसमें अनेक नये प्रसंग आए हैं और कई जगह यह स्वतंत्र रचना होने का प्रमाण प्रस्तुत करती है। "साहित्यलहरी" की प्रामाणिकता संदिग्ध है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी इसे किसी अन्य कवि की रचना मानते हैं। उनके अनुसार ---
".....यह किसी अन्य सूरजदास नामक कवि की रचना है। इसमें सूरदास के भी कुछ पद आ गये हों तो कोई आश्चर्य नहीं।....इस पुस्तक को अधिक महत्व देना उचित नहीं।"[1]

स्पष्ट है कि सूर के विवेचन का मुख्य आधार "सूरसागर" ही रहा है।

ऐतिहासिक रूप से कृष्ण का स्वरूप लोकोद्धारक रहा है। कृष्ण का यह स्वरूप सूरदास के काव्य में भी मिलता है, लेकिन वहाँ

- -

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास, पृ. 111.

यही मुख्य नहीं है। मुख्य है कृष्ण का लोकरंजक रूप। कृष्ण के लोकरंजक रूप के विकास में भागवत की भूमिका तो है ही, सूरदास के गुरु वल्लभाचार्य की भूमिका भी कम महत्वपूर्ण नहीं। वल्लभ के प्रभाव से उसे नया विकास मिला।

सूरदास के कृष्ण एक ओर परब्रह्म रूप में निर्गुण, अंतर्यामी, अविनाशी हैं, तो दूसरी ओर विष्णु के अवतार। "सूरसागर" के दशम स्कंध में बालक कृष्ण के कालियदह में कूदने के पश्चात् ब्रजवासियों में घबराहट होती है, माता-पिता सब परेशान हैं। उसी समय बलराम लोगों को समझाते हुए कहते हैं कि कृष्ण के लिए चिन्ता करने की कोई बात नहीं। वह कोई और नहीं, बल्कि साक्षात् विष्णु ही हैं ----

"सूरदास प्रभु आनंद-रासी। रमा सहित जल ही के बासी ।।[1]

और-तो-और कालिय नाग तक को इस बात का बोध है कि कृष्ण पूर्ण ब्रह्म हैं और ब्रज में अवतरित हुए हैं। कृष्ण के दर्शन कर वह प्रसन्न होता है ----

देखि दरस मन हरस भयौ।
पूरन ब्रह्म सनातन तुमहीं, ब्रज अवतार लयौ।[2]

अनेक स्थलों पर सूरदास ने यह स्पष्ट किया है कि कृष्ण ब्रह्म हैं, अविनाशी हैं। लेकिन वे इस अविनाशी ब्रह्म तक ही नहीं रुकते। वह यह अच्छी तरह

---

1. सूरदास : सूरसागर, पद 1167.
2. वही, पद 1176.

जानते हैं कि निर्गुण, निराकार ब्रह्म की अवधारणा अमूर्त है और वह सबके छूने की चीज़ नहीं। मन को टिकने के लिए कोई आलंबन चाहिए। "निरालंब" मन आखिर टिके तो कहाँ टिके ? सूरसागर के आरंभ के अपने एक पद में सूर ने इस बात को बेहद सफाई के साथ उपस्थित किया है ---

"अबिगत गति कछु कहत न आवै ।
ज्यौं गूँगैं मीठे फल कौ रस अंतरगत ही भावै ।
परम स्वाद सबही सु निरंतर, अमित तोष उपजावै ।
मन-बानी कौं अगम-अगोचर, सो जानै सो पावै ।
रूप-रेख-गुन-जाति जुगति-बिनु, निरालंब कित धावै ।
सब बिधि अगम बिचारहिं तातैं, सूर सगुन-पद गावै ।।[1]

सूर जोर देकर कहते हैं कि सगुण, साकार ईश्वर की वंदना बहुत सोच-विचार के बाद की जा रही है। निर्गुण ब्रह्म सब तरह से अगम है, दुर्गम है जो सामान्य मनुष्य के लिए तो किसी भाँति वरेण्य नहीं। उसके लिए तो ऐसा ईश्वर चाहिए जिसकी कृपा मिल सके, जो करुणामय हो। वह ईश्वर ऐसा होना चाहिए जो हमारे सुख-दुःख में शामिल हो सके और आवश्यकता पड़ने पर हमारी सहायता के लिए दौड़कर आ सके। इसलिए गहरे चिन्तन के फलस्वरूप सूरदास सगुण, साकार ईश्वर की आराधना का मार्ग अपनाते हैं। वह ईश्वर अवतारी है। कहना चाहिए कि वे सगुण ईश्वर को अपनाते ही इस कारण हैं कि वह अवतार ग्रहण करने वाला है, वक्त पड़ने पर सहायतार्थ प्रकट होने का सामर्थ्य उसमें है। सूर के कृष्ण ऐसे ही ईश्वर हैं।

---

1. सूरसागर, पद 2.

सूरदास कृष्णावतार के मिथक को अपने काव्य का प्रतिपाद्य बनाते हैं और स्वयं कहते हैं कि ऐसा उन्होंने गहन सोच-विचार के बाद ही किया है, तो थोड़े गहरे उतरकर यह देखने की कोशिश की जानी चाहिए कि उनके इस चुनाव का सामाजिक-ऐतिहासिक संदर्भ क्या है। विनय पदों में तथा अन्यत्र सूर "भव-त्रास", "भव-पीड़ा" की बात करते हैं, अपने कष्ट की बात करते हैं। यह क्या कोई आकस्मिक बात है या इसका कोई संबंध उनके समकालीन समाज से भी है ?

सूर मानते हैं कि "दीन-बंधु हरि" आदर्श ठाकुर हैं। उनके समान ठाकुर कोई नहीं। उनके शब्दों में ----

हरि सौं ठाकुर और न जन कौं ।
जिहिं जिहिं बिधि सेवक सुख पावै, तिहिं बिधि राखत मन कौं ।
भूख भए भोजन जु उदर कौं, तृषा तोय, पट तन कौं ।
लग्यौ फिरत सुरभी ज्यौं सुत-संग, औचट गुनि गृह बन कौं ।
परम उदार, चतुर चिंतामनि, कोटि कुबेर निधन कौं ।
राखत है जन की परतिज्ञा, हाथ पसारत तन कौं ।
संकट परे तुरत उठि धावत, परम सुभट निज पन कौं ।।[1]

मध्यकालीन सामंती व्यवस्था में साँस लेने वाले कवि सूरदास अपने हरि को "ठाकुर" कहते हैं, उन्हें आदर्श मानते हैं, तो यह कोई अस्वाभाविक बात नहीं। डॉ. बी.एन.एस. यादव के अनुसार ठाकुर "10वीं शताब्दी के बाद से शासक भूस्वामी अभिजात वर्ग की एक प्रसिद्ध उपाधि है।"[2] मध्यकाल में

---

1. सूरसागर, पद 9.
2. मध्यकालीन भारत, अंक 1, पृ. 5.

शोषक सामंतवर्ग के कारनामों से हम परिचित हैं। वस्तुतः जनता के कष्ट का कारण सामंतवर्ग द्वारा उसका भयंकर शोषण ही था। जनता से उसका संबंध प्रभु-दास का संबंध था। स्वार्थ-पूर्ति के लिए जनता की बलि देने में उसे कोई हिचक नहीं होती थी। स्वार्थ की चारदिवारी में घिरे सामंत वर्ग का भला उदारता से कोई संबंध कैसे हो सकता था? इन सारी बातों को ध्यान में रखकर जब हम उपर्युक्त पद पर विचार करते हैं, तब कुछ मर्म खुलता मालूम पड़ता है। सूरदास डंके की चोट कहते हैं कि हरि के समान ठाकुर कोई नहीं है। उनके ठाकुर वैसे सब उपाय करते हैं जिससे सेवक सुख रहे। भूख लगने पर वे भोजन प्रदान करते हैं और नंगे शरीर को कपड़े से ढँकते हैं। उनके हरि परम उदार हैं और सही अर्थों में निर्धन के धन हैं। वे जन के संकट के कारण नहीं, उसे दूर करने के उपाय हैं। परम अपनेपन के साथ वे विपत्ति पड़ने पर दौड़कर आते हैं। अपने आराध्य प्रभु में इन सारे गुणों का आरोप कवि ने यों ही नहीं किया है। अपने युग की निर्मम शोषक सामंती व्यवस्था से असंतुष्ट, विक्षुब्ध कवि सूर की सामाजिक चिन्ता इस पद में साफ झलकती है। अन्य अनेक पदों में सूर अपने प्रभु के भक्तवत्सल, करुणामय, दीनबंधु रूप को बार-बार स्मरण करते हैं और इस बात को रेखांकित करते हैं कि संकट पड़ने पर वे भक्त की सहायता हेतु पधारते हैं। उनके कृष्ण जन का सबसे अधिक ख्याल रखते हैं, उसकी चिन्ता करते हैं। "का न कियौ जन-हित जदुराई"[1]- कृष्ण ने जनहित के लिए क्या नहीं किया? जाहिर है, कृष्ण के प्रति कवि के झुकाव का यह एक स्पष्ट कारण है।

सूर अपने कृष्ण के गुणों का बखान करते नहीं थकते। उनके अनेक गुणों के बीच इस बात की चर्चा करना वे नहीं भूलते कि वे

- -

1. सूरसागर, पद 6.

दीन-हितकारी हैं, उनका विशेष ख्याल रखते हैं। गरीबों के लिए उनकी अपार करुणा का स्रोत कभी नहीं बंद होता ----

जब जब दीननि कठिन परी ।
जानत हौं करुनामय जन कौं तब तब सुगम करी ।[1]

कृष्ण जाति-पाँति, कुल के भेद को नहीं मानते। जाति-पाँति की व्याधि से ग्रस्त समाज में श्रेष्ठता की कसौटी जाति हुआ करती थी, कुल हुआ करता था। सूर इस कसौटी को निरस्त करते हैं कृष्णावतार के मिथक के द्वारा, कृष्ण के चरित के द्वारा। उनके कृष्ण ऐसे हैं जो ---

जाति-पाँति-कुल-कानि न मानत, बेद-पुराननि साखै ।
जिहिं कुल राज द्वारिका कीन्हौ, सो कुल साप तैं नास्यौ ।[2]

सूर इस बात को स्वीकार नहीं करते कि तथाकथित उच्च जाति में पैदा होने से कोई बड़ा होता है, श्रेष्ठ होता है। "सूरसागर" के दशम स्कंध में एक प्रसंग के माध्यम से यह बात अत्यंत कलात्मक रूप में व्यंजित है। महराने से एक ब्राह्मण पुरोहित आया है। यशोदा उसके लिए अनेक तरह के व्यंजन बनाती हैं और उसे खिलाना चाहती हैं कि बालक कृष्ण उन्हें जुठार देते हैं। इस प्रकार ब्राह्मण भोग नहीं लगा पाता है ---

पाँड़े नहिं भोग लगावन पावै ।
करि-करि पाक जबै अर्पत है, तबहीं तब छुवै आवै ।[3]

- -

1. सूरसागर, पद 16.
2. वही, पद 15.
3. वही, पद 867.

ऐसी स्थिति में यशोदा भले ही परेशान होती हों, सूर परेशान नहीं होते। वे इस प्रसंग के माध्यम से जाति पर आधारित श्रेष्ठता की कसौटी को नकारते हैं, जहाँ जाति विशेष का होने के कारण व्यक्ति श्रेष्ठ माना जाता था, प्रथम भोग का अधिकारी माना जाता था ।

3.13 अवतार - प्रयोजन

सूरदास के साहित्य में अवतार प्रयोजनमूलक भी है और निष्प्रयोजन भी। निष्प्रयोजन अवतार, वास्तव में, लीलात्मक अवतार है, जिसकी चर्चा आगे की जाएगी। गीता, भागवत आदि ग्रंथों में अवतार के विभिन्न प्रयोजनों का उल्लेख किया गया है। कंस के अत्याचारों से पीड़ित पृथ्वी शिव और ब्रह्म के पास जाकर अपनी व्यथा निवेदित करती है। फिर वे सब मिलकर विष्णु से प्रार्थना करते हैं और विष्णु मनुष्य रूप में अवतरित होकर कष्ट निवारण करने का वचन देते हैं। सूरदास ने लिखा है ---

धेनुरूप धरि पुहुमि पुकारी, सिव-बिरंचि कैं द्वारा ।
सब मिलि गए जहाँ पुरुषोत्तम, जिहिं गति अगम अपारा ।
छीर-समुद्र-मध्य तैं यौं हरि, दीरघ बचन उचारा ।
उधरौं धरनि, असुर-कुल मारौं, धरि नर-तन अवतारा ।[1]

सूर ने यही बात अन्य कई स्थलों पर कही है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अवतार का यह प्रयोजन परंपरित है। भागवत में भी पृथ्वी की करुण

---

1. सूरसागर, पद 622.

पुकार पर विष्णु अवतरित होने का निश्चय करते हैं। सूर के अनुसार विष्णु सुर, नर, नाग तथा पशु-पक्षी सबको ब्रज में जन्म लेने का आदेश देते हैं —

सुर, नर, नाग तथा पसु-पच्छी, सबकौं आयसु दीन्हौ ।
गोकुल जनम लेहु संग मेरैं, जो चाहत सुख कीन्हौ ।[1]

सूरदास यह भी मानते हैं कि विष्णु का अवतार समय-समय पर आवश्यकता पड़ने पर होता है ---

जुग जुग यह अवतार धरत हरि । हरता करता विस्व रहे भरी ।
. . . .
तुम जनमे भूभार उतारन । तुम हो अखिल लोक के तारण ।[2]

इस प्रकार हरि भूभार हरण के लिए अवतरित होते हैं, समस्त लोक के उद्धार के लिए अवतरित होते हैं। असुर-विनाश के द्वारा वे लोककल्याण करते हैं, लोक को सुखी बनाते हैं। इसके साथ ही सूर इस प्रयोजन को और विस्तार देते हैं। असुर-संहार ही नहीं असुर-उद्धार भी अवतार का प्रयोजन बनता है। सूर के कृष्ण अनेक असुरों, पापियों का उद्धार करते हैं। सूर के अनुसार उनकेअलावा दीनों, पापियों का उद्धार करने वाला कोई नहीं ----

तुम बिन कौन दीन खल तारै, निरगुन रूप सगुन धरि आए।[3]

- -

1. सूरसागर, पद 622
2. वही, पद 3540.
3. वही, पद 1004.

सूरदास ने अनेक स्थलों पर इस बात का उल्लेख किया है कि भगवान भक्तों के हित में अवतार लेते हैं और उनके अवतार लेने से भक्त सर्वाधिक सुखी होते हैं। उनके प्रभु भक्त-हित में विभिन्न रूपों में अवतरित होने की बात कहते हैं ---

सूरदास प्रभु कहत भक्त-हित जनम-जनम तनु धारौं ।[1]

भगवान भक्तों के लिए स्वयं बंधन स्वीकार करते हैं, मायाधीन होते हैं और भक्तों को बंधनमुक्त कर देते हैं, मायामुक्त कर देते हैं। सूरदास भक्त को अवतार का अत्यंत प्रबल कारण मानते हैं। वे जोर देकर कहते हैं ---

सूरदास प्रभु भक्त हेतु ही देह धारि कै आयो ।[2]

भक्त अवतार का मुख्य हेतु है। वस्तुतः यह इस बात का संकेत है कि प्रेम अवतार का महत्वपूर्ण कारक तत्व है। सूरदास ने कृष्ण को भक्त-प्रेम के वशीभूत: बतलाया है। वस्तुतः प्रेम ऐसा व्यापक तत्व है जो सब कुछ पर छा जाता है। भक्त के प्रेम से, उसके भक्तिभाव से भगवान दौड़े आते हैं। वे पूरी तरह भक्त के प्रेम के वश में हैं। सूर कहते हैं कि जिसका अंत ब्रह्मा तक को नहीं पता, वह प्रेम के वशीभूत हो ब्रज में सामान्य लोगों के बीच सहज ही उपस्थित है ---

धनि गोकुल, धनि-धनि ब्रज-बनिता, निरखत स्याम बधावै ।
सूरदास प्रभु प्रेमहि के बस, तैतनि दुरस दिखावै ।[3]

---

1. सूरसागर, पद 960.
2. वही, पद 964.
3. वही, पद 1011.

बड़े-बड़े सिद्ध महात्मा और योगी जिसकी झलक को तरसते हैं, वह नंद के आँगन में सहज ही विचरण कर रहा है। विचरण ही नहीं कर रहा, घर की औरतों के हाथों वह ऐसे नाच रहा है जैसे बंदर। ऐसा सिर्फ प्रेम के कारण होता है। आकस्मिक नहीं कि कवि सूर की दृष्टि में प्रेमकथा सबसे न्यारी है --- सूरदास प्रेम कथा सबही तैं न्यारी ।[1]

प्रेम ऐसा तत्व है जो किसी तरह का भेदभाव नहीं मानता। इसलिए जहाँ प्रेम है, भगवान वहीं प्रकट होते हैं। अपने एक पद में सूरदास कृष्ण के माध्यम से अपनी बात पुष्ट करते हैं ---

प्रीति बस स्याम है राव कै रंक कोउ, पुरुष को नारि नहि भेद कारी।
प्रीति बस देवकीगर्भ लीन्हो बास, प्रीति कैं हेत ब्रज बेष कीन्हो ।
प्रीति कैं हेतु जसुमति-पय-पान कियो, प्रीति कैं हेतु अवतार लीन्हो ।
प्रीति कैं हेतु बन धेनु चारत कान्ह, प्रीति कैं हेतु नंदसुवन नामा ।
प्रीति कैं हेतु सूरज प्रभुहिं पाइये, प्रीति कैं हेतु दोउ स्याम स्यामा ।।[2]

इस प्रकार सूर के कृष्ण प्रेममय हैं। प्रेम के कारण ही वे अवतार लेते हैं तथा अन्य सारे कार्य करते हैं। मनुष्य के प्रति उनका प्रेम वस्तुतः मनुष्य की महत्ता का ही उद्घोष है। प्रेम मनुष्य को ईश्वर से और ईश्वर को मनुष्य से जोड़ने वाला तत्व है, जिसकी सर्वाधिक महत्ता का प्रतिपादन अवतार की अवधारणा के माध्यम से सूरदास ने किया है।

3.14 अवतारवाद का व्यापक रूप

सूरदास के काव्य में अवतार की व्यापक अवधारणा

- -

1. सूरसागर, पद 1012.
2. वही, पद 2635.

मिलती है। पौराणिक साहित्य में वर्णित प्रायः सभी अवतारों की चर्चा सूरदास ने की है। "भागवत पुराण" में अवतारवाद की चर्चा के सिलसिले में हम देख चुके हैं कि वहाँ चौबीस अवतारों का वर्णन है।

अन्य परवर्ती पुराणों में चौबीस अवतारों का भागवत जैसा वर्णन नहीं मिलता है। भागवत मध्यकालीन भक्ति साहित्य का मुख्य प्रेरक-ग्रंथ रहा है। किन्तु समस्त भक्तिकाव्य में चौबीस अवतारों का सर्वाधिक व्यवस्थित वर्णन सूरदास के काव्य में ही हुआ है। सूरदास दशावतार और चौबीस अवतार की परंपरा से पूरी तरह परिचित हैं। "सूरसागर" के द्वितीय स्कन्ध में वे दशावतार के साथ अन्य चौदह अवतारों की चर्चा इस प्रकार करते हैं ---

मच्छ कच्छ बाराह, बहुरि नरसिंह रूप धरि ।
बामन बहुरो परसुराम, पुनि राम रूप करि ।
बासुदेव सोइ भयौ, बुद्ध भयो पुनि सोइ ।
सोई कल्की होइहै, और न द्वितीया कोइ ।।
. . . .
सनकादिक पुनि ब्यास, बहुरि भए हंस रूप हरि ।
पुनि नारायण ऋषभदेव, नारद धनवंतरि ।
दत्तात्रेय अरु पृथु बहुरि, जज्ञपुरुष-वपु धार ।
कपिल मनु हयग्रीव पुनि कीन्हौं ध्रुव अवतार ।[1]

यहाँ मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, वासुदेव, बुद्ध, कल्कि इन दशावतारों के साथ सनकादि, व्यास, हंस, नारायण,

---

1. सूरसागर, पद 379.

ॠषभ, नारद, धन्वंतरि, दत्तात्रेय, पृथु, यज्ञपुरुष, कपिल, मनु, हयग्रीव, ध्रुव इन चौदह पौराणिक अवतारों की चर्चा सूर ने की है। वे स्वीकार करते हैं कि यहाँ उनकी कोई मौलिकता नहीं है। लेकिन साथ ही सूर यह याद दिलाना न भूले हैं कि ईश्वर के अवतारों की संख्या इतनी ही न माननी चाहिए। उनका विचार है कि पृथ्वी के धूलकण भले ही गिन लिए जायें, आकाश के नक्षत्र आदि भले ही गिन लिए जायें, लेकिन अवतारों की गिनती नहीं की जा सकती है। वस्तुतः अवतार असंख्य हैं। उनके शब्दों में ---

> भूमिरेनु कोउ गनै, नछत्रनि गनि समुझावै ।
> कह्यौ चहै अवतार, अंत सोऊ नहिं पावै ।[1]

सूरदास के अनुसार सदैव भक्त का संकट निवारण करने वाले हरि ने वेदों की रक्षा करने के लिए मत्स्य रूप में अवतार लिया, साथ ही राजा सत्यव्रत का भी उद्धार किया ---

> स्रुतिनि हित हरि मच्छ रूप धारयौ, सदा ही भक्त-संकट निवारयौ ।
> चतुरमुख कह्यौ, संख असुर स्रुतिलै गयौ, सत्यव्रत कह्यौ परलै दिखायौ ।
> भक्त-वत्सल, कृपाकरन, असरन-सरन, मत्स्य कौ रूप तब धारि आयौ।[2]

"सूर सारावली" में कहा गया है कि प्रलय-काल में सत्यव्रत की प्राण-रक्षा कर भगवान ने सृष्टि-रचना के क्रम को आगे बढ़ाया।[3] इसी प्रकार पृथ्वी की रक्षा करने के लिए भगवान ने बराह का रूप धारण किया ---

- -

1. सूर-सागर, पद 379.
2. वही, पद 443.
3. सूरसारावली, 98.

भुव की रच्छा करन जु कारन धरि बराह अवतार।[1]

कूर्मावतार में हरि ने मंदराचल पर्वत को अपनी पीठ पर धारण कर समुद्र-मंथन में महत्वपूर्ण योगदान किया[2] और नृसिंहावतार में सारे लोकों में तबाही मचाने वाले राक्षस हिरण्यकश्यप का वध कर समाज को भयमुक्त किया।[3] परशुरामावतार में उन्होंने अत्याचारी क्षत्रियों का संहार कर पृथ्वी का बोझ हटाया तथा बुद्धरूप में अवतरित होकर पाखंडवाद पर प्रहार किया एवं लोक में दया-धर्म का प्रचार-प्रसार किया। धन्वंतरि के रूप में आकर हरि ने आयुर्वेद का प्रसार किया तो ऋषभदेव के रूप में बादल बनकर वर्षा की और इस प्रकार सर्वत्र सुख फैलाया। इसी तरह अपने अन्य अवतारों में भी हरि ने अनेक लोकोपकारी कार्य किये। "सूरसागर" तथा "सूर सारावली" में इस संदर्भ में पर्याप्त वर्णन है। ध्यातव्य यह है कि हर अवतार के पीछे कोई-न-कोई उद्देश्य है और वह उद्देश्य ऐसा है जिसका सीधा संबंध समाज की भलाई से है, समाज के उद्धार से है। अवतार लेकर हरि ने या तो अत्याचारी राक्षस आदि का संहार किया है या ऐसे कार्य किए हैं जिनसे समाज में सुख-शाँति और आनन्द की प्रतिष्ठा हो। स्पष्ट है कि अवतार बराबर सोद्देश्य रहा है।

सूरदास ने कृष्णावतार के बाद जिस अवतार की सर्वाधिक चर्चा की है, वह है रामावतार। दशरथ के घर में राम के प्रकट होने का उद्देश्य है ---- भूभारहरण। सूरदास के शब्दों में ---

आजु दसरथ कैं आँगन भीर ।
ये भू-भार उतारन कारन प्रगटे स्याम-सरीर ।[4]

---

1. सूर सारावली, 19.
2. सूरसागर, पद 434.
3. वही, पद 420.
4. वही, पद 460.

बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किंधा, सुंदर तथा लंका इन छः काण्डों में सूरदास ने रामावतार की कथा प्रस्तुत की है। स्पष्ट ही यहाँ कवि ने वाल्मीकि-कृत "रामायण" के आधार पर ही कथाप्रसंग का वर्णन किया है। जैसा कि कहा जा चुका है, राम का अवतार रावण नामक अन्यायी, आततायी दानव का संहारकर लोक में धर्म की प्रतिष्ठा करने हेतु हुआ है। पुरुषोत्तम राम द्वारा भूमारहरण की बात "सूर सारावली" में कही गई है--

> अपने अंश आप हरि प्रकटे पुरुषोत्तम निज रूप ।
> नारायण भुव भार हरो है अति आनंद स्वरूप ।।[1]

इस प्रकार सूरदास ने सभी चौबीस अवतारों की चर्चा की है, उनके प्रमुख कार्यों की चर्चा की है। किंतु, जैसा कि कहा जा चुका है, इस प्रसंग में मौलिकता की खोज का कोई औचित्य नहीं, क्योंकि स्वयं सूरदास ऐसा कोई दावा नहीं करते। वे तो इसका श्रेय व्यास को देते हैं। उनके शब्दोंमें ---

> यह अनेक अवतार कृष्ण के को करि सके बखान ।
> सोई सूरदास ने बरने जो कहे व्यास पुरान ।।[2]

फिर भी एक बात ध्यातव्य है। वह यह कि ये सारे अवतार विष्णु के नहीं, बल्कि स्वयं कृष्ण के हैं। जाहिर है कि सूरदास के कृष्ण मात्र विष्णु के अवतार ही नहीं, स्वयं अवतारी हैं, परब्रह्म हैं। पुष्टिमार्ग में श्रीकृष्ण को ही अवतारों का मूल माना गया है। अतः सूरदास की यह मान्यता पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों के अनुरूप ही है।

---

1. सूर सारावली, 145.
2. वही, 353.

कहने की आवश्यकता नहीं कि कृष्ण के अलावा अन्य अवतारों के वर्णन के द्वारा सूरदास अपने आराध्य कृष्ण के देवत्व का ही प्रतिपादन करते हैं। इसके साथ ही इसके माध्यम से वे कृष्ण को अवतारवाद की लंबी परंपरा से जोड़ते हैं। इन प्रसंगों में वे उस परंपरा से प्रेरित और प्रभावित हैं, जिसमें कृष्ण को अवतार माना गया है और लगता है कि इसी कारण यहाँ उनका वर्णनकार रूप ही मुख्य है, कवि रूप गौण।

3.15 कृष्णावतार और मध्यकालीन सामाजिक यथार्थ

डॉ. विजेन्द्र नारायण सिंह सूरदास के काव्य पर विचार करते हुए उसे अपने युगीन सामाजिक जीवन का स्मारक मानते हैं। उनके शब्दों में ---

"सूरदास का काव्य अपने समय, अपने देश के संदर्भ का दस्तावेज नहीं, वरन् देश और काल की गहन संवेदनशीलता का ऐसा स्मारक है जिस पर काल की अंगुली के दाग नहीं लगे हैं और इसलिए वे हमें उतने ही समकालीन और प्रासंगिक लगते हैं जितने कि अपने युग में रहे होंगे।"[1]

जाहिर है कि सूरदास के महान् काव्य-स्मारक की भित्ति मध्यकालीन भारतीय सामाजिक परिवेश में गहरे गड़ी हुई है और उसके निर्माण में जिस सीमेंट तथा कंक्रीट का इस्तेमाल हुआ है, वह उसी का उत्पाद है। सूरदास के काव्य की केन्द्रीय वस्तु है कृष्णावतार की गाथा। परंपरा से उपलब्ध कृष्णावतार की विख्यात मिथक-कथा के प्रति सूरदास आकर्षित होते हैं, उसे

---

1. विष्णु गोस्वामी द्वारा संपादित पुस्तक "भक्ति साहित्य एक पुनर्मूल्यांकन" में संकलित लेख, पृ. 17.

अपनाते हैं और अपनी महान प्रतिभा के संस्पर्श से उसे नई दीप्ति प्रदान करते हैं, तो इसे महज संयोग का फल नहीं माना जा सकता। वस्तुतः कोई भी कवि अपने सामाजिक यथार्थ से निरपेक्ष नहीं रह सकता। सूरदास के संबंध में इस बात की तो कोई गुंजाइश ही नहीं, हालाँकि ऊपर-ऊपर से देखने पर किसी को ऐसा भ्रम हो सकता है। यदि सूरदास कृष्ण के समुदाय मिथक को अपने काव्य का प्रतिपाद्य बनाते हैं और उसे अपने ढंग से प्रस्तुत करते हैं, तो देखा जाना चाहिए कि इसके पीछे समकालीन सामाजिक परिवेश की क्या भूमिका है। जैसी कि आरंभ में चर्चा की जा चुकी है, सूरदास यह स्वीकारते हैं कि सब तरह से सोच-विचारकर ही सगुण ईश्वर की गाथा, कृष्ण की गाथा प्रस्तुत कर रहे हैं। प्रस्तुत प्रसंग में इस बात की पड़ताल का प्रयास किया जा रहा है कि मध्यकालीन भारतीय समाज के कौन-से यथार्थ संदर्भ थे जिनके कारण सूरदास कृष्णावतार की कथा को अपनाते हैं और जिनकी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष अभिव्यक्ति उनके काव्य में हुई है।

तुलसीदास द्वारा रामावतार के मिथक को अपनाये जाने के ऐतिहासिक कारणों का विवेचन प्रस्तुत किया जा चुका है। उसी प्रसंग में मध्यकाल में भारत पर इस्लामी आक्रमण के गुणात्मक योगदान की चर्चा भी की गई है। सूरदास आदि कवियों द्वारा कृष्णावतार की गाथा के स्वीकार तथा अपनी रचनाओं द्वारा उसे व्यापक तौर पर प्रचारित प्रसारित करने के संभावित ऐतिहासिक कारणों के विवेचन में भी उस बात का पर्याप्त महत्व है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मध्यकाल में कृष्णभक्ति काव्यधारा के विकास के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य पर विचार करते हुए अपनी पुस्तक "सूरदास" के "वल्लभाचार्य" शीर्षक परिच्छेद में लिखा है ---

"कृष्णाश्रय" नामक अपने एक प्रकरण ग्रंथ में आचार्य जी ने देश-काल की अत्यंत विपरीत दशा का वर्णन किया है जिसमें वेद-मार्ग या मर्यादा-मार्ग का अनुसरण उन्हें अत्यंत कठिन या असंभव दिखाई पड़ा। वल्लभाचार्य के समय में देश में मुसलमानी साम्राज्य अच्छी तरह दृढ़ हो चुका था। हिन्दुओं का एकमात्र स्वतंत्र और प्रभावशाली राज्य दक्षिण का विजयनगर राज्य रह गया था, पर बहमनी सुलतानों के पड़ोस में रहने के कारण उसके दिन भी गिने हुए दिखाई पड़ते थे। इस्लामी संस्कृति का प्रभाव अच्छी तरह जम रहा था। सूफी भक्तों या पीरों के द्वारा सूफी पद्धति की भक्ति का प्रचारकार्य चल रहा था। इस परिस्थिति में भागवत की प्रेमलक्षणा भक्ति के प्रचार द्वारा ही लोगों के कल्याण-मार्ग की ओर आकर्षित होने और साथ ही भारतीय संस्कृति के बने रहने की संभावना आचार्य जी को दिखाई पड़ी।"[1]

वस्तुतः वल्लभाचार्य के ग्रंथ "कृष्णाश्रय" के जिन श्लोकों के आधार पर आचार्य शुक्ल अपनी उपर्युक्त स्थापना करते हैं, वे इस प्रकार हैं ---

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ।।
गंगादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।
तिरोहिताधिदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ।।
अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।
तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ।।
नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।
पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ।।[2]

---

1. रामचन्द्र शुक्ल : सूरदास, पृ. 68-69.
2. नामवर सिंह की पुस्तक "दूसरी परंपरा की खोज" में उद्धृत, पृ. 73.

कहने की आवश्यकता नहीं कि स्तोत्र का आरंभिक शब्द "म्लेच्छ" मुसलमानों का वाचक है और हालाँकि बातें अभिधा में नहीं कही गई हैं, लेकिन ध्वनि स्पष्ट है। आक्रान्ता मुसलमान आततायियों के अत्याचारों की चर्चा प्रसंगवश पीछे की जा चुकी है। देश में पाप का साम्राज्य है, गंगादि तीर्थ भ्रष्ट हैं, वेद तिरोहित हो रहे हैं, पाखंड आदि बहुत बढ़ गए हैं और इन्हीं सारी विपरीत परिस्थितियों के कारण कृष्ण का आश्रय ढूँढ़ा जा रहा है। आचार्य वल्लभ इनसे निकलने का एक ही मार्ग देखते हैं — कृष्ण की भक्ति और वे जोरदार ढंग से इस दिशा में प्रयास करते हैं। यदि उनके शिष्य सूरदास इन्हीं कारणों से कृष्णभक्ति की ओर आकर्षित हुए हों, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। उपर्युक्त विवेचन का यह अर्थ कतई नहीं है कि सिर्फ़ मुसलमान आक्रान्ताओं के अत्याचारों की प्रतिक्रिया में ही कृष्ण की भक्ति ने जोर पकड़ा। ऐसा मानना विकास के बाह्य अंतर्विरोध को ही महत्व देना होगा और इसके विपरीत बाह्य अंतर्विरोध की उपेक्षा विवेचन की असमर्थता का प्रमाण है। आचार्य शुक्ल से कई बातों में गहरे मतभेद रखने वाले आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भी कहीं-कहीं ऐसी स्थापना करते हैं, जिससे शुक्ल जी के मत की ही पुष्टि होती है। "सूर साहित्य" में आचार्य द्विवेदी मध्यकाल को अंधकारमयकाल मानते हुए भारतीय संस्कृति के सामने "बड़ी विकट समस्या"[1] उपस्थित पाते हैं और आगे के विवेचन में निर्गुण-सगुण दोनों भक्ति-धाराओं को विदेशी संस्कृति से अपनी रक्षा करने वाली दो शक्तियों की संज्ञा देते हैं। उनके शब्दों में ---

"विदेशी संस्कृति से आत्म-रक्षा के लिए अब प्रधानतः दो शक्तियाँ काम करने लगीं। पहली कबीर आदि की निर्गुणसाधना और दूसरी सूरदास आदि की सगुण साधना।.....राम और कृष्ण का आश्रय लेकर इस भक्ति की साधना ने युग को नया प्रकाश दिया।"[2]

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी : सूर साहित्य, पृ. 56.
2. वही, पृ. 60.

यहाँ स्वयं आचार्य द्विवेदी बाह्य अंतर्विरोध को अधिक महत्व देते हैं और भक्ति के विकास की भीतरी शक्ति को सही परिप्रेक्ष्य में उभार नहीं पाते हैं।

यदि मध्यकालीन भारतीय परिवेश में सूरदास जैसे कवि कृष्ण-मिथक की ओर आकर्षित होते हैं और अपनी रचनाशीलता के बल पर उसे जनमानस में गहरे स्तर पर प्रतिष्ठित करते हैं, तो जाहिर है कि सिर्फ विकास के बाह्य अंतर्विरोध के आधार पर उसकी व्याख्या सही परिप्रेक्ष्य में नहीं की जा सकती है। भक्ति चाहे वह निर्गुण-सगुण राम की हो या कृष्ण की, अपने आप में सामंतवाद-विरोधी मूल्य है। डॉ. विजेन्द्र नारायण सिंह भक्ति को "सामंतवाद के विपरीत संघर्ष का ध्रुवान्त" मानते हुए आगे लिखते हैं ---

"भक्ति सामन्ती व्यवस्था के विपरीत तत्व के रूप में विकसित हो रही थी। सामन्तवाद ने मनुष्य और मनुष्य के बीच में वैश और श्रेणी की क्यारियाँ बना दी थीं। भक्ति इसी के विपरीत ध्रुवान्त का विकास है। भक्ति आंदोलन का जन्म सामन्ती व्यवस्था के आंतरिक अंतर्विरोधों के कारण हुआ था।"[1]

स्पष्ट ही अंतर्विरोधों की द्विविधता की दृष्टि से देखने पर सूरदास आदि कवियों द्वारा कृष्णावतार के मिथक के ग्रहण के ऐतिहासिक, सामाजिक संदर्भ की छानबीन की जा सकती है।

3.16 सामन्त-प्रजा द्वन्द्व : मुख्य सामाजिक अंतर्विरोध

डॉ. नामवर सिंह मध्यकालीन भारतीय समाज व्यवस्था का मुख्य अंतर्विरोध मानते हैं शास्त्र और लोक के द्वन्द्व को। उनके

---

1. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी द्वारा संपादित पुस्तक "रामचंद्र शुक्ल" में संकलित लेख, पृ. 119.

शब्दों में "....मध्ययुग के भारतीय इतिहास का मुख्य अंतर्विरोध शास्त्र और लोक के बीच का द्वन्द्व है, न कि इस्लाम और हिन्दू धर्म का संघर्ष।"[1] आगे अपनी मान्यता के समर्थन में वे जॉन इर्विन के एक लेख का हवाला देते हैं जिसमें इर्विन ने भारतीय इतिहास के संदर्भ में "शास्त्रीय ब्राह्मण धर्म और लोक-संस्कृति के संघर्ष को वर्गसंघर्ष के मूल रूप की तरह प्रतिपादित किया है।" बहुत स्पष्ट है कि नामवरजी का यह मत आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के भक्ति काव्य-संबंधी विवेचन का ही सार है। किन्तु बात इससे बनती नहीं है और जैसा कि डॉ. विजेन्द्र नारायण सिंह का मत है, मध्यकालीन भारतीय समाज-व्यवस्था के "आंतरिक अंतर्विरोध को रेखांकित करने के लिए इससे अधिक बुनियादी भाषा की जरूरत है। यह अंतर्विरोध है सामंत और प्रजा का द्वन्द्व। शास्त्रमार्ग, वेदमार्ग और मर्यादामार्ग सामंत और उनके सहयोगी पुरोहितों का मार्ग है, भक्ति का मार्ग, प्रेम का मार्ग, पुष्टि का मार्ग प्रजा का मार्ग है।"[2]

निश्चय ही यह मान्यता अधिक ठोस है, वस्तुपरक है। भक्तिकाव्य के विवेचन-विश्लेषण से इसकी पुष्टि होती है।

आंतरिक अंतर्विरोध विकास का मुख्य अंतर्विरोध है, संदेह नहीं। लेकिन जैसा कि कहा जा चुका है इसका अर्थ यह बिल्कुल नहीं है कि विकास में बाह्य अंतर्विरोध की कोई सक्रिय भूमिका नहीं होती। वी. अफनास्येव ने लिखा है ---

"बाह्य अंतर्विरोधों की भूमिका नाना प्रकार की हुआ करती है और ये अंतर्विरोध प्रायः ही विकास के आवश्यक पूर्वउपकरण हुआ करते हैं।

- -

1. नामवर सिंह : दूसरी परंपरा की खोज, पृ. 78.

2. "रामचन्द्र शुक्ल" (सं.) में संकलित लेख, पृ. 122.

बाह्य अंतर्विरोध विकास में सुगमता ला सकते हैं या उसमें बाधा डाल सकते हैं, वे उसे विभिन्न रंग या रूप प्रदान कर सकते हैं।"[1]

कहने की आवश्यकता नहीं कि बाह्य अंतर्विरोध के रूप में भारत पर इस्लामी आक्रमण के प्रभावों को नगण्य मानकर दरकिनार नहीं किया जा सकता है।

सूर ने अपने आराध्य कृष्ण की जो मूर्ति गढ़ी, उन्हें जो व्यक्तित्व प्रदान किया, उसमें उनके समकालीन सामाजिक परिवेश की गहरी भूमिका है। उन्होंने कृष्ण को पूरी तरह मानवीय भूमि पर प्रतिष्ठित किया और उन्हें एक सहज, स्वाभाविक चरित्र के रूप में उपस्थित किया। वस्तुतः यह मध्यकालीन परिवेश का प्रभाव है। अपने समकालीन समाज से कोई भी कवि निर्लिप्त नहीं रह सकता। सूर जैसे संवेदनशील कवि की तो बात ही क्या है। इसलिए जब आचार्य रामचन्द्र शुक्ल यह कहते हैं कि "सूरदास अपने भाव में मग्न रहने वाले थे, अपने चारों ओर की परिस्थिति की आलोचना करने वाले नहीं। संसार में क्या-क्या हो रहा है, लोक की प्रवृत्ति क्या है, समाज किस ओर जा रहा है, इन बातों की ओर उन्होंने अधिक ध्यान नहीं दिया है"[2] तो हमें थोड़ा रुककर इस मान्यता पर विचार कर लेना चाहिए। यहाँ यह बात स्मरण रखने योग्य है कि आचार्य शुक्ल जब उपर्युक्त स्थापना कर रहे होते हैं, तो उनके ध्यान में सूर के साथ-साथ तुलसी भी होते हैं और जाहिर है कि तुलसी सूर की तुलना में अपने समकालीन समाज की गतिविधियों पर सिर्फ दृष्टि ही नहीं रखते, बल्कि मौका देखकर उनपर अपनी राय बड़े ही बेलाग, बेलौस ढंग से व्यक्त करते हैं। उनके स्वर में उग्रता

---

1. मार्क्सवादी दर्शन (सं.), पृ. 102.
2. रामचन्द्र शुक्ल : सूरदास, पृ. 149.

और तीव्रता भी मिलती है, जो सूर में नहीं है। अतः लोक की परिस्थितियों पर "अधिक ध्यान" न देने की जो शिकायत सूर से है, उसे इसी संदर्भ में देखा जाना चाहिए। लेकिन अगर सूर को अपने समकालीन समाज की गतिविधियों में अधिक रुचि नहीं थी, तो इसके ऐतिहासिक कारणों की भी पड़ताल की जानी चाहिए। सूरदास के आत्मकथनों का इस दृष्टि से विवेचन अधिक सार्थक हो सकता है। अपने एक पद में जीवन की निस्सारता की चर्चा करते हुए वे कहते हैं ---

जनम सिरानो ऐसैं ऐसैं ।
कै घर-घर भरमत जदुपति बिनु, कै सोवत कै बैसैं ।
कै कहुँ खान-पान रमनादिक, कै कहुँ बाद अनैसैं ।
कै कहुँ रंक, कहूँ ईस्वरता, नट-बाजीगर जैसे ।।[1]

जीवन यों ही बीत गया। यदुपति के बिना इधर-उधर भटकता रहा। या तो खान-पान, रमणादि में लिप्त रहा या व्यर्थ के वाद-विवाद में। कहीं दरिद्र बना तो कहीं ईश्वरत्व प्रकट किया। स्पष्ट है कि ऐसे जीवन से कवि का मोहभंग हो गया है। भोग-विलास में लिप्त जीवन के प्रति अरुचि वस्तुतः उस वर्ग के प्रति अरुचि और उसके प्रति उपेक्षापूर्ण रवैये का सूचक है, जो भोगवाद को ही अपना चरम मूल्य मानता था। निश्चय ही सूर के काल में यह सामंत वर्ग था। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने "सूर साहित्य" में सूरदास का एक लंबा पद उद्धृत किया है और बताया है कि उससे मध्यकाल के विलासी जीवन का यथार्थ चित्र उभरता है। बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक की गतिविधियों पर दृष्टिपात करने पर स्पष्ट हो जाता है कि लोग विषय-वासना में इतने लिप्त रहते थे कि उन्हें उससे हटकर कुछ सोचने का ध्यान ही नहीं रहता था। लोग हिंसा-मद-ममता में भूले रहते थे, प्रमाद

- -

1. सूरसागर, पद 293.

तथा आलस्य में समय गँवाते थे। उनके जीवन का सुख मदिरापान, स्त्री-संग, भक्ष्याभक्ष्य ग्रहण तक ही सीमित हो गया था। सूर के शब्दों में ऐसे लोग ---

> नख-सिख साजि सिंगार सकल त्रिय सुंदर बदन निहारत ।
> बिबिध बिलास सकल कौतुक रस छ दस अंक भरि डारत ।
> जोबन-मद जन-मद मादक मद धन मद बिध मद भारी ।
> काम बिबस पर नारि भजत दुइ पंच सरहि फिरि मारी ।।[1]

निश्चय ही मद या अहंकार का संबंध व्यक्तित्व से है, जो स्वयं सामाजिक परिवेश में निर्मित होता है। अहंकार का संबंध व्यक्ति की सामाजिक-आर्थिक स्थिति से होता है। इन दोनों दृष्टियों से जो हीन हैं, उन्हें किस बात का अहंकार होगा? "जोबन-मद जन-मद मादक मद धनमद बिध मद भारी" की ध्वनि स्पष्ट है। इतने तरह के अहंकार से लदे लोग मध्यकाल में सामंत वर्ग के अलावा और कहाँ हो सकते थे? शासक प्रभु वर्ग के अलावा और कहाँ हो सकते थे ? ऐसे जीवन के प्रति कवि सूरदास के मन में अरुचि उत्पन्न होती है, तो यह एक अत्यंत स्वाभाविक बात है। लेकिन इसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि समग्र समाज से अरुचि हो गई थी। बल्कि स्थिति इसके ठीक विपरीत है। अवतारवाद में आस्था रखनेवाले सूर का काव्य जीवन-जगत के प्रति गहरे लगाव और आकर्षण का काव्य है, उससे पलायन का कतई नहीं। वस्तुतः विलासी, मिथ्याचारी, फरेबी जीवन के प्रति सूरदास का विक्षोभ पतनशील मूल्यों तथा उन्हें प्रश्रय देने वाले बैठे-ठाले लोगों के प्रति उनके विक्षोभ का सूचक है।

---

1. "सूरसाहित्य" में उद्धृत, पृ. 75.

कृष्णावतार की मिथक-कथा के माध्यम से सूर ने मध्यकालीन समाज में प्रचलित पतनशील मूल्यों का विरोध किया है, उन्हें नकारा है और उनके स्थान पर स्वस्थ जनतांत्रिक मूल्यों का समर्थन किया है, उनकी प्रतिष्ठा की है। जैसी कि चर्चा की जा चुकी है, सूर के कृष्ण के लिए जाति-पाँति कोई कसौटी नहीं है। उनके कृष्ण की दृष्टि में जाति और कुल का कोई मूल्य नहीं है ---

काहू के कुल तन न विचारत ।
अबिगत की गति कहि न परति है, व्याध-अजामिल तारत ।
कौन जाति अरु पाँति बिदुर की, ताही कैं पग धारत ।
भोजन करत माँगि घर उनकैं, राज-मान-मद टारत ।[1]

कृष्ण कथाकथित निम्नजन्मा व्याध और अजामिल का उद्धार करते हैं, दासी-पुत्र विदुर के घर सहज भाव से भोजन ग्रहण करते हैं और अहंकारी दुर्योधन के घर भोजन करने से इनकार करते हैं। यह सूर के प्रभु के अतिरिक्त गुण हैं। उनके सामने सच्चे प्रेम, सच्ची भक्ति के अतिरिक्त और कोई कसौटी नहीं। जाति श्रेष्ठता तथा कुलश्रेष्ठता के मिथ्या अभिमान में डूबे समाज में इन पतनशील मूल्यों का नकार एक प्रगतिशील कदम माना जाएगा, इसमें संदेह नहीं।

सूरदास के कृष्ण केवल लोकरंजक नहीं, बल्कि लोकोउद्धारक भी हैं। लोक के कल्याण के लिए वे विभिन्न दानवों का संहार करते हैं और समाज को भय से मुक्त करते हैं। कृष्ण द्वारा कागासुर, सकटासुर, तृणावर्त, पूतना आदि के वध को इसी संदर्भ में देखा जाना चाहिए।

---

1. सूरसागर, पद 12.

गोवर्धन-धारण के प्रसंग के दवारा सूर कृष्ण के रक्षक रूप की प्रतिष्ठा करते हैं। परंपरित इन्द्र-पूजा का निषेध करते हुए वे ब्रजवासियों से कहते हैं ---

छाँड़ि देहु सुरपति की पूजा ।
कान्ह कह्यौ गिरि गोवर्धन तैं और देव नहिं दूजा ।[1]

कृष्ण दवारा इन्द्र-पूजा के बदले गिरिराज की पूजा की वकालत के पीछे ब्रज के हित की कामना है। उनका कहना है कि ---

हमारी बात सुनौ ब्रजराज ।
सुरपति कौ बलि-भाग न दीजै पूजौ यह ब्रजराज ।
बरषैं मेघ गाइ सुख पैहैं ह्वैहै ब्रज सुखसाज ।।[2]

स्पष्ट है कि कृष्ण समाज-हित में गोवर्धन-पूजा की बात करते हैं। ब्रज के कृषिजीवी, पशुपालक समाज के लिए वर्षा कितनी उपयोगी रही होगी, इसका अनुमान लगाना कठिन नहीं है। वर्षा होने से पशुधन सुखी होगा और उससे कृषि की पैदावार अच्छी होगी जिससे ब्रज के लोग खुशहाल होंगे। कृष्ण को इस बात की चिन्ता अधिक है और इसी को ध्यान में रखकर वे आकाश के देवता इन्द्र की पूजा का निषेध करते हैं और ब्रजवासियों में अपने आसपास के गहन प्राकृतिक परिवेश के प्रति रुचि पैदा करते हैं, उससे अधिकाधिक लगाव की आवश्यकता को रेखांकित करते हैं। इसी क्रम में इन्द्र का कोप उन्हें झेलना पड़ता है, लेकिन वे अत्यंत सहजता से उसका निवारण करके समस्त ब्रज को उबार लेते हैं इन्द्र-प्रेरित प्रलयकारी वर्षा के प्रकोप से। कृष्ण गोवर्धन को अपनी अंगुली पर उठा लेते हैं और सबको उसके नीचे आश्रय

- -

1. सूरसागर, पद 1440.
2. वही, पद 1442.

प्रदान करते हैं। अपनी भगवत्ता का मौके पर इस्तेमाल करके कृष्ण ब्रज को बचा लेते हैं और इस तरह सबको सुखी बनाते हैं ---

स्याम लियौ गिरिराज उठाई ।
धीर धरौ हरि कहत सबनि सौं, गिरि गोबर्धन करत सहाइ।[1]

इस प्रकार कृष्ण इन्द्र की चुनौती का सामना करके ब्रज के रक्षक बनते हैं और अपने व्यक्तित्व को स्थापित करते हैं। वस्तुतः इन्द्रपूजा के स्थान पर गोवर्धन-पूजा का आरंभ लोकसंस्कृति के प्रति सूरदास के अनुराग का ही सूचक नहीं, बल्कि इसमें कहीं-न-कहीं स्थापित पतनशील व्यवस्था के प्रति कवि के विरोध-भाव की ध्वनि भी सुनायी पड़ती है।

सूरदास बार-बार जोर देकर कहते हैं कि कृष्ण करुणामय हैं, भक्तवत्सल हैं और दीन-हितकारी हैं। असल में करुणा का अधिकारी पात्र हरकोई तो नहीं हो सकता। जो दुःखी हैं, दरिद्र हैं, करुणा उन्हीं के प्रति हो सकती है। धनाभिमानी और बलाभिमानी, कुलाभिमानी व्यक्ति कृष्ण की करुणा के अधिकारी नहीं हैं, न हो सकते हैं। सूरदास के कई पद इस बात को रेखांकित करते हैं कि हरि की भक्ति करने से, कृष्ण की भक्ति करने से दुःख नहीं आता। अपने एक पद में वे कहते हैं ---

सहज भजै नँदलाल कौं, सो सब सचुपावै ।
सूरदास हरि नाम लै, दुख निकट न आवै ।[2]

---

1. सूरसागर, पद 1490.
2. वही, पद 352.

हरि का नाम लेने से दुःख निकट नहीं आता है। हरि-भक्ति का यह विशुद्ध लौकिक पक्ष है और इसमें आध्यात्मिकता खोजने की कोई सार्थकता नहीं। जो चीज भक्ति की प्रेरक है वह है दुःख। लगता है कि अपने दुःख की जितनी चिन्ता है, उतनी हरि की नहीं, कृष्ण की नहीं। चूँकि कवि को विश्वास है कि भक्ति से दुःख दूर हो जाएगा, इसलिए वह उसकी ओर मुखातिब होता है। वस्तुतः यह कोई कवि सूर का ही नहीं मध्यकालीन भारतीय समाज की सामान्य जनता का दुःख है। यह भक्ति का, कृष्णावतार की भक्ति का लौकिक पक्ष है, सामाजिक धरातल है।

सूर के काव्य में जीवन के दुःख से मुक्ति की कामना बार-बार की गई है। जाहिर है कि समाज दुःख से पीड़ित था और स्वभावतः उससे निकलने के लिए प्रयत्नशील भी। लेकिन उस युग में जब विज्ञान आदि का उतना विकास न हुआ था, लोगों को दुःख से मुक्ति का एक ही मार्ग सूझता था। और वह था भक्ति का मार्ग। कवि सूरदास की अपने आराध्य कृष्ण में प्रबल आस्था है और इसी के कारण वह लोगों को भी सलाह देते हैं कि कृष्ण की भक्ति करें ताकि उनके दुःख दूर हो जाएँ। सूर का विचार है कि उनके आराध्य कृष्ण दुःखी लोगों के सहायतार्थ उपस्थित होते हैं, अवतार लेते हैं। उनके शब्दों में ---

जहँ जहँ गाढ़ परै तहँ आवैं। गरुड़ छाँड़ि ता सन्मुख धावैं ।।[1]

यह सूरदास की कृष्णावतार-संबंधी अवधारणा का सामाजिक पक्ष है, जहाँ अवतार सीधा समाज से जुड़ा है।

भ्रमरगीत-प्रसंग के एक पद में कृष्ण गोपियों को अपने बारे में बतलाते हुए कहते हैं ---

---

1. सूरसागर, पद 1569.

धर्म कर्म कै बस मैं नाहीं, जोग जज्ञ मन मैं न करौं ।
दीन-गुहार सुनौं स्रवननि भरि, गर्व-वचन सुनि हृदय जरौं ।
. . . .
ब्रह्मा कीट आदि लौं व्यापक, सबकौं सुख दै दुखहि हरौं ।।[1]

कृष्ण गरीबों की पुकार सुनते हैं और उनकी मदद करने को सदैव तत्पर रहते हैं। भूलना न चाहिए कि गरीबी की भाषा समझने वाले कृष्ण ऐसे कवि की सृष्टि हैं, जिसने स्वयं जीवन में बहुत पीड़ा झेली है, बहुत अपमान सहा है और जो दर-दर भटका है। सूरदास पर अपने एक लेख "वह अंधा गायक कौन था" में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उनके भटकने की पीड़ा का मार्मिक चित्र खींचते हुए लिखा है ---

"वह अंधा मनुष्य जो महाप्रभु वल्लभाचार्य की शरण में गया था, जो अपने को "सब पतितन कौ टीकौ", "जनमत ही कौ पातकी" बताकर व्याकुल वेदना से "घिघिया" उठा था {स्वयं महाप्रभु ने ही इस शब्द का प्रयोग किया था} और अपने को भगवल्लीला के विषय में अनजान बताया था, वह कौन था? वह किन अवस्थाओं में अंधा हुआ था; कहाँ-कहाँ भटकता हुआ गऊघाट पहुँचा था; कितना अपमान, कितनी अवहेलना, कितना तिरस्कार पा चुका था, इसका कुछ भी पता नहीं है।......जिसका दृढ़ विश्वास हो गया था कि मैं जनमत ही कौ पतित हूँ, "सब पतितन कौ नायक" हूँ, वह कितना उपेक्षित हो चुका होगा, कितना अपमानित जीवन बिता चुका होगा, किन असहनीय परिस्थितियों में जीने की दुर्वार लालसा ने उस भरमते-भटकते को विवश किया होगा-- हमें बिल्कुल नहीं मालूम।"[2]

---

1. सूरसागर, पद 2140.
2. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, खंड-4, पृ. 160-161.

यह कहने का साहस कौन करेगा कि मध्यकालीन में केवल सूर ही भटके होंगे? न जाने कितने लोगों को इस वेदना, इस पीड़ा से गुजरना पड़ा हो। सामंती समाज-व्यवस्था में जहाँ आर्थिक-सामाजिक क्षेत्र में व्यक्ति-व्यक्ति के बीच गहरी खाई हो, श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता के अमानवीय मानदंड हों और समाज का अधिकांश शोषण-चक्र में पिसने को मजबूर हो, वहाँ असंख्य लोग ऐसी वेदना, ऐसी पीड़ा भोगने को अभिशप्त रहे होंगे। यह सिर्फ अनुमान नहीं, बल्कि सचाई है। निश्चय ही आचार्य द्विवेदी जिस अनुभूति के साथ सूर के भरमने-भटकने की पीड़ा का मार्मिक चित्रण करते हैं, वह केवल सूर तक सीमित नहीं हो सकती। इस पीड़ा से मुक्ति तब मिलती है जब पीड़ित व्यक्ति कृष्ण की शरण में जाता है। डॉ. नामवर सिंह ने बिल्कुल ठीक लिखा है कि ".....कृष्ण की भक्ति का महत्व इस भटकन की पीड़ा से त्राण में है। जो अपने आपको पतित समझने के लिए विवश किये गये थे वे भक्तवत्सल कृष्ण की शरण में आकर इस पाप-बोध से मुक्त हुए और उनमें आत्मगौरव का संचार हुआ।"[1]

स्पष्ट है कि मध्यकाल में कृष्ण का मिथक विशेषकर उन लोगों के लिए मुक्ति का मार्ग खोलता है जो पतित समझे जाते थे। यहाँ मुक्ति का मात्र आध्यात्मिक नहीं, वरन् सामाजिक अभिप्राय ग्रहण किया जाना चाहिए। वह उन लोगों को कहीं-न-कहीं उस व्यवस्था से मुक्त करता है, जो सदियों से उन्हें गुलाम बनाए हुई थी और जिसके अधीन रहकर वे खुली हवा में साँस नहीं ले सकते थे। सूरदास का काव्य इसका प्रमाण है। मध्यकाल का सामाजिक यथार्थ उनके काव्य में आया है और गहरे रूप में आया है। ऊपर-ऊपर से लग सकता है कि सूर के काव्य

- -

1. नामवर सिंह : दूसरी परंपरा की खोज, पृ. 59.

में उस यथार्थ का चित्रण नहीं हुआ है, लेकिन थोड़ा ध्यान देने पर बात साफ हो जाती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि सतह पर नज़र आनेवाला यथार्थ गहरा नहीं हुआ करता और इसीलिए उसपर बहुत अधिक विश्वास भी नहीं किया जा सकता। प्रसंगात् डॉ. नामवर सिंह ने लिखा है ---- "अक्सर महान साहित्यकार अपने युग के घटना-लेखकों के आँकड़ों से अधिक व्यापक और गहरे यथार्थ का अंकन करते हैं। वे उन घटनाओं के मूल तत्व को पकड़कर वास्तविकता की अभिव्यंजना करते हैं।"[1]

यथार्थ के अंकन की ऐसी ही शैली सूरदास की है। कुछ पदों के विवेचन विश्लेषण से यह बात प्रमाणित होती है।

सूरदास एक पद में मध्यकालीन कृषि-संबंधी शासनव्यवस्था के यथार्थ का चित्र खींचते हुए कहते हैं -----

प्रभु जू, यौं कीन्ही हम खेती ।
बंजर भूमि, गाऊँ हर जोते, अरु जेती की तेती ।
काम-क्रोध दोउ बैल बली मिलि, रज-तामस सब कीन्हौ।
अति कुबुद्धि मन हाँकनहारे, माया जूआ दीन्हौ ।
इंद्रिय-मूल किसान महातृन-अग्रज-बीज बई ।
जन्म-जन्म की विषय-वासना, उपजत लता नई ।
पंच-प्रजा अति प्रबल बली मिलि, मन-बिधान जौ कीनौ ।
अधिकारी जम लेखा माँगै, तातैं हौं आधीनौ ।
घर मैं गथ नहिं भजन तिहारौ, जौन दियैं मैं छूटौ ।
धर्म जमानत मिल्यौ न चाहै, तातैं ठाकुर लूटौ ।

- -

1. नामवर सिंह : इतिहास और आलोचना, पृ. 143-144.

अहंकार पटवारी कपटी, झूठी लिखत बही ।
लागै धरम बतावै अधरम, बाकी सबै रही ।
सोइ करौ जु बसतै रहियै, अपनौ धरियै नाउँ ।
अपने नाम की बैरख बाँधौ, सुबस बसौं इहि गाउँ ।
कीजैं कृपा-दृष्टि की बरषा, जन की जाति लुनाई ।
सूरदास के प्रभु सो करियै, होइ न कान कटाई ।।[1]

भले ही इस लंबे पद में खेती, किसान, बैल, ठाकुर, पटवारी आदि का प्रतीकवत् प्रयोग हुआ हो और विद्वान् इनके आध्यात्मिक अभिप्राय की खोज़ में सिर खपाते हों, मध्यकालीन भारतीय समाज की साधारण जनता--किसान वर्ग --- के जीवन से संबद्ध कई महत्वपूर्ण तथ्य इसमें अभिव्यक्त हुए हैं। स्पष्ट है कि यह पद गहरे समाजशास्त्रीय विश्लेषण की माँग करता है।

कवि सूरदास अपने प्रभु से खेती की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए इसमें होने वाली हानि और उससे उत्पन्न व्यथा की चर्चा करते हैं। असल में मध्यकाल में सामंत वर्ग किसानों को बुरी तरह लूटता था। सिर्फ़ सामंत, जमींदार वर्ग ही उनका शोषण करता हो, ऐसी बात नहीं थी। सामंतों के अधीनस्थ अधिकारी और कर्मचारी इस लूट में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते थे और उसका एक हिस्सा स्वयं लेते थे। खेती से संबंधी नियम, कानून बनाने में उनका बड़ा हाथ रहता था। सूरदास को यह अच्छी तरह पता है कि उनके द्वारा बनाये गए किसान-विरोधी कानूनों के रहते किसानों का हित नहीं हो सकता था। "पंच-प्रजा अति प्रबल बली मिलि, मन-विधान जो कीनो"--- इस पंक्ति का यही संकेत है। सूरदास के किसान के लिए भूमि तथा लगान की

---

1. सूरसागर, पद 185.

देखरेख करने वाला अधिकारी "जम" है, यमराज है। यह क्या कोई आकस्मिक बात है या इसके पीछे कोई गहरा सामाजिक सत्य प्रच्छन्न है? अधिकारी को यमराज कहना अपने आप में महत्वपूर्ण संकेत है। किसानों के शोषण में मध्यकाल के भ्रष्ट अधिकारियों की प्रमुख भूमिका और इस स्थिति के प्रति कवि के क्षोभ की व्यंजना "जम" शब्द के प्रयोग के द्वारा हुई है। किसान के घर में उतना धन नहीं है जिसे देकर वह कर्ज से मुक्त हो जाय। जमींदार के अधिकारी निरीह किसानों को फसल तैयार होने के पहले ही कर्ज एवं लगान अदा करने को कहते हैं। यह किसानों के लिए कितनी बड़ी सजा थी, स्पष्ट है। वे इस स्थिति से छुटकारा चाहते हैं, लेकिन उनके पास रुपये की थैली नहीं है, है अपने प्रभु का भजन। लेकिन इससे तो बात बनती नहीं है। गाँव का महाजन उनकी सहायता कर सकता था, लेकिन नहीं करता। अतः किसान सामंत वर्ग के शोषण-चक्र में पिसने को मजबूर हैं। सूरदास की गहन अंतर्दृष्टि की सफाई का लोहा मानना पड़ता है जब वे कहते हैं "तातैं ठाकुर लूटौ।" "ठाकुर" अर्थात् जमींदार ही सबसे बड़ा लुटेरा है, किसानों का सब कुछ लूट लेता है।

मध्यकाल में जमीन की नाप-जोख, उससे प्राप्त आय का हिसाब-किताब रखने वाला अधिकारी पटवारी कहलाता था। सूर पटवारी को कपटी कहते हैं। कपटी वह इसलिए है कि वह "झूठी बही" लिखता है, हिसाब-किताब में हेरफेर करता है। वह ऐसा अधिकारी है जो धर्म को अधर्म साबित कर देता है। जाहिर है कि सामंती व्यवस्था के विशाल शोषण-व्यूह में फँसे मध्यकाल के किसान सर्वपीड़ा को झेलने को अभिशप्त थे। सब तरह से पीड़ित किसान यदि गाँव छोड़कर जाना चाहते थे, तो इसकी भी इजाजत उन्हें नहीं थी। सूरदास के उपर्युक्त पद में किसान गाँव में बने रहने की इच्छा प्रकट करता है, लेकिन इस मामले में

वह अपने प्रभु की सहायता की याचना करता है। वह गाँव में तभी रह सकता है, जब उसके भगवान उस पर कृपा करें, उसकी सहायता करें, वरना गाँव छोड़कर भागने को वह मजबूर हो जाएगा। उसे विश्वास है कि यदि उसके प्रभु अपने नाम का प्रभाव चला दें, तो वह गाँव में बना रह सकता है। यहाँ ध्यातव्य है कि सूर का किसान जिस दुःख से मुक्त होने की कामना करता है, जिससे मुक्त करने की प्रार्थना ईश्वर से करता है, वह कोई आध्यात्मिक किस्म का दुःख नहीं, वरन् विशुद्ध लौकिक दुःख है, मध्यकालीन किसान वर्ग के दैनन्दिन जीवन का दुःख है। अपने इसी दुःख के निवारण के लिए वह भगवान की शरण में जाता है, कृष्ण की शरण में जाता है। सूरदास अपने आराध्य कृष्ण से प्रार्थना करते हैं कि ऐसी कृपा करें जिससे निरीह जनता की "कान कटाई" न हो। स्पष्ट है कि सूरदास मानते हैं कि सब तरफ से परेशानियों में घिरे लोगों की तकलीफ दूर करने का सामर्थ्य उनके प्रभु अर्थात् कृष्ण में ही है, और किसी में नहीं। मध्यकाल की शोषक सामंती जनता के प्रति उनके विक्षोभ और विरोध की ध्वनि स्पष्ट है। कृष्णावतार के मिथक का मध्यकालीन सामाजिक परिवेश से कितना निकट का संबंध है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

जैसी कि चर्चा की जा चुकी है, मध्यकालीन भारतीय समाज का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा था किसानों का विशाल समुदाय। सूरदास के काव्य में यदि इस समुदाय की यथार्थ जीवन-स्थितियों के चित्र न आए होते, तो यह एक आश्चर्य की बात होती। शोषित किसान वर्ग के जीवन-यथार्थ का मार्मिक चित्रण सूर के काव्य में अनेक स्थलों पर हुआ है। उन्हें इस बात का स्पष्ट बोध है कि किसानों की दयनीय हालत के जिम्मेवार स्वयं किसान नहीं, बल्कि वह व्यवस्था है जो वस्तुतः उन्हीं के

शोषण पर आधारित है। स्वाभाविक है कि ऐसे प्रसंगों में जहाँ एक ओर निरीह जनता के प्रति हार्दिक संवेदना का भाव उनमें मिलता है, वहीं दूसरी ओर शोषक सामंती व्यवस्था के प्रति उनका विरोध भाव भी अभिव्यक्त हुआ है। सूरदास अपने एक पद में सामंत वर्ग के अन्यायी अधिकारियों द्वारा किसानों की मालगुजारी निर्धारित करने तथा उसकी वसूली करने के समय किसानों के साथ की जाने वाली बदसलूकी का वर्णन करते हुए कहते हैं ---

हरि का नाम दाम खोटे लौं, झकि-झकि डारि दयौ ।
विषया-गाँव अमल कौ टोटौ, हँसि-हँसि के उमयौ ।
नैन-अमीन अधर्मिनि कैं बस, जहँ कौ तहाँ छयौ ।
दगाबाज कुतवाल काम रिपु, सरबस लूटि लयौ ।
पाप उजीर कह्यौ सोइ मान्यौ, धर्म-सुधन लुटयौ ।
. . . .
घेरयौ आइ कुटुम-लसकर मैं, जम अहदी पठयौ ।
सूर नगर चौरासी भ्रमि-भ्रमि, घर-घर कौ जु भयौ ।।[1]

शासन के अधिकारियों द्वारा किसानों पर किए जाने वाले अत्याचार का यह मार्मिक वर्णन है। लूटने वाले सभी अधिकारी अधर्मी हैं, सिर्फ अमीन ही नहीं। कोतवाल और यहाँ तक कि वजीर अर्थात् मंत्री भी इस लूट में पूरी तरह शामिल हैं। सूर कहते हैं कि "अहदी" ने किसानों को उनके कुटुम्बियों सहित पकड़ लिया। "अहदी" बादशाह के दरबार का विश्वस्त घुड़सवार होता था और उसका संबंध राजपरिवार या संभ्रान्त परिवार से होता था। यह "अहदी" तो किसानों के लिए

---

1. सूरसागर, पद 64.

साक्षात् यमराज ही होता होगा। दमन का यह चक्र काफी बड़ा था जिसमें सभी गाँव पिसते थे। सूर "नगर चौरासी" की बात करते हैं। "अकबर के काल में बारह, बाइस, बयालीस तथा चौरासी गाँवों की एक इकाई मालगुजारी वसूल करने की दृष्टि से बनाई जाती थी।"[1] स्पष्ट ही सूर कहना चाहते हैं कि सभी गाँवों के लोग इस शोषण-दमन के शिकार थे। साथ ही वे यह मानते हैं कि अगर कृष्ण की भक्ति की जाय, उनसे मदद की याचना की जाय, तो शोषण-दमन के इस जानलेवा चक्र से मुक्ति मिल सकती है। यह वस्तुतः मध्यकाल की सामान्य जनता की चिन्ता है, जिसे सूरदास ने वाणी प्रदान की है। ध्यातव्य है कि इस दयनीय स्थिति से उबारने की प्रार्थना वे किसी उच्चाधिकारी या राजा से नहीं करते। उनके पदों में आया "प्रभु" शब्द का अभिप्राय है उनका आराध्य कृष्ण ही, कोई राजा नहीं। जो कवि ठाकुर को सारी स्थिति का जिम्मेदार मानता हो, वह भला उसी से मदद माँगने की बात कैसे सोच सकता है? मध्यकाल की पीड़ित जनता की जीवन-स्थितियों का यथार्थ चित्रण करते हुए सूरदास ने कृष्णावतार की तरफ आशा-विश्वास भरी अंतर्दृष्टि डाली है। वह अपने युग के सामाजिक यथार्थ में गहरे पैठकर ही कृष्ण के मिथक की ओर आकर्षित होते हैं, इसमें संदेह नहीं। अपने विनय-संबंधी या अन्य पदों में उन्होंने जिस गहरी पीड़ा को वाणी दी है, वह उनके समकालीन समाज की पीड़ा है और उससे मुक्ति की कामना सिर्फ उनकी नहीं, उस समस्त समाज की मुक्ति की कामना है।

सूरदास अपने समाज में व्याप्त दुःख से कहीं-न-कहीं उद्वेलित थे। मौका मिलते ही प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से उनकी चिन्ता प्रकट होती है। सूर सामंती व्यवस्था के भोगवाद का निषेध करते हैं और सरल, सहज जीवन को स्वीकार करते हैं। उस काल में यह कितना

---

1. सावित्रीचन्द्र शोभा : समाज और संस्कृति, पृ० 44.

प्रगतिशील मूल्य रहा होगा। अनेक पदों में सूर अपने समय की समाज-व्यवस्था, शासन-प्रबंध, राजदरबार आदि के संबंध में अपने विचार प्रकट करते हैं। तत्कालीन सामंती व्यवस्था के प्रति उनका असंतोष और विक्षोभ अनेक पदों में व्यक्त हुआ है। परंपरा से चली आ रही इन्द्र-पूजा के स्थान पर गोवर्धन-पूजा का प्रारंभ लोकसंस्कृति के प्रति सूर के अनुराग का सूचक होने के साथ-साथ कहीं-न-कहीं स्थापित व्यवस्था के खिलाफ उनके विद्रोह का सूचक भी है। प्रसंगात् डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा ने सूरदास के संबंध में लिखा है ---

"राज्य और सांसारिक वैभव के प्रति उनकी अरुचिपूर्ण उपेक्षा का आंशिक कारण तत्कालीन शासन के प्रति उनकी विरक्ति हो सकती है। कंस के प्रति उनके दृष्टिकोण में हम शासकों के संबंध में उनकी मनोवृत्ति का आभास पाते हैं। अतः अपने समय की राजनीतिक परिस्थिति को देखते हुए सूरदास का भी अपने गुरु वल्लभाचार्य की भाँति यही विचार जान पड़ता है कि श्रीकृष्ण की भक्ति ही इस विषम समय में मनुष्य-जीवन का एकमात्र आश्रय है।"[1]

निश्चय ही, अपने समय की विषम सामाजिक, राजनीतिक स्थितियों ने सूर को कृष्णावतार के सबल मिथक के स्वीकार और उसके प्रचार-प्रसार के लिए प्रेरित किया।

मध्यकालीन सामंती व्यवस्था में सूरदास को गरीब जनता की गरीबी का अनुभव हुआ था। सामंती समाज में व्यक्ति-व्यक्ति के बीच कई तरह की खाइयाँ होती हैं। जाति-पाँति, कुल श्रेष्ठता

- -

1. ब्रजेश्वर वर्मा : सूरदास, पृ. 130

की कसौटी होती है। सूर उस कसौटी को अस्वीकार करते हैं, यह हम देख चुके हैं। वस्तुतः सामंती मूल्यों का निषेध वे अनेक स्तरों पर करते हैं। जिस समाज में गरीबी सबसे बड़ा अभिशाप हो, जहाँ गरीब को पूछने वाला कोई न हो, जहाँ सब ओर से उसे अपमान और लांछन ही मिलता हो, उसमें सूरदास ऐसे कृष्ण की भक्ति करते हैं, जो गरीबों का सबसे अधिक हितैषी हो, जो गरीबों का चाहक हो। बल्कि सूर कृष्ण की आराधना इसीलिए करते हैं कि वे गरीबों के चाहक हैं ----

स्याम गरीबनि हूँ के ग्राहक ।
दीनानाथ हमारे ठाकुर, साँचे प्रीति-निबाहक ।
कहा बिदुर की जाति-पाँति, कुल प्रेम-प्रीति के लाहक ।
कह पांडव के घर ठकुराई ? अरजुन के रथ-वाहक ।
कहा सुदामा के धन हो ? तो सत्य - प्रीति के चाहक ।
सूरदास सठ, तातैं हरि भजि आरत के दुख दाहक ।[1]

सूर कृष्ण की आराधना इसलिए करते हैं कि वे गरीबों के ग्राहक हैं, जाति-पाँति के सीमित घेरे को तोड़ने वाले हैं और प्रेम को संबंध की एकमात्र कसौटी मानते हैं। सबसे बढ़कर यह कि उनके कृष्ण आर्त अर्थात् दुःखी लोगों के दुःख दूर करने वाले हैं। सूर इस बात पर जोर देते हैं। कृष्ण-मिथक का स्वीकार वस्तुतः ऐसे मूल्य का स्वीकार है जो जाति-पाँति, कुलीनता तथा ठकुराई के विरोध में जाता है, उनका तिरस्कार करता है। शक्तिशाली सामंती व्यवस्था में रहकर वे उसपर प्रहार करते हैं, उसकी उपेक्षा करते हैं। किसी चीज की उपेक्षा भी अपने आप में कम मारक नहीं

---

1. सूरसागर, पद 19.

होती। कहने की आवश्यकता नहीं कि डॉ. विजेन्द्र नारायण सिंह सामंत और प्रजा के द्वन्द्व को मध्यकालीन भारतीय समाज का मुख्य अंतर्विरोध मानने की जो बात करते हैं, सूरदास के साहित्य से उसकी पूर्णतः पुष्टि होती है। सामंत-प्रजा के इस द्वन्द्व में सूर निश्चित रूप से प्रजा के साथ हैं, इसमें संदेह नहीं।

देखा जाय तो अवतार की अवधारणा अपने आप में जन-अवधारणा है, सामान्य जन की विचारधारा है। सामान्य जनता की जीवन-स्थितियों से उत्पन्न यह अवधारणा सूरदास के साहित्य में आकर जनता के पक्ष को मजबूत बनाती है। भ्रमरगीत-प्रसंग के अंतर्गत उद्धव और गोपियों के बीच चलनेवाला निर्गुण-सगुण विवाद आखिर क्या है? गोपियाँ निर्गुण ब्रह्म तथा योग का खूब मखौल उड़ाती हैं। इस विवाद में सूर की लोकपरक आस्था बराबर झलकती है। सूर के आराध्य ईश्वरावतार का मिथक रहस्य, योग, वैराग्य तथा निवृत्ति की तुलना में सांसारिक धर्म, लोकधर्म की श्रेष्ठता को प्रमाणित करता है। कृष्ण-मिथक का स्वीकार इस संसार का स्वीकार है, इस जीवन का स्वीकार है। अवतार की अवधारणा के माध्यम से सूर पतनशील सामाजिक मूल्यों को नकारते और नये मूल्यों की प्रतिष्ठा करते हैं। अवतारवाद की नींव पर आधारित कृष्ण-काव्य सामान्य जनता का पक्ष प्रस्तुत करने वाला काव्य है। डॉ. मुक्तेश्वर ने अपने एक लेख में इसे ग्राम्य-काव्य की संज्ञा दी है। उनके अनुसार ---

"संपूर्ण कृष्ण-काव्य ग्राम्य-काव्य है। वह शहर और ठाठ के विरुद्ध कुंजों और साधारणता का काव्य है।.....मथुरा में कृष्ण राजा हैं। राजा भक्त का उपास्य नहीं हो सकता। ..... पूरा कृष्ण-काव्य

---

1. [illegible], [illegible] 1972, पृ. [illegible]

नगर और राजधानी-सभ्यता-विरोधी है। केन्द्रीयकरण, नगरीकरण के विरुद्ध गाँव और गोचारण समर्थक है।"[1]

सूर अपने युग में प्रचलित व्यवस्था में पूरी तरह खप नहीं पाते हैं, उसमें "एडजस्ट" नहीं कर पाते हैं। इसलिए कृष्ण-मिथक के सहारे वे उसका अतिक्रमण कर जाते हैं, उससे निकल जाते हैं। सामंती मूल्यों का नकार इसी बात का सूचक है। संभवतः यही कारण है कि डॉ. विजेन्द्र नारायण सिंह उन्हें "आउटसाइडर" की संज्ञा देते हैं। उनके शब्दों में ----

"अवश्य ही सूरदास मध्यकालीन समाज के आउटसाइडर हैं, अजनबी हैं। वे आउटसाइडर हैं, अजनबी हैं क्योंकि मध्यकालीन समाज के आरामदेह किन्तु अनुदार समाज में रहना उन्हें स्वीकार्य नहीं है। यह अनुदारता उन्हें क्रूर दिखती है और घिनौनी भी। यह कुत्सित व्यवस्था का घिनौनापन उन्हें व्याकुल कर देता है।.....उस युग के सामंत के लिए समाज एक व्यवस्था है, पर सूरदास जैसे अजनबी के लिए यह संसार भौतिक और सुव्यवस्थित नहीं है। अपने समय से अजनबी वह होता है जो केऑस के प्रति सचेष्ट और जागरूक हो उठा हो। केऑस के प्रति सजग हो जानेवाले सत्य आत्मावाले व्यक्ति को ही आउटसाइडर कहा जाता है। सूरदास में यह जागरूकता और सचेष्टता अधिक है।"[2]

अंग्रेज विचारक कोलिन विल्सन द्वारा प्रतिपादित आउटसाइडर-संबंधी अवधारणा के प्रकाश में देखने पर सूरदास भी अपने समाज के आउटसाइडर लगते हैं। ध्यातव्य है कि आउटसाइडर कहीं से भी पलायनवादी नहीं होता। सूर पर भी पलायनवादिता का आरोप नहीं लगाया जा सकता

---

1. "कल्पना", दिसंबर 1975, पृ. 78
2. भक्ति साहित्य एक पुनर्मूल्यांकन (सं.) में संकलित लेख, पृ. 19.

है। पूर्व-विवेचित पद भी इसके प्रमाण हैं।

सूर कृष्ण के रूप में जीवन और समाज के श्रेष्ठतम मूल्य को उपस्थित करते हैं, उसकी वकालत करते हैं। अवतार के मिथक को वे इसलिए स्वीकार करते हैं कि उन्हें जीवन और जगत् से गहरा प्रेम है। कृष्ण के प्रेम में रँगकर वे समाज से सभी प्रकार के भेदभावों को मिटा देना चाहते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि उनके आराध्य कृष्ण किसी अन्य लोक के प्राणी नहीं हैं। वे मध्यकाल के साधारण लोगों के बीच के ही एक सहज व्यक्ति मालूम पड़ते हैं। सूर के कृष्ण पर मध्यकालीन परिवेश की छाप स्पष्ट है। डॉ. लोहिया का मत है --- "कृष्ण बहुत अधिक हिंदुस्तान के साथ जुड़ा हुआ है। हिंदुस्तान के ज्यादातर देव और अवतार अपनी मिट्टी के साथ सने हुए हैं। मिट्टी से अलग करने पर वे निष्प्राण हो जाते हैं।"[1]

अपने देश और काल से गहरे स्तर पर जुड़े होने के कारण ही कृष्ण जनता के कंठहार बनते हैं और उसमें नयी आशा, नये विश्वास का संचार करते हैं। कृष्ण के अवतरित होने की सूचना मात्र से सारा ब्रज आनंदित हो उठता है। इतना ही नहीं, सूरदास का कहना है कि उस दिन के बाद ब्रज ने कभी दुःख नहीं जाना, सुख-संपत्ति वहाँ से नहीं गई ---

ब्रज भयौ महर के पूत जब यह बात सुनी ।
सुनि आनंदे सब लोग, गोकुल गनक-गुनी ।
. . . .
ता दिन तैं वै ब्रज लोग, सुख-संपति न तजे ।
सुनि सबकी गति यह सूर, जे हरि-चरन भजे ।।[2]

---

1. विद्यानिवास मिश्र द्वारा संपादित पुस्तक "साधक" में संकलित लेख, पृ. 133.
2. सूरसागर, पद 642.

कृष्णावतार का यह प्रभाव उसके गहरे सामाजिक सरोकार का सूचक है, इसमें संदेह नहीं।

3.17 अन्य कृष्णभक्त कवियों के साहित्य में अवतारवाद

भक्तिकालीन कृष्ण-भक्ति काव्यधारा में सूरदास के अलावा अनेक कवि हुए हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा उसे समृद्ध बनाया है। इनमें से कई कवि संप्रदाय विशेष से जुड़े हैं तो कई स्वतंत्र। महाप्रभु वल्लभाचार्य द्वारा स्थापित पुष्टिमार्ग के अंतर्गत ढेर सारे कवियों ने रचना की। ये सारे कवि कृष्ण को परम ब्रह्म मानते हुए उनके अवतार रूप में पूरी आस्था रखते हैं तथा कृष्ण के अनुग्रह को सर्वाधिक महत्व देते हैं। महाप्रभु वल्लभाचार्य के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ ने आठ भक्तों को लेकर अष्टछाप की स्थापना की थी। अष्टछाप के कवियों में सूरदास, परमानन्द दास, कुम्भनदास और कृष्णदास वल्लभाचार्य के शिष्य थे तथा शेष चार नन्ददास, चतुर्भुजदास, गोविन्दस्वामी और छीतस्वामी उनके उत्तराधिकारी विट्ठलनाथ के शिष्य थे। ये सारे कवि समकालीन थे और विट्ठलनाथ के निर्देशन में श्रीनाथ मंदिर में कृष्णभक्ति के पद गाते थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि अष्टछापी कवियों में सूरदास सबसे अग्रगण्य हैं। अन्य कवियों में परमानन्द, नन्ददास तथा कुम्भनदास उल्लेखनीय हैं। प्रस्तुत प्रसंग में पहले अष्टछाप के इन कवियों की रचनाओं का अवतारवाद की दृष्टि से विवेचन किया जाएगा। उसके बाद कृष्णभक्ति धारा के सम्प्रदायमुक्त महत्वपूर्ण कवि मीराबाई तथा रसखान के काव्य पर विचार किया जाएगा।

3.17.1 परमानन्ददास

परमानन्ददास के पदों का संग्रह "परमानन्द सागर" कहलाता है। पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने और उसका अनुयायी होने के कारण परमानन्ददास की वैचारिक भूमि स्पष्ट है। उनका मत है कि कृष्ण ही साक्षात् परब्रह्म हैं। वे एक से अनेक रूप धारण करते हैं अर्थात् विभिन्न रूपों में अवतरित होते हैं। वेद कृष्ण के संबंध में ही "नेतिनेति" कहते हैं। वे यह भी मानते हैं कि भक्तों के कल्याण के लिए ही अवतार धारण करते हैं ----

मोहन नंद राय कुमार ।
प्रकट ब्रह्म निकुंज नायक भक्त हेत अवतार ।
. . . .
दास परमानन्द स्वामी वेद बोलत नेति ।[1]

इस प्रकार ब्रह्म निर्गुण और सगुण दोनों है। परमानन्ददास का कहना है कि वृन्दावन बिहारी कृष्ण का स्वरूप आनन्दमय है। केवल उन्हीं का स्वरूप आनन्दमय हो, ऐसी बात नहीं। उनके साथ ही उनके परिवार के लोग, गोप-गोपियाँ सब आनन्दमय हैं। समस्त ब्रजप्रदेशही आनंद की मूर्ति है। कृष्ण संसार को आनन्द देने के लिए अवतार धारण करते हैं। उनके कृष्ण आनंद की निधि हैं ----

- -

1. परमानन्दसागर, पद 456.

आनंद की निधि नंदकुमार ।
परम ब्रह्म भेष नराकृत जगमोहन लीला अवतार ।
श्रवनन आनंद मन महँ आनंद लोचन आनंद आनंद पूरित ।
गोकुल आनंद गोपी आनंद, नंद जसोदा आनंदकंद ।
सब दिन आनंद धेनु चरावत बेनु बजावत आनंदकंद ।।[1]

स्पष्ट है कि परमानन्ददास में संसार को आनंदित देखने की गहरी कामना है। इसलिए उनके आराध्य कृष्ण आनन्द की निधि हैं, आनंद की मूर्ति हैं। संसार के सुख की गहरी कामना से युक्त कवि ही कृष्ण की कल्पना सुख के सागर के रूप में कर सकता है। कवि को कृष्ण में अपार आस्था है, उनके सामर्थ्य में गहरा विश्वास है। उसके यशोदानन्दन परम कृपालु हैं, सज्जनों के हितकारी हैं। कृष्ण के इसी चरित्र के कारण कवि एक प्रकार की निश्चिन्तता का अनुभव करता है। वह मगन है ---

नाचत हम गोपाल भरोसे ।
. . . .
संतन को सर्वसु सुख सागर नागर नंद कुमार ।
परम कृपालु यशोदा नंदन जीवन प्रान अधार ।।[2]

अपने एक पद में परमानन्ददास कृष्ण के साथ रामावतार की चर्चा करते हैं। वहाँ उन्होंने साफ़ कहा है कि अवतार भक्त के प्रति अनुग्रह के कारण होता है ---

- -

1. परमानन्दसागर, पद 126.
2. वही, पद 307

राम कृष्ण अवतार मनोहर भक्त अनुग्रह काज ।
परमानन्ददास यह मारग बीतत राम के राज ।।[1]

निश्चय ही, भक्तिकाल के अधिकांश भक्त कवियों की तरह परमानंददास भी ईश्वर को भक्तों के कल्याणार्थ तथा उनके प्रति प्रेमवश अवतरित होने की बात करते हैं। अन्य कृष्णभक्त कवियों की तरह वे भी कृष्ण को सर्वोपरि महत्व देते हैं। उनके अवतारी कृष्ण यदि प्रसन्न हो जाएँ तो लकड़ी और घास बेचने वाले लोग भी महिमावान हो जाएँ ----

जापर कमलाकान्त ढरैं ।
लकरी घास को बेचन हारो ता सिर छत्र धरैं ।[2]

कहने की आवश्यकता नहीं कि कवि की चिन्ता का दायरा काफी विस्तृत है और उसमें समाज के शोषित, पीड़ित लोग विशेष रूप से उपस्थित हैं। कृष्णावतार की उदार मिथक-कथा में विश्वास करने वाले तथा उसका वर्णन करने वाले कवि के संदर्भ में यह स्वाभाविक बात है। परमानन्ददास के लिए कुलीनता की यदि कोई कसौटी है, तो वह है कृष्ण की भक्ति न कि तथाकथित उच्च जाति, उच्च कुल में जन्म ---

कहा भयो जो विप्रकुल जनयो जो हरि सेवा नाहीं ।
सोई कुलीन दास परमानन्द जो हरि सन्मुख धाई ।।[3]

मध्यकाल में इस कसौटी की सार्थकता का अनुमान लगाया जा सकता है। कृष्णावतार में गहरी आस्था रखनेवाले कवि परमानन्ददास के काव्य में लोकजीवन के पर्याप्त तत्व हैं।

---

1. परमानन्दसागर, पद 818.
2. वही, पद 483.
3. वही, पद 825.

3.17.2 नन्ददास

नन्ददास सूर के समकालीन बहुत प्रतिभाशाली कवि थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उनके संबंध में लिखा है --- "अष्टछाप में सूरदास जी के पीछे इन्हीं का नाम लेना पड़ता है। इनकी रचना भी बड़ी सरस और मधुर है।"[1] नन्ददास - कृत मुख्य काव्य - ग्रंथ हैं --- रास पंचाध्यायी, सिद्धांत पंचाध्यायी, दशम स्कन्धभाषा, पदावली, भँवरगीत, रूपमंजरी, रसमंजरी, अनेकार्थमंजरी, दानलीला, मानलीला आदि। इनमें "रास पंचाध्यायी" तथा "भँवरगीत" अधिक प्रौढ़ और प्रसिद्ध हैं।

नन्ददास ने अवतारी कृष्ण की भक्ति का प्रतिपादन किया है। उनके सिद्धांत वल्लभसंप्रदाय के सिद्धांतों से पूरी तरह मेल खाते हैं। नन्ददास कृष्ण को परब्रह्म मानते हैं। जहाँ कहीं वे कृष्ण के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं, वहाँ इस बात का संकेत अवश्य करते हैं कि कृष्ण ब्रह्मरूप हैं। "रास पंचाध्यायी" में वे कहते हैं ---

मोहन अद्भुत रूप कहि न आवति छबि ताकी ।
अखिल अंड व्यापी जु ब्रह्म आभा है जाकी ।।[2]

नन्ददास के कृष्ण "जग-कारन" हैं "करूनायतन" हैं। अपने इस आराध्य की वंदना करते हुए वे "सिद्धांतपंचाध्यायी" में कहते हैं ---

तन्नमामि पद परमगुरु, कृष्ण कमल-दल-नैन ।
जग-कारन, करूनायतन गोकुल जाको ऐन ।।[3]

---

1. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 120
2. रासपंचाध्यायी, प्रथम अध्याय, दोहा 34.
3. सिद्धान्तपंचाध्यायी, दोहा 1.

उक्त ग्रंथ में कृष्ण के रूप, गुण, कर्म का पर्याप्त वर्णन मिलता है। नन्ददास के अनुसार कृष्ण षट्गुण संपन्न और अवतारी हैं। नारायण, परमात्मा आदि नाम कृष्ण के ही हैं। वे सबके आश्रय हैं ---- समस्त लोकों के आश्रय ---

षट्गुन अरु अवतार धरन नारायन जोई ।
सबकौं आश्रय अवधिभूत नंदनंदन सोई ।।[1]

नन्ददास का मत है कि कृष्ण घट-घट में व्याप्त हैं। उनको पाने का एकमार्ग मार्ग है प्रेम-मार्ग। और किसी तरह उन्हें नहीं पाया जा सकता ----

केवल प्रेम सुगम्य अगम्य अवर परकारा ।[2]

अपने आराध्य कृष्ण की महिमा का बखान नंददास ने अनेक पदों में किया है। अवतार-प्रयोजन के संबंध में नन्ददास का लगभग वही मत है जो सूरदास का है अर्थात् जगत् की रक्षा के लिए, जगत के हित के लिए, भक्तों के हित के लिए और भक्तों के प्रेमवश अवतार होता है। नन्ददास के शब्दों में ---

ये अद्भुत अवतार जु लेत, विस्वहि प्रतिपालन के हेत ।
जो दिन दिन दिनमनि न उवाय, तो सब अंध धुंध ह्वै जाय ।
अरु अपने भक्तन के हेतु, दुर्लभ मुक्ति सुलभ करि देत ।[3]

---

1. सिद्धान्तपंचाध्यायी, दोहा 7.
2. वही, दोहा 89.
3. दशम स्कन्ध, द्वितीय अध्याय, पद 16

इस प्रकार अपने भक्तों पर प्रसन्न होकर कृष्ण उन्हें मुक्ति प्रदान करते हैं। नन्ददास कहते हैं कि उनका अवतार होता है संसार के प्रतिपालन के लिए। स्पष्ट ही अवतार का सिद्धांत समाज के लिए एक आवश्यकता है। अव्यवस्था फैल जाने पर ईश्वर विभिन्न रूपों में अवतार ग्रहण कर समाज को सुव्यवस्थित बना सकते हैं, उसमें धर्म की प्रतिष्ठा कर सकते हैं। इसके लिए उन्हें ऐसे तत्वों को हटाना पड़ता है जो समाज के कष्ट के कारण हैं, जो उसकी प्रगति के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा हैं। नन्ददास के आराध्य कृष्ण ऐसे तत्वों के खात्मे में सदा तत्पर रहते हैं। वे असुरों का संहार करके पृथ्वी का बोझ दूर करते हैं तथा साधु-सज्जनों की रक्षा करते हैं ---

> नृपदल करि बढ़ि असुर विकारी । कीनी भूमि भार करि भारी ।।
> तिनहि निदरिहौ भू भार हरि हौ । सन्तन की रखवारी करि हौ।।[1]

"भँवरगीत" नन्ददास की बहुत प्रसिद्ध रचना है। सूरदास-कृत "भ्रमरगीत" की तुलना में यह संक्षिप्त है, मगर इसके वैशिष्ट्य को नकारा नहीं जा सकता। जाहिर है कि इसका आधार भागवत का दशम स्कन्ध ही है, किन्तु इसे उसका अनुवाद नहीं कहा जा सकता। नन्ददास ने समस्त सामग्री को नये ढंग से प्रस्तुत ही नहीं किया, बल्कि कितने ही अंगों का विकास भी स्वतंत्र रूप से किया है। यह साहित्यिक सौन्दर्य से परिपूर्ण रचना है। वास्तव में भक्तिकाल के कृष्ण भक्त कवियों ने भ्रमरगीत की परंपरा को आगे बढ़ाते हुए निर्गुण, निराकार ब्रह्म के स्थान पर सगुण, साकार ईश्वर की अवधारणा का प्रतिपादन किया है, उसका समर्थन किया है। दूसरे शब्दों में कहा जाना चाहिए कि इसके द्वारा अवतारवाद को ठोस

---

1. दशम स्कन्ध, पद 24.

भित्ति पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की गई है। अतः इस दृष्टि से नन्ददास-कृत "भँवरगीत" का पर्याप्त महत्व है।

नन्ददास ने भँवरगीत के सभी पात्रों को प्रतीक रूप में उपस्थित किया है। कृष्ण के सखा उद्धव ज्ञानी भक्त के प्रतीक हैं जो ज्योतिस्वरूप, निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देते हैं और साकार ईश्वर की अवधारणा का निषेध करते हैं। गोपियाँ अवतारी कृष्ण की उपासिका हैं और मानती हैं कि निर्गुण, निराकार ब्रह्म प्रेमवश गोचर हो जाता है, अवतार रूप में प्रकट हो जाता है। इस प्रकार गोपियाँ सच्चे भक्त का प्रतिनिधित्व करती हैं। "भँवरगीत" के आरंभ में उद्धव गोपियों को ज्योतिरूप परब्रह्म का ज्ञान द्वारा दर्शन करने का उपदेश देते हैं। वे कहते हैं ---

वे तुम तें नहिं दूरि, ग्यान की आँखिन देखौ ।
अखिल बिस्व भरपूरि, ब्रह्म सब रूप बिसेखौ ।।
लोह, दारु पाषान में, जल-थल माहिं अकास ।
सचर अचर बरतत सबै, जोति ब्रह्म परकास ।।[1]

उद्धव के मुख से इतना सुनते ही गोपियाँ अबोध की तरह प्रश्न करने लगती हैं। उनके अनुसार ---

कौन ब्रह्म की जोति ? ग्यान कासों कहौ ऊधौ ।
हमरे सुन्दर स्याम, प्रेम कौ मारग सूधौ ।।[2]

---

1. भँवरगीत, पद 7.
2. वही, पद 8.

इन पंक्तियों में गोपियाँ कितनी सहजता से गहरे तथ्य को प्रकट कर देती हैं? अपने सुंदर श्याम के आगे और किसी के प्रति उनके मन में जरा भी आकर्षण नहीं। वे उद्धव की ज्ञान-चर्चा को अत्यन्त सहज ढंग से किनारे ठेल देती हैं। आगे भी उद्धव द्वारा योग, ज्ञान आदि की महत्ता का बखान किये जाने पर वे इनका काट प्रस्तुत करती हैं और अपने सबल तर्कों के बल पर सगुण ईश्वर की अवधारणा को ही स्वीकार करती हैं, उसे ही मानती हैं। गोपियों के अनुसार ईश्वर को पाने के लिए ये सारे बाहरी विधान और तामझाम व्यर्थ हैं। उसे पाने के लिए सिर्फ़ एक चीज़ चाहिए और वह है प्रेम। नन्ददास की गोपियाँ प्रेममार्ग की सरलता का विशेष उल्लेख करती हैं। हम देख चुके हैं कि ईश्वर भक्त के प्रति प्रेम के वशीभूत होकर अवतार लेता है। स्मरणीय है कि प्रेम एकतरफा नहीं होता। आग दोनों तरफ लगी होनी चाहिए। भक्त का भगवान के प्रति प्रेम है, तभी वह बदले में भगवान का प्रेम, उनकी कृपा पाने का अभिलाषी हो सकता है। सच्चे मन से प्रेम करने पर उसे अपने आराध्य की कृपा मिलेगी ही। आगे उद्धव निर्गुण ब्रह्म के समर्थन में तर्क देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार आकाश निराधार है, उसी प्रकार ब्रह्म भी बिना आधार का है, बिना गुण का है। गोपियाँ उद्धव के इस तर्क से सहमत नहीं हैं। वे उलटकर पूछती हैं ---

जो उनके गुन नाहिं, और गुन भये कहाँ तें ।
बीज बिना तरु जमें, मोहि तुम कहो कहाँ तै ।।
वा गुन की परछाँह री, माया दर्पन बीच ।
गुन तै गुन न्यारे भये, अमल बारि मिलि कीच ।।[1]

---

1. भँवरगीत, पद 20.

बीज के अभाव में जिस प्रकार वृक्ष नहीं हो सकता, उसी प्रकार यदि सृष्टि गुणात्मक है तो उसके रचयिता को भी गुणयुक्त होना चाहिए। गोपियाँ प्रकृति को ब्रह्म का प्रतिबिंब मानती हैं जो मायारूपी दर्पण में दिखाई पड़ता है। यहाँ प्रतिबिंब और दर्पण दोनों का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। एक अन्य पद में गोपियाँ कहती हैं कि जिस तरह सूर्य आकाश में अपने तेज में छिपा है, उसी तरह ज्योतिर्मय ब्रह्म के साथ उसका सगुण स्वरूप छिपा है।"[1]

"भँवरगीत" में गोपियाँ कृष्ण के स्वभाव पर विचार करते समय प्रसंगवश उनके वर्तमान तथा पूर्व के अवतारी रूपों की चर्चा करती हैं। कृष्ण की निष्ठुरता के प्रसंग में वे कई तथ्य उपस्थित करती हुई कहती हैं कि रामावतार में उन्होंने ताड़िका का वध किया था तथा शूर्पनखा के नाक-कान काटे थे। वामन अवतार के रूप में कृष्ण ने विराट् रूप धारणकर एक डग से पृथ्वी तथा दूसरे डग से आकाश को नाप लिया। तीसरे डग के लिए राजा बलि ने अपना शरीर अर्पित कर दिया। शरीर पर पैर रखना लोभ की पराकाष्ठा है, लेकिन कृष्ण ने ऐसा किया। उन्होंने परशुरामावतार में पिता के आदेश पर अपनी माता को मार डाला तथा असंख्य क्षत्रियों का संहार किया। नृसिंह रूप में अवतरित होकर कृष्ण ने हिरण्यकशिपु का वध किया।[2]

कहने की आवश्यकता नहीं कि उपर्युक्त प्रसंग में गोपियाँ वस्तुतः कृष्ण की निन्दा नहीं बल्कि व्याजस्तुति कर रही हैं। यह कृष्ण का गुणगान है। ध्यातव्य है कि यहाँ नन्ददास ने जिन कुछ पूर्वावतारों की चर्चा की है, वे कृष्ण के अवतार बताये गए हैं, न कि विष्णु के। कृष्ण को परब्रह्म माननेवाले

---

1. भँवरगीत, पद 24.
2. वही, पद 34-40.

भक्तकवि के लिए यह एक स्वाभाविक बात थी। तर्क-युद्ध में गोपियाँ बीस पड़ती हैं और इस प्रकार नन्ददास अवतारवाद को ठोस भूमि पर प्रतिष्ठित करते हैं।

मध्यकाल के सामंती समाज में जहाँ नारियाँ उपभोग की वस्तु मानी जाती थीं, गहरे शोषण की शिकार थीं, वहाँ नन्ददास के "भँवरगीत" की गोपियाँ न केवल विशिष्ट व्यक्तित्व युक्त हैं, बल्कि किसी मायने में पुरुष से हीनतर नहीं हैं। यह एक महत्वपूर्ण बात है और इसकी प्रगतिशीलता का अंदाजा तत्कालीन परिवेश को ध्यान में रखकर ही लगाया जा सकता है। "भँवरगीत" के माध्यम से उन्होंने दर्शन तथा भक्ति के क्षेत्र में सामान्य जनता का पक्ष प्रस्तुत किया और इस प्रकार अवतार के सिद्धांत को जनता की जीवन-स्थितियों से जोड़ा। उन्होंने अवतारवाद को ठोस सैद्धांतिक धरातल पर स्थापित किया, इसमें संदेह नहीं।

3.17.3 कुम्भनदास

कुम्भनदास निरीह तथा स्पष्टवादी कृष्णभक्त थे। उन्हें धन, यश आदि की कोई कामना नहीं थी। इसलिए उन्हें किसी का जरा भी भय नहीं था। कुम्भनदास ने फुटकल पदों की रचना की है। उनके सभी पद कृष्ण से संबंधित हैं। वे कृष्ण के प्रति पूरी तरह समर्पित होकर कविता करते थे। कृष्णावतार में उनकी पूरी आस्था थी। उनके कृष्ण गोपियों से बताते हैं कि नन्द और यशोदा ने मुझसे इस अवतार के लिए वचन ले लिया था। इसी कारण गोकुल में मैं अवतरित हुआ। वस्तुतः

मैं ही सब लोकों का स्वामी हूँ। गोकुल में आकर मैंने लोगों को सुख दिया—

तप करिके नन्द नारि माँगि मो पै वर लीन्हों ।
वचन वेद वपु धारि आइ गोकुल सुख दीन्हों ।
तुम कहा जानो बावरी, हम त्रिभुवनपतिराई ।
जो जल थल में बसै सो घट घट रह्यो समाई ।।[1]

साथ ही वे यह भी कहते हैं कि गायों तथा संतों की रक्षा के लिए मैंने अवतार लिया है ----

अवनि असुर अति प्रबल मुनीजन कर्म छुड़ाय ।
गऊ संतन के हेत, देह धरि ब्रज में आए ।।[2]

असुरों की प्रबलता की चर्चा के द्वारा कवि मध्यकालीन परिवेश का संकेत कर रहा है। अवतार के प्रयोजन-रूप में संत के साथ गाय की रक्षा शामिल है। इससे बात साफ हो जाती है।

"अष्टछाप की वार्ता" में एक प्रसंग है जिसके अनुसार कुम्भनदास की ख्याति सुनकर उस समय के सम्राट ने उन्हें अपने यहाँ बुलवाया। अनिच्छापूर्वक वे वहाँ गए। सम्राट द्वारा भेजी गई "असवारी" पर न जाकर वे पैदल फतेहपुर सीकरी पहुँचे। स्पष्ट है कि उस समय सम्राट था अकबर। अकबर के अनुरोध पर उन्होंने एक पद सुनाया। प्राकृत जन के आगे कृष्ण

- -

1. कुम्भनदास पद संग्रह, पद 10.
2. वही, पद 14.

की लीला का गायन उन्हें अटपटा लगा। उन्होंने सोचा "मेरी वाणी के भोक्ता तो श्रीगोवर्द्धनधर हैं, परि कछु गाए बिना तो मोहन न छोड़ैगो। तातें एसो गाँउ जो यह कुदि के मेरा नाम कबहू न लेइ। काहे तें जो याके संग ते मेरे प्रभु छूटत हैं। तब यहाँ एसे कठोर वचन कहाँ जो--यह बुरो माने तो मेरो कहा करेगो।"[1]

ऐसा सोचकर कुम्भनदास ने सम्राट् के सामने जो पद गाया, वह उनके अदम्य साहस का ठोस प्रमाण है और सच पूछा जाय तो वह उनका सर्वाधिक प्रसिद्ध, सर्वाधिक उद्धृत पद है। पद इस प्रकार है ---

भक्त को कहा सीकरी काम ।
आवत जात पन्हैयाँ टूटीं बिसरि गयो हरि नाम ।
जाको मुख देखत दुख उपजे ताकों करनी पड़ी प्रनाम ।
"कुंभनदास" लाल गिरधर बिनु यह सब झूठो धाम ।।[2]

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह पद कितना क्रांतिकारी है। मध्यकालीन सामंती समाज में सम्राट् के सामने जान-बूझकर इसका गायन कितने साहस का काम है। कुम्भनदास कोइस बात का गहरा पछतावा है कि वे सम्राट् से मिलने गए। जिसका मुख देखने से दुःख होता हो, उसको प्रणाम करना पड़े, तो इससे बड़ी विडम्बना क्या हो सकती है? कुम्भनदास को इसका स्पष्ट बोध है कि घोर विलासिता में डूबे हुए ऐसे लोग ही समाज के कष्ट के वास्तविक कारण हैं। उन्हें ऐसे लोगों से एक तरह की एलर्जी है। राजसत्ता

---

1. अष्टछाप की वार्ता, पृ. 232.
2. वही, पृ. 233.

के प्रति उनका ऐसा उपेक्षापूर्ण रवैया न सिर्फ़ उनके साहस का सूचक, बल्कि समाज और उसकी समस्याओं के प्रति उनके वस्तुपरक दृष्टिकोण का भी प्रमाण है। शोषण पर आधारित व्यवस्था में, ऐसे दमघोंटू माहौल में कवि को सबसे बड़ी चिन्ता इस बात की है कि इससे कृष्ण की भक्ति नहीं हो सकती है। यह सारा वैभव, सारा चाकचिक्य कवि की दृष्टि में दो कौड़ी का है। कृष्ण की भक्ति का इससे तालमेल नहीं बैठ सकता।

असल में, मध्यकाल के वैष्णव भक्त कवि प्राकृतजन के गुणगान को अत्यंत तुच्छ दृष्टि से देखते थे। वे राम या कृष्ण को आराध्य मानते थे, सब लोकों का स्वामी मानते थे। अतः उनके सामने धरती के राजा की भला क्या हैसियत थी? वे उनके लिए उपेक्षणीय थे। अवतारवाद में आस्था, अवतारों के प्रति सुदृढ़ भक्ति के कारण उनमें ऐसा साहस आता है। अवतार का सिद्धांत अपने समकालीन समाज से, उसके सुख-दुःख से गहरे स्तर पर जुड़ा है। साथ ही वह लोगों में गहरे आत्मसम्मान का भाव भी जगाता है।

3.17.4. मीराबाई

भक्तिकालीन कृष्णभक्ति काव्यधारा में मीराबाई का विशिष्ट स्थान है। उनका काल सोलहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। वे ब्रजप्रदेश के बाहर राजस्थान की निवासी थीं। मीरा सच्चे भक्तों की कोटि में रखी जाती हैं। उनकी जीवन-स्थितियों को ध्यान में रखते हुए उनके कृतित्व पर विचार करने पर उनके महत्त्व का पता चलता है। कुलीन परिवार में विवाह होने के कुछ ही दिन बाद वे विधवा हो गई थीं।

आरंभ से ही मीरा के मन में कृष्ण-भक्ति का भाव था। वह और बढ़ता गया। वे मंदिर में जाकर कृष्ण की मूर्ति के सामने आनंदविभोर होकर नाचती और गाती थीं। वे कृष्ण के प्रति पूर्णरूपेण समर्पित थीं। वे किसी विशेष भक्ति-संप्रदाय की अनुयायी नहीं थीं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उनके संबंध में लिखा है ---

"मीराबाई अत्यंत उदार मनोभावापन्न भक्त थीं। उन्हें किसी पंथ-विशेष पर आग्रह नहीं था। जहाँ कहीं भी उन्हें भक्ति या चारित्र्य मिला है, वहीं उन्होंने उसे सिरमाथे चढ़ाया है।"[1]

मीराबाई अनेक पारिवारिक, सामाजिक कठिनाइयों के बीच रहकर कृष्ण की भक्ति करती रहीं। उनके तथाकथित कुलविरोधी आचरण से नाराज होकर परिवारवालों ने उन्हें तरह-तरह से परेशान किया और कोशिश की कि वे भक्ति का यह "कुमार्ग" छोड़ दें। लेकिन इस स्थिति का भी उनकी अनन्य कृष्ण-भक्ति पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ा। मीरा के आराध्य कृष्ण बराबर उनकी आँखों में ही बसते हैं। वहाँ किसी प्रकार की दूरी नहीं है। उनके गोपाल भक्तवत्सल हैं ---

बसो मेरे नैनन में नंदलाल ।
मोहनी मूरत साँवरि सूरति, नैना बने विसाल ।
. . . .
मीरा प्रभु संतन सुखदाई, भक्तबछल गोपाल ।।[2]

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास, पृ. 121.
2. मीराबाई - पदावली, पद 3.

कवयित्री का अस्तित्व कृष्ण के अस्तित्व से एकमेक हो गया है। कृष्ण उनके लिए "जीवन प्राण अधार" हैं ---

हरि मेरे जीवन प्राण अधार ।
और आसिरा नाहिंन तुम बिनु तीनूँ लोक मझार ।
आप बिना मोहिं कछु न सुहावै, निरख्यौ सब संसार ।
मीराँ कहै मैं दासी रावरी, दीज्यो मती बिसार ।।[1]

स्पष्ट है कि मीरा यूँ ही कृष्ण के प्रति आकर्षित नहीं हुई हैं, उन्होंने संसार को अच्छी तरह देख-समझ लिया है, तब कृष्ण की शरण में आने का निर्णय किया है। सामंती समाज-व्यवस्था, जहाँ लोगों का, विशेषकर नारी का चौतरफा शोषण होता हो, जहाँ नारी के स्वतंत्र व्यक्तित्व की कल्पना तक व्यवस्था के ठेकेदारों और समर्थकों को न सुहाती हो, भला मीरा जैसी भावप्रवण भक्त को कैसे भाये? जाहिर है मीरा उस दमघोंटू परिवेश से बाहर निकल जाना चाहती हैं और कृष्ण का बहुरंगी मिथक उन्हें सहज ही आकर्षित कर लेता है।

कृष्णावतार की कोई विशेष चर्चा मीरा के काव्य में नहीं मिलती है। उन्होंने कथा-प्रसंगों के सहारे कोई प्रबंध काव्य नहीं लिखा है। यह अवश्य है कि वे अवतारी कृष्ण में पूर्ण आस्था रखती हैं, उनके प्रति पूरी तरह समर्पित हैं। अवतार के प्रयोजन के संबंध में उनका मत है कि अपने दुःखी भक्तों की सहायता के लिए कृष्ण अवतरित होते हैं ---

जब जब भीड़ परी भक्तन पर आप ही कृष्ण पधारे ।।[2]

---

1. मीराँबाई - पदावली, पद 4.
2. वही, पद 11.

स्वाभाविक है कि भक्तों के कष्ट को दूर करने के लिए भगवान आएँ वरना उनका क्या हाल होगा? निष्ठुर, निर्दय समाज से उन्हें कोई आशा नहीं है। अपने समकालीन जनजीवन से यह उनके गहरे असंतोष का सूचक है और कहीं-न-कहीं उसके प्रति उनके विरोधभाव का व्यंजक भी। वह गलत ताकतों के सामने झुकनेवाली नहीं। उनमें इतना साहस कोई आकस्मिक बात नहीं है। यह साहस आया है कृष्णावतार में गहन आस्था से। उन्हें विश्वास है कि मैंने जिन प्रभु को वरा है, वे भक्तों का हित करने वाले हैं। फिर कोई कारण नहीं कि वे मेरी सहायता न करें। इतना ही नहीं, उन्हें इस बात का गर्व है कि उन्हें कृष्ण के समान प्रभु की कृपा प्राप्त है ---

सब भक्तन का कारज कीन्हा सोई प्रभु मैं पायाजी ।[1]

कृष्ण मीरा की भक्ति के एकमात्र आलंबन हैं। कृष्ण उनके आराध्य देव हैं और वे हैं उनकी जन्म-जन्म की दासी और पत्नी। "मीराबाई की उपासना"माधुर्य" भाव की थी अर्थात वे अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण की भावना प्रियतम या पति के रूप में करती थीं।"[2] प्रियतम कृष्ण के प्रति अपनी अनुभूतियों को मीरा ने अत्यन्त रागात्मकता के साथ अभिव्यक्त किया। इस कारण उनकी उक्तियों में पर्याप्त मार्मिकता मिलती है, तीव्र भावावेग मिलता है। कृष्ण के प्रति अपने प्रेम की अनन्यता का इजहार करते हुए मीरा कहती है ---

मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई ।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई ।
तात मात भ्रात बन्धु, अपना नहिं कोई ।
छाँड़ि दई कुल की कान, क्या करेगा कोई ।[3]

---

1. मीरांबाई-पदावली, पद 118.
2. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 127.
3. मीरांबाई-पदावली, पद 18.

डंके की चोट पर की गई यह घोषणा मीरा की अनन्य कृष्ण भक्ति ही नहीं, कुल आदि के पतनशील सामंती मूल्यों पर तीखे प्रहार का भी सूचक है। वे जानती हैं कि जबतक कुल आदि के पुराने सामंती मूल्यों पर प्रहार नहीं होगा, तबतक प्रेम के जनवादी मूल्य की स्थापना नहीं हो पाएगी। इसलिए वे समस्या की जड़ पर ही चोट करती हैं। प्रेम का फूल पुराने क्षयिष्णु मूल्यों के मलबे पर ही खिल सकता है। वास्तव में मीरा ने कृष्णावतार की अनन्य भक्ति के द्वारा मध्यकाल की शोषित, पीड़ित नारी को साहस, शौर्य का परिचय देते हुए परंपरित शोषण-चक्र से मुक्त होकर अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व की पहचान करने के लिए गहरे धक्के दिये, रूढ़िवादी समाज की विकृतियों से जूझने और उन्हें नष्ट करने की प्रेरणा दी। बंधनों से घिरी नारी की मुक्ति के लिए कृष्णावतार के मिथक को केन्द्र में रखकर मीरा ने जो प्रयास किये, वे मध्यकाल में तो प्रासंगिक थे ही, आज भी प्रासंगिक हैं।

3.17.5 रसखान

कृष्णभक्ति काव्यधारा के कवियों में रसखान एक महत्वपूर्ण नाम है। आचार्य शुक्ल ने उन्हें "बड़े भारी कृष्णभक्त"[1] रूप में स्मरण किया है। रसखान का समय लगभग सत्रहवीं शताब्दी है। सैयद इब्राहीम से रसखान बनने के संबंध में कई तरह की कथाएँ मिलती हैं। स्वयं रसखान ने दिल्ली से ब्रज आने के बारे में लिखा है ---

---

1. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 131.

देखि गदर हित साहबी, दिल्ली नगर मसान ।
छिनहिं बादसा-बंस की, ठसक छोरि रसखान ।।
प्रेम निकेतन श्रीवनहिं, आइ गोबर्धन धाम ।
लह्यो सरन चितचाहि कै, जुगलसरूप ललाम ।।[1]

स्पष्ट है कि जब उन्हें लगा कि राजनीतिक खून-खराबे के चलते दिल्ली नगर श्मशान हो गया है और बादशाही शान-शौकत झूठी है, तो वे ब्रज की ओर चले आए। उपर्युक्त प्रथम दोहे के आधार पर रसखान को शाही खानदान का व्यक्ति बतलाया गया है। अगर वे शाही खानदान के न भी हों, तब भी इतना तो निश्चित ही है कि अपने समय के कई राजदरबारों से उनका निकट का संबंध था। अपने एक सवैये में रसखान कहते हैं ---

देस बिदेस के देखे नरेसन रीझि की कोऊ न बूझ करैगो ।
तातैं तिन्हे तजि जान गिरयो गुन सौं गुन औगुन गाँठि परैगो ।।
बाँसुरीवारो बड़ो रिझवार है स्याम जो नैकु सुढार ढरैगो ।
लाड़लो छैल वही तो अहीर को पीर हमारे हिए की हरैगो ।।[2]

स्पष्ट ही रसखान ढेर सारे राजदरबारों को निकट से जाननेवाले व्यक्ति थे। उन्हें मलाल इस बात का है कि उन्होंने ऐसा एक भी राजा नहीं देखा जो गुणग्राहक हो, स्नेहशील हो। रसखान की यह शिकायत कितनी वाजिब है, कहने की आवश्यकता नहीं। मध्यकाल के सामंती राजदरबारों से जो भी इस तरह की अपेक्षा करेगा, वह निराश होने को बाध्य होगा ही।

- -

1. रसखान रचनावली, पृ. 121.
2. वही, पृ. 74.

ऐसे प्रेमरहित परिवेश में, ऐसे दमघोंटू माहौल में वे परेशान हो जाते हैं और अंततः उससे निकलकर मदनमोहन कृष्ण की शरण में पहुँचते हैं। एक तरह से यह उनका कायाकल्प है। कृष्ण-भक्ति के क्षेत्र में आकर वे सही अर्थों में रसखान हो जाते हैं और रस की धारा बहाकर भक्तों, काव्य-प्रेमियों को उसमें आप्लावित कर देते हैं। सामंती राजदरबारों के कृत्रिम जीवन से निकलकर वे कितनी खुशी का अनुभव करते हैं, कितने उल्लास का अनुभव करते हैं, यह उनके पदों से छलक-छलक पड़ता है। "साँवरे ग्वार सों नेह" लगाकर रसखान अपनी उपलब्धि पर फूले नहीं समाते और सिर्फ़ अपने अपार धन-दौलत पर गर्व करने वाले समृद्ध लोगों पर लानत भेजते हैं--

ऐसे भये तो कहा रसखानि जौ साँवरे ग्वार सों नेह न लैयत ।[1]

सामंती जीवन-शैली का ऐसा विरोध एक ऐसा कृष्णभक्त कवि कर रहा है, जिसने स्वयं कभी उसका अनुभव किया था। सामंत वर्ग की असीम धन-लिप्सा, छीना-झपटी, आपसी कलह को रसखान ने नज़दीक से देखा था और देखा था उस माहौल में मानवीय मूल्यों का विघटन। संवेदनशीलता उसे वहाँ से निकाल लाती है और वह ऐसे वातावरण में आ जाता है जहाँ खुली, शुद्ध हवा में साँस ले सके। अब उसके लिए राजमहल और सारा राजसी ठाठबाट दो कौड़ी की चीज़ है। राजपाट क्या अब तो उसे स्वर्ग की भी कामना नहीं। अगर कोई चाह है तो वह है प्रेम की चाह ---

जेहि पाए बैकुण्ठ अरु हरिहूँ की नहिं चाहि ।
सोइ अलौकिक सुद्ध सुभ सरस सुप्रेम कहाहि ।।[2]

---

1. रसखान रचनावली, पृ.31.
2. वही, पृ.119.

वस्तुतः रसखान की दृष्टि में कृष्ण पूरी तरह प्रेममय ही नहीं हैं, वे साक्षात् प्रेम ही हैं। उनके आराध्य कृष्ण और प्रेम एक ही हैं। उनके शब्दों में ---

प्रेम हरी को रूप है, त्यौं हरि प्रेमस्वरूप ।
एक होई द्वै यौं लसैं, ज्यौं सूरज अरु धूप ।।[1]

रसखान का मानना है कि जिस तरह सूर्य की सार्थकता है धूप होने में, उसी तरह कृष्ण की सार्थकता है प्रेम होने में । ऐसे परिवेश से, जहाँ प्रेम का दूर-दूर तक पता न हो बल्कि कहना चाहिए जो प्रेमविरोधी हो, आये कवि रसखान यदि अपने कृष्ण को साक्षात् प्रेम मानते हैं, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। प्रेमरहित, प्रेमविरोधी परिवेश से आये व्यक्ति से बढ़कर प्रेम की महत्ता और कौन समझेगा ?

रसखान कृष्ण के अवतार की कोई विशेष स्पष्ट चर्चा नहीं करते हैं, लेकिन अन्य कृष्णभक्त कवियों की तरह वे भी कृष्ण को मूलतः परमेश्वर ही मानते हैं। वे ऐसे प्रभु हैं जो बड़े-बड़े देवताओं, ऋषियों-मुनियों के लिए भी अगम हैं, कोई उनका मर्म नहीं जानता है, लेकिन वे ब्रज की भोली-भाली गोपियों के वश में हैं, उनके प्रेम के वशीभूत है--

सेस गनेस महेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं ।
जाहि अनादि अनन्त अखण्ड अछेद अभेद सुबेद बतावैं ।।
नारद से सुक व्यास रहैं पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं ।
ताहि अहीर की छोहरिया छछिया भरी छाछ पै नाच नचावैं ।।[2]

---

1. रसखान रचनावली, पृ. 119.
2. वही, पृ. 57.

कृष्ण के अवतार लेने की शाब्दिक चर्चा न करते हुए भी कवि ने संकेत रूप में उसी की चर्चा की है। स्पष्ट ही, रसखान मानते हैं कि निर्गुण, निराकार ब्रह्म ही भक्तों को आनन्द देने के लिए कृष्ण रूप में अवतरित हुआ है। यह भी स्पष्ट है कि उनके कृष्ण दुष्टों के संहार तथा धर्म की स्थापना आदि बड़े लक्ष्य के लिए अवतरित नहीं हुए हैं। वे अवतरित हुए हैं भक्तों के प्रेम के कारण और उनका प्रयोजन है आनन्ददान। वे ब्रज को आनन्दित करने के लिए आए हैं। जाहिर है कि लोगों के दुःखी जीवन में आनन्द का संचार तभी हो सकता है जब उनके दुःख दूर हो जाएँ। इसलिए रसखान के कृष्ण "सुखकंदन" ही नहीं "दुखदंदन" भी हैं ---

जाहि बिलोकै सबै सुख पावत ये ब्रजजीवन हैं दुखदंदन ।।[1]

कृष्णावतार की कथा कहना रसखान का प्रयोजन नहीं है। राधा-कृष्ण की लीलाओं के वर्णन में वे काफी तन्मय होते हैं और प्रेम-सौन्दर्य के अनेक मनोहर चित्र उकेरते हैं। वास्तव में जैसा कि स्वाभाविक है, राधा-कृष्ण की लीलाओं के माध्यम से जिस प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है, वह मूलतः लौकिक प्रेम है, मानवीय प्रेम है। मुसलमान होते हुए भी रसखान कृष्णभक्तिधारा से जुड़े और अपनी गहन संवेदनशीलता के बल पर उन्होंने जो प्रेमसिक्त काव्य-सृजन किया, वह भक्ति एवं काव्य के क्षेत्र में उनकी महानता का सूचक होने के साथ-साथ इस बात का भी प्रमाण है कि मध्यकालीन अमानवीय सामंती व्यवस्था में वे "मिसफिट" थे, उसके लिए आउटसाइडर" थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि सामंत-प्रजा के द्वन्द्व में वे कोई मूक द्रष्टा न होकर प्रजा के पक्षधर थे। पक्षधर होने का यह साहस उन्हें

---

1. रसखान रचनावली, पृ. 68.

कृष्णावतार की बहुआयामी मिथक-कथा से मिला था। अपने एक सवैये में रसखान अपनी हार्दिक कामना व्यक्त करते हुए कहते हैं ---

मानुष हौं तो वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन ।
जो पशु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन।।
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धर्यो कर छत्र पुरन्दर धारन ।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदी कूल कदंब की डारन ।।[1]

सामंती वैभव विलास के प्रति उपेक्षा भाव, वितृष्णा भाव रखने वाले कवि रसखान को ब्रज से इतना प्रेम है कि वे किसी-न-किसी रूप में वहीं बने रहना चाहते हैं। मानना होगा कि ब्रज के निवासी मनुष्य ही नहीं, वहाँ के पशु-पक्षी यहाँ तक कि वहाँ के पर्वत, वहाँ की धूल तक से यदि कवि को इतना प्रेम है तो सिर्फ़ इस कारण कि ब्रज की एक-एक चीज़ पर कृष्ण के प्रेम की छाप है। किसी भी स्थिति में उस प्रेम के बिना रहने की कल्पना नहीं की जा सकती है। वास्तव में जीवन के प्रति इतना अनुराग, इतना प्रेम अवतारवाद की महिमा का ही उद्घोष है, इसमें संदेह नहीं।

इस प्रकार भक्तिकालीन कृष्ण-भक्ति काव्यधारा के अंतर्गत श्रेष्ठ साहित्य की रचना हुई। यहाँ जिन कवियों की रचनाओं का विवेचन किया गया है, उनके अलावा भी अनेक कवियों ने इसमें अपना योगदान किया है। लेकिन अधिकांश कवियों की रचनाओं में एक तरह का पिष्टपेषण मिलता है। इसलिए सिर्फ़ उन कवियों की कृतियों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है जिनका रचनात्मक योगदान अधिक महत्वपूर्ण है।

---

1. रसखान रचनावली, पृ. 51.

वस्तुतः यह कृष्ण-काव्य प्रबन्ध-रूप में नहीं लिखा गया। इसलिए स्वभावतः वह कृष्ण के संपूर्ण चरित्र का चित्रण नहीं करता है। लेकिन अपनी संवेदनशीलता के द्वारा कवियों ने कृष्ण-चरित के विशेष भावात्मक स्थलों को चुनकर उसे बेहद, आकर्षक, बेहद रसात्मक बना दिया है। यहाँ वे पूरी तन्मयता का परिचय दे सके हैं।

3.18 "कन्हावत" : कृष्णावतार का केन्द्रीय मिथक

भक्तिकालीन निर्गुण काव्यधारा की प्रेममार्गी शाखा के प्रतिनिधि कवि मलिक मुहम्मद जायसी के तीन काव्य-ग्रन्थों की चर्चा इतिहासकारों ने की है --- पद्मावत, अखरावट और आखिरी कलाम। जाहिर है कि इन ग्रंथों में अवतार की अवधारणा नहीं मिलती। लेकिन इधर डॉ. शिवसहाय पाठक के अध्यवसाय तथा अप्रतिम शोध के फलस्वरूप जायसी-कृत एक अन्य ग्रंथ "कन्हावत" प्रकाश में आया है। अवधी में लिखित इस काव्य-ग्रंथ का संपादन करके उन्होंने इसे उन्नीस सौ इक्यासी ई. में प्रकाशित किया। इसके प्रकाशन से यह बात साफ हुई कि भक्तिकाल में कृष्णभक्तिकाव्य की भाषा ब्रजभाषा ही नहीं, अवधी भी थी। यह भी कि कृष्णभक्ति का प्रभाव रसखान आदि जैसे मुसलमान कवियों पर ही नहीं, सूफी कवि जायसी पर भी गहरे रूप में पड़ा था और उससे आकर्षित होकर उन्होंने "कन्हावत" जैसी कृति की रचना की। कृष्णकाव्य-परंपरा में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। ध्यातव्य है कि सूरदास से भी पहले जायसी ने कृष्णभक्तिपरक काव्य लिखा है। "कन्हावत" की रचना "पद्मावत" से पहले हुई थी। मोटे तौर पर इसका रचनाकाल सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में माना जाता है।

जैसा कि नाम से स्पष्ट है "कन्हावत" कृष्ण की मिथक-कथा पर आधारित काव्य है। कृष्ण-कथा की लोकप्रियता जायसी के युग में काफ़ी थी। लोकमानस में उसका गहरा प्रभाव था। स्पष्ट ही उसकी लोकप्रियता को देखकर जायसी ने उसे अपनाया और "कन्हावत" के केन्द्रीय मिथक के रूप में प्रतिष्ठित किया। उन्होंने कृष्ण की उस प्रचलित लोकप्रिय कथा को उठाया जो अवतारवाद की नींव पर अवस्थित है। इस्लाम में अवतार की कोई गुंजाइश नहीं है। इस बात की चिन्ता से मुक्त होकर कि मुस्लिम समाज में कैसी प्रतिक्रिया होगी, जायसी अवतारवाद पर आधारित कृष्ण-कथा को अपने ढंग से प्रस्तुत करते हैं।

सामान्यतया सूफी कवियों की रचनाओं का आरंभ ईश्वर-स्तुति से होता है, उसके पश्चात् मुहम्मद साहब तथा उनके मित्रों की तारीफ रहती है। फिर कवि अपने पीर, गुरु आदि के साथ ही अपना परिचय देकर वर्ण्य विषय पर आता है। "कन्हावत" की रचना-शैली भी यही है। कथारंभ में कवि अन्य सगुणमार्गी कवियों की तरह हरि कथा की अनंतता की बात करता है ---

हरि अनंत हरिकथा अनंता । गावहिं बेद, भागवत, संता ।।
बिस्नु, पदुम, सिउ, अगिन पुरानां। भारथ, सिरि हरिबंस बखानां।।
सुनेउ-पढ़ेउँ भागवत पुरानां। पाएउँ प्रेम-पंथ संधानां ।।
. . . .
कन्हु के कथा लोक महँ एती। सरगैं नखत तराइन्ह जेती ।।
अइस प्रेम कहानी, दोसरि जग महँ नाहिं ।
तुरुकी अरबी फारसी — सब देखेउ अवगाहि ।।[1]

---

1. कन्हावत, 14.

विभिन्न पुराणों की चर्चा से स्पष्ट है कि कवि ने इन्हें पढ़ा है। वह भागवत को विशेष रूप से स्मरण करता है और कहता है कि उसमें उसे "प्रेम-पंथ" की अवधारणा मिली। साथ ही, यह भी कि कृष्ण-कथा लोक में इतनी प्रचलित है, उसके इतने रूप प्रचलित हैं जितने कि आकाश में नक्षत्र और तारे हैं। कृष्ण-कथा की अनंतता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या होगा ? जायसी इस अनंत कथा से इस तरह अभिभूत हैं कि डंके की चोट घोषित करते हैं --- ऐसी प्रेम-कथा संसार में दूसरी नहीं है। अपनी बात को ज्यादा प्रामाणिक, ज्यादा वजनदार बनाने के लिए वे तुर्की, अरबी, फारसी आदि के साहित्य में ऐसी कथा के अभाव का हवाला देते हैं। स्पष्ट है कि जायसी जिस कथा से ऐसे अभिभूत हैं, उसका स्रोत पुराण और लोक दोनों हैं और वे उसे वहीं से उठाते हैं।

मथुरा के राजा कंस को रावण के समान अत्याचारी बताते हुए जायसी कहते हैं कि उसने संपूर्ण संसार को जीत लिया था। अत्यधिक अहंकारी होकर वह "मृत्यु" पर विजय करना चाहता था। अपने मंत्री "सूक" को बुलाकर उसने मृत्यु को खोज लाने का आदेश दिया। इसी क्रम में उसने नारद को बुलाया और पूछा कि किसके हाथ मेरी मृत्यु होगी। जवाब में नारद ने कहा कि विष्णु महर के यहाँ अवतार लेंगे और वही तुम्हारा संहार करेंगे। नारद के शब्दों में ---

राजा कहौं साच सुनु सोई । दई लिखा तुमहि को होई ।।
बिसुन कहिं महर औतरई । सो तोहि मारि राज पुनि करई ।।
बहिन तोरि देवकी अहई। तहिके कोख औतरा चहई ।।
जेहि क पिता बसुदेऊ रिखी। तहिकें हाथ मीचु तोरि लिखी।।

दुलहगीर करहिं सो, हौ कीन्हा औतार ।
बैरि तो तोरे घर का, खोजसि का संसार ।।[1]

कंस मृत्यु को खोजकर, उस पर विजय प्राप्त करना चाहता था। नारद ने एक तरह से भविष्यवाणी करते हुए सारी स्थिति स्पष्ट कर दी। यहाँ ध्यातव्य है कि नारद कंस को कहते हैं कि तुम्हारा दुश्मन तो तुम्हारे ही घर में है, वही तुम्हारा विनाश करेगा। अतः उसे अन्यत्र खोजने की आवश्यकता नहीं। जाने या अनजाने जायसी ने इस प्रसंग के द्वारा विकास के सनातन नियम पर प्रकाश डाला है। आज मार्क्सवादी शब्दावली में विकास की प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए "थीसिस", "एण्टीथीसिस" और "सिन्थीसिस" की चर्चा की जाती है। विकास की प्रक्रिया द्वन्द्वात्मक होती है। वस्तुतः विकास विपरीतों का संघर्ष ही है। समाज में पुराने और नये का संघर्ष बराबर चलता रहता है और यही तो विकास का मूल है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कंस पुरानी व्यवस्था का, पुराने पतनशील मूल्यों का प्रतीक है जिसे नष्ट होना ही है। जायसी के नारद के अनुसार कंस को नष्ट करने वाली शक्ति उसी के परिवार में ही है। असल में, जहाँ अन्याय, अत्याचार अधिक होता है, उसके प्रतिकार में आवाज भी सबसे पहले वहीं उठती है। समय चाहे जो लगे। विकास की इस प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के लिए इतिहास के एक विशेष मोड़ पर विष्णु अवतार लेते हैं। समाज और युग के लिए यह परम आवश्यक है। सामाजिक विकास के नियम की वस्तुपरक समझ के लिए कवि जायसी की दाद दी जानी चाहिए।

इसी संदर्भ में जायसी विष्णु के दशावतारी होने का उल्लेख करते हैं। नारद कंस को दशावतार-कथा अत्यंत संक्षेप में सुनाते हैं--

---

1. कन्हावत, 36.

बिसुन होइ समुंद जिन मथा । दस औतार कहौं सुनु कथा ।।
प्रथम भएउ मंछि अवतारा । काद बास पद जो अहै न पारा ।।
पुनि होइ कच्छ रूप जल उँकेसि । सबै भार धरती कर टेकेसि ।।
कोपि बराह रूप दें किएउ । नवहिं खंड कर अँब्रित पिएऊ ।।
पुनि भा बावन रूपै करा । सत्त करत बलि राजा छरा ।।
पुनि नरसिंघ भएउ बरियारा । हिरनाकुस कर पेट जैन फारा ।।
पुनि भा परसुराम धनुकारा । मारा सहसराबाहु पतारा ।।

पुनि भा सिरी राम सो, कीन्हेसि लंका दाह ।
अब आवत है तुम्हहि कन्ह राजा मन पतियाहु ।।[1]

वस्तुतः यहाँ नारद दस नहीं आठ अवतारों की ही चर्चा करते हैं — मत्स्य, कूर्म, वराह, वामन, नृसिंह, परशुराम, राम तथा कृष्ण । चूँकि प्रसंग कृष्णावतार से पूर्व का है, इसलिए कृष्ण को संभावित अवतार के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

जैसा कि स्वाभाविक है, विष्णु के बार-बार अवतरित होने की बात कंस के गले के नीचे नहीं उतरती। "मानस" की सती की तरह वह दुविधा में पड़ जाता है। कंस नारद से अपनी शंका प्रकट करता है ---

एक बार जो औतरि मरै । सो दोसरैं कइसें औतरै ।
पिंड जैस माँटी कर भाँड़ा । कहस जुड़ै जो भावति खाँड़ा ।।[2]

---

1. कन्हावत, 38.
2. वही, 39.2-3.

अवतार को लेकर इस तरह की शंका वस्तुतः किसी के भी मन में उठ सकती है। जायसी इसका समाधान सूर्य, चन्द्र आदि के उदाहरणों के द्वारा करते हैं। ईश्वर सैकड़ों-हज़ारों बार अवतार ले सकता है। नारद कहते हैं ---

सूरुज आवइ अथै के जाई । लौटि आई सो कैसे जाई ।।
पुनिउँ चाँद दुइज घटि होई । लौटि सपूरन दीसै सोई ।।
बरखा मेघ जो बरखि बिलाहीं । लौटि कहाँ हुत औ एहि जाहीं।।
. . . .
मुवहिं जियावै जियतहिं मारे । चहै तो सहस बार औतारै ।।[1]

ईश्वर चाहे तो दस क्या लाखों बार अवतार ले सकता है। स्पष्ट है कि यहाँ जायसी पौराणिक विचारधारा से प्रभावित हैं जो ईश्वर के अनंत अवतार मानती हैं। इसके बाद जायसी कृष्णावतार की कथा का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं।

"कन्हावत" के अनेक प्रसंगों में जायसी अवतारवाद की खुलकर घोषणा करते हैं। कालिय-दमन के प्रसंग में साँपिनी के सामने कृष्ण अपने अवतार के बारे में कहते हैं -----

बूंद समुंद्र जस दीसै, तस हौं ताकर अंस ।
कन्ह रूप औतारेउँ, मारै आएउँ कंस ।।[2]

जिस प्रकार बूंद समुद्र का अंश है, उसी प्रकार अवतार परमेश्वर का अंश है।

---

1. कन्हावत, 40.
2. वही, 60.

यह भी स्पष्ट है कि कृष्ण का अवतार कंस के विनाश के हेतु हुआ है, पृथ्वी का भार हटाने के लिए हुआ है।

किन्तु "कन्हावत" का एक अन्य प्रसंग कृष्णावतार के प्रयोजन के संबंध में एकदम भिन्न मत प्रस्तुत करता है। प्रसंग है कि कंस के घमण्ड करने पर ब्रह्मा उस पर रूष्ट होते हैं तथा विष्णु से मथुरा का राजा बनने को कहते हैं। विष्णु इनकार करते हैं। राजा बनने से इनकार करने का वे जो कारण बताते हैं, वह अपने आपमें बड़ा मजेदार है, मनोरंजक है। पिछले अवतारों का जो मुख्य प्रयोजन था अर्थात् लोक-कल्याण, उसे यहाँ भुला दिया जाता है। रामावतार के दौरान भोगे कष्टों की चर्चा करते हुए विष्णु कहते हैं ---

दुख पायेउँ रामा औतारा । अब न औतरौं एहि संसारा ।।
जरम मोर सब तप महँ बीता । एक इस्तरी जानौं सीता ।।
सो पुनि हरि रावन लै गएउ । एहि सताप पिरथीं जिन भएउ ।।

सो हुत जगत करउ का लीन्ह बिहावे नाउँ ।
जहाँ मरन दुख परिहैं लोटि तहाँ का जाउँ ।।[1]

विष्णु के अनुसार रामावतार में उन्हें एक ही पत्नी थी सीता और उसे भी रावण हरकर ले गया था। इस कारण उन्होंने काफी तकलीफ भोगी। इसलिए दुबारा संसार में जाने में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं। फिर ब्रह्मा उन्हें आश्वासन देते हैं ----

1. कन्हावत, 42.

जस यहि जरम गहे तप साजू । तस एहिं जरम देउ सुख साजू ।।
को कब देखइ सुख कैलासा । अछरिन सुख जो देहि हँपासा ।।
सोरह सहस गोपिता साजीं । ते सब मैं तो कहँ उपराजीं ।।
नेह करौं लै तोहि सम जोगू । औतरि जगत मान रस भोगू ।।[1]

पिछले अवतार में भोगे गए कष्टों के बदले इस बार ब्रह्मा उन्हें अपार सुख-भोग उपलब्ध कराने का आश्वासन देते हैं, सोलह हजार गोपियों के साथ आनन्द मनाने, भोग करने की बात कहते हैं। आनन्द का इतना बड़ा इंतजाम भला किसे आकर्षित नहीं करेगा ? कृष्ण अपना सारा पिछला कष्ट भूल जाते हैं और नारी-सौन्दर्य पर मुग्ध होकर अवतरित होते हैं ---

देखि सरूप इस्तरीं, पुनि माया लिपटान ।
पाछिल दुख सो बिसरिगा, जग औतरा आन ।।[2]

इस प्रसंग से तो लगता है कि कृष्णावतार का प्रयोजन था मात्र रसभोग, गोपियों के संग रँगरेलियाँ। जिस ढंग से पूरा प्रसंग बुना गया है उससे ऐसा ही आभास होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रसंग से जायसी की कृष्णावतार-संबंधी अवधारणा में थोड़ी अगंभीरता आ गई है। लेकिन इसके पीछे कवि का यह दृष्टिकोण काम करता दिखता है जो संसार से पलायन में नहीं, उसके भोग में विश्वास करता है। यह जीवन-जगत के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण का सूचक है। लेकिन बहुत संभव है कि इससे कोई अतिशय भोगवादी आशय निकाल ले, जो स्वयं जायसी को स्वीकार नहीं।

---

1. कन्हावत, 43.
2. वही.

प्रेममार्गी शाखा के प्रतिनिधि कवि से विशुद्ध मानवीय प्रेम की वकालत की आशा की जानी चाहिए, विशुद्ध भोगवाद की नहीं। अधिक-से-अधिक उक्त प्रसंग एक महान कवि का विचलन माना जा सकता है।

"कन्हावत" में गोपियों की चर्चा है। गोपियों में राधा तथा "चन्द्रावली" को प्रमुख स्थान दिया गया है। कवि ने राधा-कृष्ण के मधुर प्रसंगों का वर्णन किया है तथा दोनों का विवाह भी करवाया है। जायसी ने राधा के सौन्दर्य का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है। इसे परंपरागत नख-शिख-वर्णन के अंतर्गत रखा जा सकता है।

इस प्रकार जायसी ने "कन्हावत" में जिस कृष्ण-मिथक-कथा को केन्द्रीय वक्तव्य बनाया है, वह उन्हें पौराणिक साहित्य के साथ-साथ मध्यकालीन जनमानस में गहरे धँसी अनेक कृष्ण-कथाओं से प्राप्त हुई है। जायसी को लोकमन की गहरी परख थी। वास्तव में लोकमानस में जमी इस कथा ने उन्हें आकर्षित किया और इसे उठाकर उन्होंने अपने ढंग से प्रस्तुत किया। कृष्णावतार की प्रेम-कथा के माध्यम से अपने युगीन समाज में व्याप्त निराशा, हताशा को तोड़कर उसके स्थान पर जीवन-जगत में आस्था की तलाश पर उन्होंने बल दिया। अवतारवाद में विश्वास करने वाला कवि इस बात को झुठला नहीं सकता। "कन्हावत" की मधुर प्रेम-कथा ने परवर्ती कृष्ण-भक्ति काव्यधारा में मधुरोपासना का मार्ग प्रशस्त किया होगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि "कन्हावत" का अवतारवाद की दृष्टि से ऐतिहासिक महत्व है।

x---------o---------x

चतुर्थ अध्याय

अध्याय : चतुर्थ

4. लीला का सामाजिक संदर्भ

4.1 लीला का स्वरूप तथा उसके स्रोत

4.2 रामभक्ति साहित्य में लीला : सामाजिक संदर्भ

4.3 कृष्णभक्ति साहित्य में लीला : सामाजिक संदर्भ

4.3.1 लीला का कृरत्व

4.3.2 निष्प्रयोजन लीला का सामाजिक संदर्भ

4.3.3 लोक जीवन कृष्णलीला का स्रोत

4.3.4 लीला का गतिशील सौन्दर्य

---

4. लीला का सामाजिक संदर्भ

4.1 लीला का स्वरूप तथा उसके स्रोत

भक्तिकालीन सगुणभक्ति काव्य में लीला के सिद्धांत का अप्रतिम महत्व है। वस्तुतः लीला अवतारवाद के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। भक्ति का प्रमुख साधन है भगवान की लीला का श्रवण तथा मनन। यह अवतार की अवधारणा से संभव हुआ है। अवतार ग्रहण कर भगवान विविध लीलाएँ करते हैं जिसके फलस्वरूप उनके विविध नामों का लोक में प्रचलन होता है। भगवान के नामों के कीर्तन तथा जप को भक्तिकाव्य में काफी महत्व मिला है। भारतीय भक्ति साहित्य में अवतारों की संख्या बहुत मानी गई है, लेकिन हम जानते हैं कि सब अवतारों को समान महत्व नहीं मिला। राम और कृष्ण ही सबसे महत्वपूर्ण अवतार माने गये हैं और इन्हीं को केन्द्र में रखकर महान भक्ति-काव्य की रचना हुई है। ढेर सारे अवतारों के होते हुए राम और कृष्ण को सर्वाधिक महत्व मिलने का कारण क्या है ? लीला का सिद्धांत। राम और कृष्ण लीला-बहुल अवतार हैं। इसी लीला-बहुलता के कारण वे सर्वाधिक महत्वपूर्ण अवतार माने गये।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार लीला "भारतीय भक्तों की सबसे ऊँची कल्पना है। हम जानते हैं कि भगवान् अगम हैं, अगोचर हैं, अकल हैं, अनीह हैं; हम यह भी जानते हैं कि वे

अनुभवैकगम्य हैं, केवल अपने स्वरूप से ही उनको साधक अनुभव कर सकता है, वे गूंगे के गुड़ हैं, अनिर्वचनीय हैं। पर यह सब ज्ञान की बातें हैं : भक्त लोग भगवान् को ज्ञान के द्वारा अगम्य मानते हैं, क्योंकि मनुष्य की शक्ति सीमित है, उसकी बुद्धि की दौड़ बहुत मामूली है। परंतु वे प्रेम से गम्य हैं "ज्ञान के अगम्य तुम प्रेम के भिखारी हो।"[1]

स्पष्ट है कि लीला बुद्धि की दौड़ नहीं है, इसलिए असीम है। लीला की अवधारणा सीमा में बंधकर नहीं रहती, उसका अतिक्रमण करती है। भारतीय भक्तों को इस बात का अच्छी तरह बोध रहा है कि ज्ञान की सीढ़ियों द्वारा भगवान तक नहीं पहुँचा जा सकता। उसके लिए सर्वाधिक आवश्यक तत्व है प्रेम। भगवान के प्रति एकांत प्रेम की भक्ति के द्वारा ही उसे पाया जा सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि लीला का केन्द्रीय तत्व है प्रेम। प्रेम की पीठिका पर ही लीला का ताना-बाना बुना गया है। इसीलिए भगवान से भक्त के अनेकविध संबंधों की कल्पना की गई है। माता, पिता, सखा, कान्ता, सेवक-सारे संबंध भगवान के प्रति प्रेम को प्रकट करते हैं। वस्तुतः ये सारे संबंध मानवीय संबंध हैं। मनुष्य-मनुष्य के बीच जितने तरह के संबंध हो सकते हैं, भगवान के संदर्भ में वे सारे स्वीकार किये गये हैं। तुलसीदास के शब्दों में --

"तोहि मोहि नाते अनेक मानिये जो भावै"।

"गीता" में कृष्ण अर्जुन से कहते हैं ---

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचिन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ।।[2]

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, खंड-4, पृ. 334-335.
2. श्रीमद्भगवद्गीता 3. 22

अर्थात् यद्यपि तीनों लोकों में कुछ भी मेरे लिए कर्तव्य नहीं है और ऐसी कोई वस्तु नहीं जो मुझे प्राप्त नहीं, फिर भी मैं कर्म करता हूँ।

"गीता" के इस श्लोक को लीला की अवधारणा की आधार-भित्ति माना जा सकता है। ईश्वर सब तरह से पूर्ण हैं, उन्हें किसी चीज़ की जरूरत नहीं। फिर भी वे कर्म को पसंद करते हैं। कर्मों के द्वारा उन्हें कुछ प्राप्त नहीं करना है, फिर भी वे कर्म करते हैं। वे कर्म करते हैं लोकरक्षा के लिए। असल में कृष्ण कर्मवादी जीवन-दर्शन की वकालत करते हैं। उनका मत है कि यदि मैं कर्म न करूँ तो संसार नष्ट हो जाएगा क्योंकि मेरा अनुकरण करने वाले लोग भी कर्म छोड़ देंगे। कर्म के अभाव में लोक टिक नहीं सकता --

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।[1]

इस श्लोक की टीका करते हुए रामानुजाचार्य ने लिखा है --

"मैं सत्य संकल्प तथा अपने संकल्पमात्र से ही जगत् का सृजन, पालन और संहाररूप लीला करने वाला सर्वेश्वर, यद्यपि जगत् का उपकार करने के लिए स्वच्छन्दरूप से ही मनुष्य रूप में प्रकट हुआ हूँ, तो भी मनुष्यों में श्रेष्ठ जनों में अग्रगण्य श्रीवसुदेवजी के घर में अवतीर्ण होकर यदि उनके कुलोचित कर्मों का सदा सजग रहकर न आचरण करूँ तो जो अल्पज्ञ तथा उत्तम पुरुष मुझ श्रेष्ठजनाग्रणी वसुदेवनन्दन के मार्ग का, सब प्रकार से "यही धर्म है" ऐसा मानकर अनुसरण करते हैं, वे भी मेरी देखा-देखी अपने कर्तव्य का अनुष्ठान न करने के कारण कर्मत्यागजनित पाप से आत्मा को न पाकर नरकगामी हो जाएँ।"[2]

---

1. श्रीमद्भगवद्गीता 3.2
2. वही, रामानुज-भाष्य, पृ. 114.

स्पष्ट है कि भगवान अपनी इच्छा से ही कर्म में प्रवृत्त होते हैं हालाँकि इसके पीछे लोकरक्षा की चिन्ता है। ~~हम देख चुके हैं कि~~ लोकरक्षा तथा लोकहित के लिए भगवान का अवतार होता है। कोई अवतार कर्मरहित नहीं है। जब भगवान अवतार लेते हैं तो कर्म करते हैं और पूरी स्वच्छंदता के साथ अपनी इच्छा से कर्म करते हैं। यही लीला है।

"छांदोग्योपनिषद्" में कहा गया है कि सृष्टि का मूल कारण है एक से अनेक होने की ईश्वर की इच्छा -- "एकोऽहं बहुस्याम्।"[1] ऐसा किसी आवश्यकता के करण या किसी मजबूरी के कारण नहीं हुआ। ऐसा हुआ ईश्वर की मौज के कारण, उनकी इच्छा के कारण। एक ईश्वर ने अपने को असंख्य रूपों में, नाना जीव योनियों में प्रकट कर लिया। माना गया कि सृष्टि के पूर्व सिर्फ़ ईश्वर ही थे और एक ऐसा भी समय आएगा जब सब कुछ नष्ट हो जाएगा, सिर्फ़ वही बचे रहेंगे। उन्होंने ही अपने को अनेक रूपों में व्यक्त कर रखा है। सूरदास भी यही कहते हैं ---

पहिले हौं ही हो तब एक ।
अमल, अकल, अज, भेद-बिवर्जित सुनि बिधि बिमल बिवेक ।
सो हौं एक अनेक भाँति करि सोभित नाना भेष ।
ता पाछैं इन गुननि गए तैं हौं रहि हौं अवसेष ।।[2]

औपनिषदिक साहित्य तथा "ब्रह्मसूत्र" में सृष्टि-संबंधी आनन्दवादी विचारधारा से लीला का संबंध सहज ही जुड़ जाता है, बल्कि कहना चाहिए कि वहीं लीला सिद्धांत की बुनियाद है।

- -

1. छांदोग्योपनिषद्, ई 2/3.
2. सूरसागर, पद 381.

"तैत्तिरीयोपनिषद्" में ब्रह्म को आनन्दरूप माना गया है और बताया गया है कि आनन्द से ही सब जीवों की सृष्टि होती है और अंत में सब आनन्द में ही लीन हो जाते हैं ---- "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् ।.....आनन्देन जातानि जीवन्ति।"[1] इसी उपनिषद् में अन्यत्र कहा गया है कि भगवान रसरूप हैं। न सिर्फ़ यह कि वे रसरूप हैं, बल्कि रस पाकर ही वह आनन्दी होते हैं। स्वयं रसरूप होकर भी वे रस के चाहक हैं। स्वयं आनन्दरूप होकर भी रस मिलने पर ही वे आनन्दी होते हैं। यह विरोधाभास है, लेकिन भक्ति के क्षेत्र में यह एक अनुभवसम्मत बात मानी जाती है। "तैत्तिरीयोपनिषद्" के अनुसार ---

"रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति ।"[2]

वस्तुतः इसका व्यापक प्रभाव परवर्ती भक्ति साहित्य पर पड़ा विशेषकर भक्तों की लीला-संबंधी अवधारणा पर। इस दृष्टि से "ब्रह्मसूत्र" के दो प्रसिद्ध सूत्रों का भी असाधारण महत्व है। पूर्ववर्ती सूत्र में हाथ-पैर आदि इन्द्रियों से रहित होने पर भी परमात्मा को सर्वशक्तिमान बताया गया है तथा उसे संसार का कारण माना गया है। इस पर शंका उपस्थित करते हुए कहा गया ---

"न प्रयोजनवत्वात्।"[3]

अर्थात् परमात्मा जगत का कारण नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्येक कार्य किसी-न-किसी प्रयोजन से युक्त होता है और परमात्मा पूर्णकाम होने के कारण प्रयोजनरहित है। बिना किसी प्रयोजन के कोई कर्म नहीं करता।

---

1. तैत्तिरीयोपनिषद् 3.6
2. वही, 2.7.
3. ब्रह्मसूत्र 2.1.32.

इसलिए परमात्मा को जगत् का कर्ता नहीं मानना चाहिए। उक्त सूत्र में व्यक्त शंका का उत्तर देते हुए ठीक बाद वाले सूत्र में कहा गया है ----

"लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्।"[1]

अर्थात् परब्रह्म परमेश्वर का जगत् के सृजन में प्रवृत्त होना केवल लीला है। लोक में आप्तकाम और वीतराग पुरुष बिना किसी प्रयोजन के संसार के लिए हितकारक कर्म स्वभावतः करते हैं। निःस्वार्थ होकर सिर्फ अपनी इच्छा से कर्म करने वाले व्यक्तियों की तरह ही परमेश्वर का भी जगत् की रचना आदि कर्मों में तथा मनुष्यादि अवतार ग्रहण करके नाना प्रकार के लोकहितकारी कर्मों में अपना कोई प्रयोजन नहीं है। इन कर्मों में उनके कर्ता होने का अभिमान नहीं है, किसी तरह की आसक्ति नहीं है। इसलिए स्पष्ट है कि उनके कर्म लीलामात्र हैं। सर्वशक्तिमान परमेश्वर जगत् की रचना आदि जैसे महान कार्य खेल-खेल में ही करते हैं ---- बिना किसी प्रयोजन के। कहने की आवश्यकता नहीं कि "ब्रह्मसूत्र" का उपर्युक्त सूत्र लीला -- निष्प्रयोजन लीला -- को मजबूत सैद्धान्तिक आधार पर प्रतिष्ठित करता है, लीला की निष्प्रयोजनता की सार्थक व्याख्या करता है।

आगे चलकर "विष्णु पुराण" तथा "भागवत पुराण" में लीला-संबंधी उक्त अवधारणा को बल मिलता है। वहाँ इसे व्यापक फलक पर प्रतिष्ठित किया गया है। "विष्णु पुराण में विष्णु के अवतार के साथ ही उनकी लीला की चर्चा है। वहाँ पृथ्वी पर कृष्ण के सारे कार्यों

---

1. ब्रह्म-सूत्र 2.1.33

को लीला कहा गया है। "विष्णु पुराण" में कृष्ण के ऐसे अनेक कार्यों का वर्णन है जो वे यों ही करते हैं सिर्फ मौज में। गाय दुहने के समय उसकी पूंछ उमेठना जिससे वह न दुही जा सके, पड़ोस के घरों में घुसकर दूध-दही खाना, गोपियों को तंग करना, उनके साथ तरह-तरह की क्रीड़ा करना, माँ की आज्ञा न मानना आदि ऐसे ही कार्यों के उदाहरण हैं। सृष्टि की रचना, उसके पालन आदि को स्पष्ट रूप में विष्णु की लीला कहा गया है। प्रबंध के द्वितीय अध्याय में "विष्णु पुराण" में अवतारवाद के विवेचन के प्रसंग में इसकी चर्चा की जा चुकी है।

"भागवत पुराण" में लीला का सिद्धांत छाया हुआ है। वहाँ अवतार को लीलावतार कहा गया है और बताया गया है कि कृष्ण लीला के लिए ही बालक बने हुए हैं --- "क्रीडामनुज बालकः।"[1] वस्तुतः "भागवत" में अवतार और लीला अभिन्न हैं। "भागवत पुराण" के ग्यारहवें अध्याय में शुकदेवजी परीक्षित से कहते हैं ---

राजन परस्य तनुभृज्जननाप्ययेहा
माया विडम्बनमवेहि यथा नटस्य।[2]

अर्थात् "जैसे नट अनेक प्रकार के स्वांग बनाता है परंतु स्वयं उन सबसे निर्लेप रहता है, वैसे ही भगवान का मनुष्यों के समान जन्म लेना, लीला करना और फिर उसे संवरण कर लेना उसकी माया का विलासमात्र है, अभिनयमात्र है।" सूर, तुलसी आदि कवियों के काव्य में इसकी अनुगूंज जगह-जगह सुनाई पड़ती है। "भागवत" में साफ कहा गया है कि भगवान लीला से ही अवतार ग्रहण करते हैं ---

- -

1. भागवत पुराण, 10.8.36.

2. वही, 11.31.11.

"लीलया दधत: कला:।"[1]

ऐसा वे सिर्फ अपनी इच्छा से करते हैं और उनकी लीला अमोघ है। लीला से ही वे संसार का सृजन, पालन तथा संहार करते हैं, किन्तु इसमें आसक्त नहीं होते)---

स वा इदं विश्वममोघलील:
सृजत्यवत्यत्ति न सज्जतेऽस्मिन् ।।[2]

"भागवत" में निष्काम भक्ति अर्थात् कामनारहित भक्ति की महिमा का प्रतिपादन किया गया है। उस पर काफी जोर दिया गया है।

"भागवत पुराण" में निष्प्रयोजन लीला के समानान्तर ऐकान्तिक या निष्काम भक्ति का प्रतिपादन किया गया है। यह अत्यंत स्वाभाविक है । ईश्वर बिना किसी स्वार्थ के, बिना किसी प्रयोजन के लीला करते हैं, तो भला भक्त ही क्यों पीछे रहे। किसी विशेष प्रयोजन या विशेष स्वार्थ की सिद्धि के लिए की जाने वाली भक्ति सच्ची भक्ति नहीं मानी जा सकती। "भागवत" के ग्यारहवें स्कन्ध में भगवान कृष्ण उद्धव को बताते हैं कि मेरे ऐकान्तिक भक्त केवल भक्ति चाहते हैं और कुछ नहीं। श्लोक यथाप्रसंग उद्धृत किया जा चुका है। कहने की आवश्यकता नहीं कि भक्तिकाल के हिन्दी साहित्य में ऐकान्तिक भक्ति का स्वर अत्यंत प्रबल रहा है। सभी भक्त कवियों ने उसका महत्व स्वीकार किया है। उन्होंने भक्ति के आगे मोक्ष तक को ठुकराने का साहस दिखलाया है।

"भागवत पुराण" ही नहीं, सूरदास का काव्य भी भगवान की लीला की निष्प्रयोजनता को रेखांकित करता है। जैसी कि

- -

1. भागवत पुराण, 1.1.17.
2. वही, 1.3.36.

चर्चा की गई है निष्प्रयोजन लीला की परंपरा काफी पुरानी है। उपनिषद, ब्रह्मसूत्र, विष्णु पुराण, भागवत पुराण आदि से गुजरते हुए यह अवधारणा मध्यकाल में प्रवेश करती है। महाप्रभु वल्लभाचार्य भी इसे पूरी तरह स्वीकार करते हैं। उनके शब्दों में ---

"नहि लीलायाः किंचित्प्रयोजनमस्ति, लीला एव प्रयोजनत्वात्।"[1]

अर्थात् लीला का कोई प्रयोजन नहीं होता। लीला का प्रयोजन और कुछ नहीं स्वयं लीला ही है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में-- "लीला भगवान् के आनन्द-स्वरूप का प्रकाश है।"[2] स्पष्ट है कि रसरूप या आनन्द रूप भगवान की लीला से लोक में सर्वत्र आनन्द का प्रसार होता है, ऐसा माना गया है।

(वस्तुतः लीला खेल का दूसरा नाम है। खेल एक स्वैच्छिक क्रिया है। खेल का खेल के अलावा और कोई प्रयोजन नहीं होता, आनन्द के अलावा और कोई उद्देश्य नहीं होता। इस अर्थ में खेल एक अनुपयोगी कार्य है। खेल में बच्चे कल्पना द्वारा भौतिक संसार के अनुकरण पर लेकिन उससे भिन्न संसार की रचना करते हैं।) यहाँ कल्पना महत्वपूर्ण होती है हालाँकि जाहिर है कि वह बे सिर पैर की नहीं होती। (उसका आधार कहीं-न-कहीं यह समाज ही रहता है। लीला खेल ही है। सामान्य खेल से यह इस अर्थ में भिन्न है कि वह ईश्वर का खेल है। सामान्य मनुष्य खेले तो खेल और ईश्वर खेले तो लीला। बस, इतना ही अंतर है दोनों में।) खेल से मानवीय वृत्तियों का परिष्कार होता है। यह उसका प्रयोजन हो न हो, लेकिन किसी-न-किसी रूप में उसका परिणाम तो है ही —

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी की पुस्तक "कबीर" में उद्धृत, पृ. 153
2. कबीर, पृ. 153.

भले ही इसे खेल का "बाइ प्रोडक्ट" ही क्यों न माना जाए। उसी प्रकार ईश्वर की लीला का प्रयोजन लीला ही क्यों न हो, उनके अवतार का प्रयोजन अपनी लीला का विस्तार ही क्यों न हो, लेकिन उसका परिणाम है लोकहित,लोकरक्षा आदि।

जहाँ तक लीला के भेदों का संबंध है, स्पष्ट है कि प्रयोजन की दृष्टि से उसके दो भेद हैं निष्प्रयोजन लीला तथा सप्रयोजन लीला। निष्प्रयोजन लीला की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। सप्रयोजन या प्रयोजनमूलक लीला की स्थिति इसके ठीक विपरीत है। जहाँ किसी खास प्रयोजन की सिद्धि के लिए ईश्वर का अवतार होता है तथा वे लीला करते हैं, वहाँ लीला सप्रयोजन मानी जाएगी। "गीता" में धर्म की स्थापना, सज्जनों के परित्राणादि के निमित्त ईश्वर के अवतरित होने और प्रकारांतर से इस हेतु विभिन्न तरह की लीला करने की जो घोषणा की गई है, वहाँ सप्रयोजन लीला की स्थिति मानी जानी चाहिए। यहाँ उल्लेखनीय है कि तुलसीदास के काव्य में सप्रयोजन लीला की प्रधानता है और सूरदास के काव्य में निष्प्रयोजन लीला की। आगे इसका विवेचन किया जाएगा।

एक अन्य दृष्टि से लीला दो प्रकार की मानी गई है -- प्रकट तथा अप्रकट। अवतार रूप में इस लोक में की जाने वाली लीला प्रकट लीला है। गोलोक या अक्षर लोक में होने वाली नित्य लीला अप्रकट लीला है। कहने की आवश्यकता नहीं कि भक्तिकाव्य में प्रकट लीला की प्रधानता है, उसकी महत्ता है। अप्रकट लीला को कोई विशेष महत्व नहीं दिया गया है। हालाँकि अनेकत्र उसकी चर्चा की गई है। प्रकट लीला को कुंज लीला तथा अप्रकट लीला को निकुंज लीला की संज्ञा भी दी गई है।

संभव है कि अन्य दृष्टियों से लीला के और भी भेद किए गए हों, लेकिन एक बात साफ है कि लीला का केन्द्रीय तत्व है प्रेम। इसके अभाव में लीला नहीं हो सकती। लीला का प्रेम से इतना गहरा संबंध है कि भक्त कवियों की लीला-अवधारणा को प्रेम-लीला की संज्ञा दी गई है और यह प्रेमलीला भक्त कवियों की कविता का केन्द्रीय तत्व है। मध्ययुग के वैष्णव भक्त विश्वनाथ चक्रवर्ती ने प्रेम को पाँचवां पुरुषार्थ घोषित करते हुए कहा -- "प्रेमा: पुमर्थो महान।" वस्तुत: भक्तिकाव्य में प्रेम को पाँचवाँ पुरुषार्थ ही नहीं सबसे बड़ा पुरुषार्थ भी माना गया। प्रेम या भक्ति के आगे धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष फीके माने गए। अपनी पुस्तक "सूर-साहित्य" में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी आचार्यों द्वारा किये गये प्रेम के वर्गीकरण का संकेत करने के बाद उसके औचित्य पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए उसे अस्वीकार करते हैं। उनके शब्दों में "वस्तुत: प्रेम का भेद नहीं किया जा सकता।"[1] जैसा कि चर्चा की जा चुकी है, लीला प्रेममूला है, आनन्दमूला है। सच पूछा जाय तो प्रेम के समान ही लीला का वर्गीकरण भी नहीं किया जा सकता, उसके औचित्य को स्वीकार नहीं किया जा सकता। दुनिया भर के भेदोपभेद की भूलभुलैया में भटकने से लीला के वास्तविक सौन्दर्य के उद्घाटन में कोई सहायता मिल पाएगी, इसमें पूरा संदेह है। अत: इस प्रसंग को यहीं समाप्त कर आगे भक्तिकालीन रामभक्ति-काव्य तथा कृष्णभक्तिकाव्य में चित्रित राम-कृष्ण की लीलाओं के सामाजिक संदर्भ की पड़ताल का प्रयास किया जा रहा है।

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी : सूर-साहित्य, पृ.47

4.2 रामभक्ति साहित्य में लीला : सामाजिक संदर्भ

यदि कहा जाय कि भक्तिकालीन रामभक्ति साहित्य पर महाकवि तुलसीदास का एकाधिपत्य है तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। "रामचरितमानस" तथा "विनयपत्रिका" जैसे कालजयी काव्य-ग्रंथों के सामने राम विषयक अन्य रचनाएँ ठहर नहीं पातीं। भारतीय समाज पर सर्वाधिक प्रभाव उन्हीं के ग्रंथों का पड़ा है। तुलसीदास के साहित्य में प्रतिपादित रामभक्ति का स्वरूप ही न केवल लोकग्राह्य हुआ बल्कि टिकाऊ भी। कथा का आधार रहने के कारण लीला की अवधारणा की व्यापक उपस्थिति नहीं मिलती है। अतः रामभक्ति साहित्य में लीला के सामाजिक संदर्भ की पड़ताल तुलसीदास के साहित्य को केन्द्र में रखकर करने की कोशिश की जा रही है।

कुछ विद्वानों का विचार है कि रामभक्ति साहित्य में लीला की अवधारणा नहीं मिलती है — कम-से-कम उस रूप मेंनहीं जिस रूप में कृष्णभक्ति साहित्य में मिलती है। डॉ. कपिलदेव पाण्डेय के शब्दों में---

"रामावतार के संबंध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि राम आदि से अंत तक मर्यादापालक राजाराम हैं। ब्रज के लीला पुरुषोत्तम कृष्ण के समान इनके अवतारत्व में कोई ऐसी लीला नहीं प्रतीत होती।"[1]

"ऐसी लीला" से साफ हो जाता है कि किसी विशेष तरह की लीला की बात की जा रही है। इशारा कृष्णभक्ति साहित्य में चित्रित कृष्ण की स्वच्छन्द लीलाओं की ओर है। वस्तुतः रामावतार तथा कृष्णावतार की मिथक-कथाओं की अपनी-अपनी विशेषताएँ और अपनी-अपनी जरूरतें हैं।

- -

1. कपिलदेव पाण्डेय : मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ. 502

और लीला कोई संकुचित अवधारणा नहीं कि सर्वत्र उसका स्वरूप एक जैसा ही हो। तुलसी के साहित्य में लीला का सिद्धांत है और कुछ है। स्पष्ट ही अपनी विशेषताओं के साथ।

तुलसी के साहित्य में "चरित" शब्द का अधिक प्रयोग मिलता है। यह चरित और कुछ नहीं लीला है। तुलसीदास के अनुसार विश्वरूप भगवान अवतार लेकर नाना प्रकार की लीला करते हैं ---

व्यापक बिस्वरूप भगवाना । तेहिं धर देह चरित कृत नाना ।।
सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी।।[1]

स्पष्ट ही यहाँ "चरित" शब्द लीला के अर्थ में आया है। भगवान लीला क्यों करते हैं ? भक्तों के हित के लिए परम कृपालु और परम अनुरागी भगवान लीला करते हैं। भक्तों के प्रति अनुराग या प्रेम सबसे महत्वपूर्ण चीज़ है। जाहिर है कि अगर ईश्वर में भक्तों के प्रति प्रेम नहीं होता तो उन्हें लीला करने का कोई प्रयोजन न होता। प्रेम ही भक्त को भगवान से और भगवान को भक्त से जोड़ता है।

तुलसीदास के अनुसार राम "कौतुकनिधि" अर्थात् लीलाओं के भंडार है -- कौतुकनिधि कृपाल भगवाना।[2]

स्पष्ट है कि लीलाओं के भंडार राम की लीला-कथा का वर्णन कोई आसान काम नहीं। यही कारण है कि रामावतार की लीला-कथा का कवियों ने अनेक प्रकार से वर्णन किया है ---

प्रति अवतार कथा प्रभु केरी। सुनु मुनि बरनी कबिन्ह घनेरी।।[3]

---

1. रामचरितमानस, बालकांड 13.2-3.
2. वही, 124.1
3. वही, 124.4

जैसा कि कहा जा चुका है लीला की अवधारणा अवतार की अवधारणा से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। तुलसीदास का मत है कि राम जब-जब अवतार लेते हैं, तो लीला करते हैं -- नाना प्रकार की लीला करते हैं। उनके शब्दों में ---

कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं । चारु चरित नानाविध करहीं।।[1]

तुलसी अपने लीलामय प्रभु की सुन्दर और मनोहर लीलाओं का वर्णन करने में थकते नहीं। उनका मानना है कि राम की बहुविध लीलाओं का गान संभव नहीं है। एक क्या करोड़ों युगों में भी नहीं ---

रामचंद्र के चरित सुहाए। कलप कोटि लगि जाहिं न गाए।।[2]

ऐसी हैं राम की लीलाएँ ।

ध्यान देने की बात है कि तुलसीदास मानते हैं कि राम मूलतः सर्वशक्तिमान निर्गुण ब्रह्म ही हैं और उन्होंने भक्तों के कल्याण के लिए अवतार लिया है। लेकिन जहाँ भी लीला की बात आई है, तुलसी ने इस बात पर बल दिया है कि यह लीला सगुण की है, निर्गुण की नहीं। असल में अवतार की भित्ति पर ही लीला की अवधारणा अवस्थित है, निर्गुण ब्रह्म की लीला की कोई बुनियाद नहीं। तुलसी "लीला सगुन" को रेखांकित करते हुए कहते हैं ---

लीला सगुन जो कहहिं बखानी। सोइ स्वच्छता करइ मल हानी।।
प्रेम भगति जो बरनि न जाई। सोइ मधुरता सुसीतलताई।।[3]

अर्थात् सगुण लीला का वर्णन ही राम-सुयश रूपी जल की निर्मलता है और वह मल का नाश करता है। अवर्णनीय प्रेमा भक्ति ही इस जल की मधुरता और शीतलता है। स्पष्ट है कि राम की लीला जिस मल को नष्ट करती

- -

1. रामचरितमानस,बाल140. 2
2. वही, 140. 6
3. वही, बालकांड 36. 5-6.

है, वह किसी अन्य लोक और अन्य युग का मल नहीं बल्कि इसी लोक और कलियुग का मल है। स्वयं तुलसी के अनुसार ---

मंगल करनि कलिमल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।[1]

कहने की आवश्यकता नहीं कि तुलसीदास राम की लीला का संबंध कलियुग से जोड़ते हैं। जैसा कि पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं तुलसी का कलियुग और कुछ नहीं, स्वयं उनका समकालीन समाज था — मध्यकाल का सामंती समाज।

तुलसीदास के अनुसार राम की लीला नट के खेल के समान है। जिस प्रकार नट अनेक तरह के वेष धारण करके नृत्य करता है, जैसा वेष वह धारण करता है उसी के अनुकूल भाव का प्रदर्शन करता है, उसी के अनुकूल खेल का प्रदर्शन करता है, लेकिन वह स्वयं उनमें से कोई नहीं हो जाता, उसी प्रकार की बात राम के साथ भी है। वे विभिन्न कारणों से विभिन्न तरह की लीलाएँ करते हैं, लेकिन उनका वास्तविक चरित्र अपनी जगह रहता है। उसमें किसी प्रकार का फर्क नहीं पड़ता। "मानस" के उत्तरकांड में काकभुशुण्डि गरुड़ से कहते हैं ---

जथा अनेक वेष धरि नृत्य करइ नट कोइ ।
सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ ।।
असि रघुपति लीला उरगारी। दनुज बिमोहनि जन सुखकारी।।
जे मति मलिन विषयबस कामी। प्रभु पर मोह धरहिं इमि स्वामी।[2]

काकभुशुण्डि के अनुसार राम की यह लीला भक्तों को सुख देने वाली है और राक्षसादि को मोहग्रस्त करने वाली। साथ ही जो लोग मंदबुद्धि तथा

- -

1. रामचरित मानस, 10 छन्द.
2. वही, उत्तरकांड 72ख, 73.1-2.

विषय-वासना के वशीभूत हैं, कामी हैं वे भी लीला के रहस्य को नहीं समझ पाते हैं और प्रभु पर मोह का आरोप करते हैं। बालकांड में शंकर पार्वती से यही बात कहते हैं ---

गिरिजा सुनहु राम कै लीला। सुर हित दनुज बिमोहनसीला।।[1]

एक अन्य प्रसंग में भी तुलसी ने लिखा है ---

राम देखि सुनि चरित तुम्हारे । जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे।।[2]

तुलसीदास के राम "ललित नर लीला" करते हैं। "रामचरितमानस" के अरण्यकांड के सीताहरण के पूर्व के प्रसंग में लक्ष्मण के कंद-मूल-फल आदि लाने के लिए बन में जाने के बाद राम हँसकर सीता से कहते हैं ---

सुनहु प्रिया ब्रत रुचिर सुसीला। मैं कछु करब ललित नरलीला।।
तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा। जौ लगि करौं निसाचर नासा।।[3]

अर्थात् मैं अब कुछ मनोहर नरलीला करूँगा। जब तक मैं राक्षसों का नाश करूँ तब तक तुम अग्नि में निवास करो। राम के निर्देश के अनुसार सीता प्रभुचरणों को अपने हृदय में बसाकर अग्नि में प्रवेश कर जाती हैं। वे अपनी जगह अपनी छायामूर्ति वहाँ रख देती हैं जो सब तरह से उन्हीं के समान दिखती है ---

जबहिं राम सब कहा बखानी। प्रभु पद धरि हिय अनल समानी।।
निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता।तैसइ सील रूप सुबिनीता।।[4]

इस प्रकार जो सीता राम के साथ रह गईं वह असली नहीं। कहने की

---

1. रामचरित-मानस, बालकांड ।13.7
2. वही, अयोध्याकांड ।27.7
3. वही, अरण्यकांड 24.1-2
4. वही, 24.3-4

आवश्यकता नहीं कि लीला की "सौन्दर्यात्मक तकनीक" के कारण तुलसीदास इस प्रसंग का आयोजन करते हैं। वाल्मीकि-कृत "रामायण" में यह नहीं है। चूँकि राम लीला कर रहे हैं, इसलिए इस तरह की बात उनके मन में आती है। लीला खेल ही है। उसमें मौज-मस्ती का भाव अनिवार्यतः रहता है।

इसी प्रसंग में एक बात विचारणीय है। "रामचरितमानस" से गुजरते हुए एक बात लक्ष्य किए बिना हम नहीं रहते। वह यह कि तुलसीदास जगह-जगह इस बात का संकेत करते चलते हैं कि यह राम की लीला है — इस या उस कारण राम लीला कर रहे हैं। इस संदर्भ में पहली बात तो यह कि तुलसी कवि होने के साथ-साथ भक्त भी हैं। उन्हें बराबर यह ध्यान बना रहता है कि उनके भक्त के राम परमेश्वर हैं और उनके कवि के राम उनके लीला-संस्करण हैं। दूसरी बात की ओर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ध्यान दिलाया है। उनके शब्दों में ---

"रामचरितमानस की कथा के वक्ता तीन हैं ---- शिव, याज्ञवल्क्य और काकभुशुंडि। श्रोता हैं पार्वती, भरद्वाज और गरुड़। इन तीनों श्रोताओं ने अपना मोह प्रकट किया है कि राम मनुष्य तो नहीं हैं। तीनों वक्ता जो कथा कह रहे हैं, वह इसी मोह को छुड़ाने के लिए। इसलिए कथा के बीच-बीच में याद दिलाते जाना बहुत उचित है।...... रामचरितमानस एक प्रबंधकाव्य है, जिसमें कथा का प्रवाह अनेक घटनाओं पर से होता हुआ लगातार चला चलता है। इस दशा में कथाप्रवाह में मग्न पाठक या श्रोता को असल बात की ओर ध्यान दिलाते रहने की आवश्यकता समय-समय पर उस कवि को अवश्य मालूम होगी, जो नायक को ईश्वरावतार के रूप में ही दिखाना चाहता है। फुटकल पद्यों में इसकी आवश्यकता न प्रतीत होगी।"[1]

1. रामचन्द्र शुक्ल : गोस्वामी तुलसीदास, पृ. 16

इस प्रकार तुलसीदास द्वारा जगह-जगह ईश्वर की नरलीला की चर्चा का संबंध न सिर्फ "मानस" के कथ्य बल्कि उसके रूप से भी है।

वास्तव में लीला की "सौन्दर्यात्मक तकनीक" के द्वारा तुलसीदास रामकथा को न सिर्फ गतिशील बनाते हैं बल्कि मनोहर भी। "मानस" के उत्तरकांड में गरूड़-प्रसंग की चर्चा से यह और स्पष्ट होगा। शंकर पार्वती को गरूड़ के काकभुशुंडि के पास जाने का प्रसंग सुनाते हैं। युद्धभूमि में मेघनाद के हाथों राम के बंध जाने पर नारद उस नागपाश को काटने के लिए गरूड़ को भेजते हैं। नागपाश से राम को मुक्त करने के बाद गरूड़ मोह में पड़ जाते हैं। वे सोचते हैं कि मैंने राम के प्रभाव का जैसा वर्णन सुना था, वैसा कुछ नहीं पाया। राम कैसे परमेश्वर हैं कि तुच्छ नागपाश से बँध गए, विवश हो गए। जाहिर है कि गरूड़ का अहंकार जोर मारता है और इसके चलते वे अपना विवेक खोकर संशयग्रस्त, मोहग्रस्त हो जाते हैं। अपने संशयग्रस्त मन के साथ गरूड़ नारद, ब्रह्मा आदि के पास जाते हैं लेकिन कोई फायदा नहीं होता। फिर शंकर के निर्देशानुसार वे काकभुशुंडि के पास जाकर हरिकथा सुनते हैं और संशयमुक्त होते हैं। गरूड़ कहते हैं ---

देखि चरित अति नर अनुसारी । भयउ हृदय मम संसय भारी।।
सोइ भ्रम अब हित करि मैं माना। कीन्ह अनुग्रह कृपानिधाना।।[1]

इसके बाद काकभुशुंडि और गरूड़ का बेजोड़ संवाद आता है, जिसके माध्यम से कवि तुलसीदास मानव-जीवन की विभिन्न सचाइयाँ प्रस्तुत करते हैं और उनपर अपने मत व्यक्त करते हैं।

तुलसीदास काकभुशुंडि से कहलवाते हैं ---

---

1. रामचरितमानस, उत्तरकांड 69.1-2

नारद भाव विरंचि सनकादी। जे मुनिनायक आतमबादी ।।
मोह न अंध कीन्ह केहि केही। को जग काम नचाव न जेही।।
तृस्ना केहि न कीन्ह बौराहा । केहि कर हृदय क्रोध नहिं दाहा।।
ग्यानी तापस सूर कबि कोबिद गुन आगार ।
केहि कै लोभ बिडंबना कीन्हि न एहिं संसार ।।
श्रीमद बक्र न कीन्ह केहि प्रभुता बधिर न काहि ।
मृगलोचनि के नैन सर को अस लाग न जाहि ।।[1]

अर्थात् नारद, शंकर, ब्रह्मा, सनकादि के समान आत्मतत्व के मर्मज्ञ तथा श्रेष्ठ मुनिजन में से कौन ऐसा है जिसे मोह ने अंधा नहीं बनाया अर्थात् विवेकशून्य नहीं बनाया? संसार में ऐसा कौन है जिसे काम ने न नचाया हो? तृष्णा ने किसे मतवाला नहीं बनाया? क्रोध ने किसका हृदय नहीं जलाया ? ऐसा कौन है, लोभ ने जिसकी मिट्टी पलीद न की हो ? लक्ष्मी के मद अर्थात् धन के मद ने किसको टेढ़ा और प्रभुता ने किसको बहरा नहीं किया है ? कौन ऐसा है जिसे मृगनयनी के नेत्र-बाण न लगे हों ? आदि-आदि।

असल में ये सब मनुष्य-जीवन की कटु सचाइयाँ हैं जिन्हें झुठलाया नहीं जा सकता। मनुष्य जीवन भर इनके घेरे में ही बद्ध रहता है, उससे निकल नहीं पाता और स्वभावतः कष्ट भोगता है, कारुणिक परिणति को प्राप्त करता है। मनुष्य इन सबसे बुरी तरह घिरा है, इन्हीं में लिप्त है -- यह बोध तुलसी को अपने समाज से प्राप्त हुआ था। मध्यकाल के शोषणमूलक सामंती समाज में तृष्णा, लोभ, काम, अहंकार, प्रभुता के अधिकतर शिकार कौन रहे होंगे, यह कहने की आवश्यकता नहीं, हालाँकि इनका फंदा तो सब पर पड़ता है। कवि तुलसीदास मनुष्य के जीवन को पतनशील और कष्टमय बनाने वाली इन प्रवृत्तियों के शमन का जो मार्ग सुझाते हैं, वह है भगवान की लीलाओं का चिंतन तथा मनन।

---

1. रामचरितमानस, उत्तरकांड 70 क. 6-8, 70 ख.

लीला के सिद्धान्त के द्वारा वे इस समस्या को हल करने की पेशकश करते हैं। समस्या सिर्फ मध्यकाल की है, ऐसी बात नहीं है। हाँ, उसका समाधान अवश्य मध्यकाल के कविमानस -- जागरूक कविमानस -- की देन है।

इस संदर्भ में राम द्वारा नारद के मोहभंजन का प्रसंग महत्वपूर्ण है। नारद के मन में अहंकार उत्पन्न होता है। राम नारद के हितकारी हैं। वे उनका अनिष्ट नहीं चाहते। अतः वे सोचते हैं ---

मुनिकर हित मम कौतुक होई। अवसि उपाय करबि मैं सोई ।।[1]

राम ऐसा उपाय करते हैं जिससे नारद का कल्याण हो। लेकिन राम के लिए वह कौतुक है, लीला है। कामविवश नारद की जो दुर्गति होती है, वह अतिपरिचित प्रसंग है। राम की लीला के कारण नारद बंदर का मुख प्राप्त करते हैं। राम इसी तरह उनकी सहायता करते हैं, उनका भला करते हैं। तुलसी के शब्दों में ---

मुनि हित कारन कृपानिधाना। दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना ।।[2]

लीला में राम को आनन्द होता है, लेकिन भक्त का हित। जाहिर है कि लीला की अवधारणा के माध्यम से तुलसीदास मनुष्य के कल्याण का आयोजन करते हैं।

तुलसीदास इस बात को बार-बार रेखांकित करते हैं कि राम लीलाधर हैं। रामावतार और लीला में अभिन्न संबंध है। उनके अनुसार ---

जब जब राम मनुज तन धरहीं। भक्त हेतु लीला बहु करहीं।।[3]

स्पष्ट ही लीला अवतार के साथ ही जुड़ी है। "भागवत पुराण" में अवतार और लीला का यही संबंध बताया गया है। तुलसीदास ने "नाना पुराण निगमागमसम्मत" रामचरित की घोषणा की है। किन्तु उन्होंने मुख्य आधार

- -

1. रामचरितमानस, बालकांड 129.6
2. वही, 133.7
3. वही, उत्तरकांड 75.2

"रामायण" को बनाया है। कथा का अधिकांश वहीं से लिया है। अतः वाल्मीकि की वंदना स्वाभाविक है। लेकिन तुलसी "व्यास आदि कबि पुंगव"[1] की वंदना करना न भूले जिन्होंने हरिलीला का वर्णन किया है। असल में लीला की अवधारणा तुलसीदास को सबसे अधिक "भागवत पुराण" में मिली और वहीं से उन्होंने इसे ग्रहण किया। दुहराने की आवश्यकता नहीं कि जिस प्रकार "भागवत" में बार-बार यह सवाल किया गया है कि निर्गुण होकर भी परमात्मा अवतार कैसे लेते हैं, लीला कैसे करते हैं, उनकी लीला का रहस्य क्या है आदि, उसी प्रकार तुलसी के "रामचरितमानस" में भी। स्पष्ट ही लीला की अवधारणा कवि तुलसी ने मुख्यतया "भागवत" से ली है। "मानस" में इसके प्रमाणों की कमी नहीं।

तुलसी के रामकाव्य में लीला की अवधारणा मुख्यतया सप्रयोजन है। निष्प्रयोजन लीला की चर्चा न मिलती हो, ऐसी बात नहीं है। तुलसी भी राम के संदर्भ में "निज इच्छा निर्मित तनु" की बात करते हैं। लेकिन साथ ही उसे जनहित से जोड़ना न भूलते हैं। राम प्रेमवश अवतार लेते हैं --- भक्तों के प्रेमवश और उसी के कारण लीला करते हैं। अतः भगवान या राम के संदर्भ में लीला निष्प्रयोजन या हेतुरहित मानी जा सकती है क्योंकि इससे स्वयं उनका कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। लेकिन जैसे ही यह जन से जुड़ती है, भक्त से जुड़ती है, वैसे ही सप्रयोजन हो जाती है क्योंकि वहाँ भक्त के कल्याण की बात आ जाती है, उसकी रक्षा की बात आ जाती है।

राम की लीला का संबंध लोक से है, जनता से है। कहने की आवश्यकता नहीं कि जिस लीला में लोकमंगल की बात की गई हो, उसका लोक से कितना गहरा संबंध है। तुलसी का अपने समकालीन लोकजीवन से गहरा परिचय था, उससे गहरा रागात्मक संबंध था। अपने युग के शोषित-पीड़ित

---

1. रामचरितमानस, बालकांड 14.2.

व्यापक जनसमुदाय के प्रति उनमें अपार करुणा और सहानुभूति थी। उन्होंने जनता के दुःख-दर्द को अपनी रचनाओं में जगह-जगह अभिव्यक्त किया और उसके खात्मे की कामना की। पिछले अध्याय में राम-मिथक के सामाजिक संदर्भ की पड़ताल के प्रसंग में इस संबंध में विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। यहाँ लीला-प्रसंग में उसकी चर्चा की जा रही है।

तुलसीदास बेहद जागरूक कवि हैं, सावधान कवि हैं। बहुत ही सावधानी से वे राम की लीला-कथा को उठाते हैं और उसे अपनी युगीन प्रासंगिकता के बीच स्वीकार करते हैं। राम के मिथकीय चरित्र में कई युगों की सामाजिक चेतना जुड़ी रही है क्योंकि राम का मिथक तुलसी के युग से बहुत पहले से चला आ रहा था। जाहिर है कि वह पूर्ववर्ती युगों की चेतना की रंगत लिए हुआ था। लेकिन जब तुलसी उसे स्वीकार करते हैं तो आँख मूँदकर नहीं बल्कि सब तरह से जाँच-परखकर, झाड़-पोंछकर स्वीकार करते हैं। राम के चरित्र से जुड़ी दो घटनाओं की छँटनी इसका ठोस प्रमाण है। वे घटनाएँ हैं शूद्र तपस्वी शम्बूक का राम द्वारा वध तथा सीता-परित्याग। कहना चाहिए के राम के मर्यादापुरुषोत्तम व्यक्तित्व पर लगे इन दो धब्बों को तुलसी ने स्वीकार नहीं किया। उनके लोकवादी और विवेकवादी मानस को किसी भी तरह ये उचित नहीं लगे। इसलिए उन्होंने ये दोनों प्रसंग छोड़ दिये। परंपरा से उपलब्ध रामकथा में से क्या ग्रहण करना है और क्या छोड़ना, इसकी स्पष्ट समझ तुलसीदास को थी। यह उनके अप्रतिम विवेक का सूचक है।

तुलसीदास की लीला की अवधारणा अत्यंत व्यापक थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है --

"राम की लीला के भीतर वे जगत् के सारे व्यवहार और जगत् के सारे व्यवहारों के भीतर राम की लीला देखते थे।।"[1] वस्तुतः यह लीला के सिद्धान्त की द्वन्द्वात्मकता है जिसकी ओर शुक्ल जी संकेत करते हैं। "मानस"

---

1. रामचंद्र शुक्ल : गोस्वामी तुलसीदास, पृ. 22.

के आरंभ में तुलसीदास जगत् को सियाराममय मानकर उसकी वंदना करते हैं---

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।।[1]

जो कवि संसार को क्षणभंगुर मानता हो उसे उसकी वंदना करने की क्या जरूरत होगी? तुलसीदास के साथ ऐसी बात नहीं है। वे संसार को पानी का बुलबुला नहीं मानते हैं। संसार असत्य नहीं है क्योंकि "जीव अविनाशी" बसते हैं। सच पूछा जाय तो रामावतार तथा राम की लीला में गहरी आस्था से ही तुलसीदास का यह दर्शन निर्मित हुआ है। जिस संसार में राम का अवतार हो, उनकी लीला हो, भला वह असत्य कैसे हो सकता है? क्षणभंगुर कैसे हो सकता है? कहने की आवश्यकता नहीं कि लीलासिद्धान्त में आस्था कवि में लोक के प्रति गहरी आस्था और गहरा विश्वास जगाती है।

मध्यकाल के पराजित और टूटे हुए मानस को राम के गतिशील मिथक के द्वारा, उनकी गहन लीला-कथा के द्वारा तुलसीदास झकझोरते हैं, जगाते हैं। वे उसमें आशा और विश्वास पैदा करने का सार्थक प्रयास करते हैं। चर्चा की जा चुकी है कि किस प्रकार राम दीन-दुःखी, शोषित पीड़ित लोगों का पक्ष लेते हैं, उन्हें अपना स्नेह देते हैं। वे गरीबों के सच्चे "गाहक" और "चाहक" हैं। वे "गरीबनेवाज" हैं, "दीनबंधु" हैं आदि। यह कोई आकस्मिक बात नहीं है कि "कवितावली" में कवि दरिद्रता रूपी रावण के नाश के लिए दीनबंधु राम से प्रार्थना करता है ---

दारिद - दसानन दबाई दुनी, दीनबंधु ।
दुरित - दहन देखि तुलसी हहा करी ।।[2]

तुलसी के राम लीलाएँ करते हैं ऐसे ही समाज में। रावण का नाश कहीं-न-कहीं मध्यकालीन भारतीय समाज के शोषक, अन्यायी सामंत वर्ग के नाश-संबंधी

- -

1. रामचरितमानस, बालकांड 8.2
2. कवितावली, उत्तरकांड 97.

कवि की तीव्र कामना का सूचक है, उसका प्रमाण है।

राम की लीला कृषि सभ्यता से जुड़ी हुई है। तुलसीदास भी उससे जुड़े हुए हैं। मध्यकालीन समाज का बहुसंख्यक किसान वर्ग सर्वाधिक शोषित और पीड़ित था। उस वर्ग की दारुण जीवन-स्थितियों का यथार्थ बोध तुलसीदास को था और उन्होंने अपने साहित्य में उनका मार्मिक चित्रण किया है, जिसकी सविस्तार चर्चा पिछले अध्याय में की गई है। राम की लीला कवि में गहरे प्रेम को जगाती है और उसे जनता के विशाल वर्ग से रागात्मक स्तर पर जोड़ती है। वह उनमें साहस का भाव जगाती है जिसके बल पर वे अपने ऊपर लगाये जाने वाले लांछनों का सामना करते हैं, प्रतिक्रियावादी ताकतों के आगे झुकते नहीं। उसी के बल पर वे साफ घोषणा करते हैं---

धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगार न सोऊ।
तुलसी सरनाम गुलामु है राम को, जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ।
माँगि कै खैबो, मसीत को सोइबो, लैबो को एक न दैबे को दोऊ।।[1]

तुलसीदास राम के दास हैं। जिसे जो मन में आए कहे। वे किसी की परवा नहीं करते। दासता स्वीकार करने पर -- मनुष्य की दासता स्वीकार करने पर -- आदमी बंध जाता है। उसकी अपनी कोई इच्छा नहीं रहती, उसकी कोई मर्जी नहीं चलती। लेकिन दासता यदि राम की हो तो क्या कहना! स्थिति उलट जाती है। राम का दास बनकर व्यक्ति व्यक्तित्ववान बनता है। तुलसी के साथ यही हुआ है। इसी के भरोसे वे सारे रूढ़िवादी, पोंगापंथी, दकियानूस लोगों से लोहा लेने को तैयार हैं। "माँगि कै खैबो,

---

1. कवितावली, उत्तरकांड 169.

मसीत को सोइबो" अर्थात् माँगकर खाने और मस्जिद में सोने की उनकी यह उद्घोषणा कितनी क्रांतिकारी है, कहने की आवश्यकता नहीं। प्रासंगिक तो वह है ही, बल्कि आज की स्थितियों में कुछ अधिक ही प्रासंगिक है। जो कवि यह मानता हो कि ---

कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगत पछिताना।। [1]

और इसीलिए बड़े-से-बड़े "प्राकृत जन" को घास न डालता हो, वह व्यक्ति अगर मस्जिद में सोने की बात करता हो तो आश्चर्य की बात नहीं। राम में अपार आस्था, उनकी लोकमंगलकारी लीला में भरपूर विश्वास ही तुलसी की शक्ति है। राम में सच्ची आस्था व्यक्ति को संकुचित नहीं बनाती, उसे सच्चा मनुष्य बनाती है, सही अर्थों में उसे "सेक्युलर" बनाती है क्योंकि राम के लिए वर्ण, जाति, धर्म की दीवारें बेमानी हैं, निरर्थक हैं। उनके लिए महत्वपूर्ण है प्रेम, केवल प्रेम -- "रामहि केवल प्रेमु पिआरा।"[2]

तुलसीदास के राम की लीलाएँ समाज में घटती हैं। उनके कार्यकलाप का क्षेत्र यही है। किन्तु आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी रामकाव्य में ऐहिक लीला की प्रधानता नहीं मानते हैं। उनके शब्दोंमें ---

"रामसाहित्य में ऐश्वर्य बोध की प्रबलता होने के कारण उसमें ऐहिक लीला का प्राधान्य हो ही नहीं सकता। गोस्वामी तुलसीदास के "रामचरित मानस" में इसीलिए हर प्रसंग पर भगवान के ऐश्वर्य रूप का स्मरण कर लिया जाता है।"[3]

"रामचरितमानस" में राम के ऐश्वर्य रूप या लीलावतारी रूप की जगह-जगह चर्चा के संबंध में पीछे विचार किया जा चुका है। द्विवेदी जी रामकाव्य में ऐश्वर्य लीला की प्रधानता मानते हैं, इसपर थोड़ा रुककर विचार करने की जरूरत है।

---

1. रामचरितमानस, बालकांड 11.7
2. रामचरितमानस, अयोध्याकांड 137.1
3. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, खंड 3, पृ.103

तुलसीदास ने लिखा है कि सीता और लक्ष्मण के साथ राम जिन गाँवों, नगरों से गुजरते थे, वे धन्य हो जाते थे। उनको देखकर नागों तथा देवताओं के नगर "सिहाते" थे, ईर्ष्या करते थे। तुलसी के शब्दों में ---

जे पुर गाँव बसहिं मग माहीं। तिन्हहि नाग सुर नगर सिहाहीं ।।
केहि सुकृतीं कहि परी बसाए । धन्य पुन्यमय परम सुहाए ।।
जहँ जहँ राम चरन चलि जाहीं । तिन्ह समान अमरावति नाहीं ।।
पुन्यपुंज मग निकट निवासी । तिन्हहि सराहहिं सुरपुरबासी ।।
जे भरि नयन बिलोकहिं रामहि । सीता लखन सहित घनस्यामहि ।।
जे सर सरित राम अवगाहहिं । तिन्हहि देव सर सरित सराहहिं ।।
जेहि तरु तर प्रभु बैठहिं जाई । करहिं कलपतरु तासु बड़ाई ।।
परसि राम पद पदुम परागा । मानत भूमि भूरि निज भागा।।[1]

राम इसी भूमि पर चले थे, यहीं के गाँवों से होकर गुजरे थे। वे जिधर से गुजरे उसको धन्य करते गये। जिन नदियों तथा तालाबों में राम ने स्नान किया था, वे इसी भूमि पर थे, इसी लोक में थे। अतः राम की लीलाओं में ज्यादा आध्यात्मिकता खोजने की कोई सार्थकता नहीं। आध्यात्मिकता एक सीमा तक ही है, वही महत्वपूर्ण नहीं है। महत्वपूर्ण है इसी संसार के बीच उनकी लीला। राम की लीला के व्यापक प्रभाव का ही परिणाम है कि जो-जो लोग उनके संपर्क में आते हैं या जो-जो प्राकृतिक उपादान उनके संपर्क में आते हैं, वे धन्य हो जाते हैं। उनका सौन्दर्य भी बढ़ जाता है। असल में लीला की चर्चा का अर्थ इसी लोक में ईश्वर की लीला है। इसी में अवतार की सार्थकता है। इस संबंध में डॉ. रामविलास शर्मा का मत है ---

"ईश्वर नरलीला न करे तो उसका अवतार लेना ही व्यर्थ हो। बैठा रहे बैकुंठ में, कोई भक्त उसका स्मरण क्यों करे ? उसके ईश्वरत्व की

- -

1. रामचरितमानस, अयोध्याकांड ।।3.1-8.

सार्थकता यह है कि साधारण जनों के बीच में रहकर अपनी लीला दिखाता है।"[1] यह बात बिल्कुल सही है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का भी विचार है कि "....राम और रावण की लड़ाई का मैदान यह दुनिया ही थी।"[2]

कहने की आवश्यकता नहीं कि तुलसीदास की लीला-संबंधी अवधारणा समाज से जुड़ी हुई है। समाज से जुड़कर ही वह महत्व प्राप्त करती है। वह इसी लोक की चीज़ है किसी "बेहददी मैदान" की नहीं।

लीला सिद्धांत व्यक्ति को व्यक्ति से, व्यक्ति को समूह से जोड़ता है। यह उसकी गहरी और महत्वपूर्ण सामाजिक भूमिका है। उसके अंतर्गत इतने तरह के संबंधों की कल्पना की गई है कि शायद ही ऐसा कोई संबंध हो बचा रह गया हो। आचार्य रामचंद्र शुक्ल को इस संबंध में कोई दुविधा नहीं है। उनका स्पष्ट मत है ---

"राम का नाता सारे संसार से नाता जोड़ता है, तोड़ता नहीं। लोकमंगल की प्रेरणा द्वारा भक्त अपने नेह का नाता संसार में निभाता हुआ राम से जोड़ने का प्रयत्न करता है। इस संबंध-निर्वाह में जो बाधक हों भक्त के लिए वे अवश्य त्याज्य हैं, चाहे वे अपने सुहृद और स्नेही परिजन ही क्यों न हों।"[3]

जाहिर है कि इस भक्तिमार्ग में संसार से विरक्ति के लिए कोई जगह नहीं है। इसमें सारा चराचर जगत ही राम की लीलाओं का क्षेत्र है, उनकी लीलाभूमि है। भगवान की लीला का प्रसाद जिसे मिलेगा, उनके प्रेम का अमृत तत्व जिसे मिलेगा, वह समाज में जरूरतमंद लोगों में अपनी दया और सहानुभूति का ही वितरण करेगा, घृणा का नहीं---ऐसा मानना अनौचित्यपूर्ण नहीं।

- -

1. रामविलास शर्मा : हिन्दी जाति का साहित्य, पृ.83
2. रामचंद्र शुक्ल : गोस्वामी तुलसीदास, पृ.104
3. रामचंद्र शुक्ल : चिन्तामणि, भाग-1, पृ.73

तुलसीदास के राम मानव-संबंधों से उदासीन न सकते हैं। वे उन्हें पर्याप्त महत्व देते हैं। माता-पिता, भाई, गुरु, सामान्यजन सबसे वे आत्मीय स्तर पर, सहज स्तर पर जुड़ते हैं। वे विभिन्न कथा-प्रसंगों में स्वाभाविक व्यवहार करते हैं मानवीय धरातल पर। उनके कार्यकलापों से जीवन के प्रति उनके स्वस्थ दृष्टिकोण का पता चलता है। इसीलिए मर्यादा पुरुषोत्तम होते हुए भी राम पुष्पवाटिका में "मदन-दुन्दुभी" सुन सके। रामकाव्य में जीवन की स्वीकृति मिलती है, इसमें संदेह नहीं। इसका श्रेय अवतार तथा लीला की अवधारणा को है।

सामाजिक जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं जिसमें राम की लीला न घटती हो, जहाँ तक उसकी पहुँच न हो। राम जीवन की हर परिस्थिति में उपस्थित हैं, चाहे वह सुख की हो या दुःख की। आचार्य शुक्ल के शब्दों में कहें तो राम "जीवन की प्रत्येक स्थिति में — खेलने-कूदने में, हँसने-रोने में, लड़ने-भिड़ने में, नाचने-गाने में, बालकों की क्रीड़ा में, दांपत्य प्रेम में, राज्यसंचालन में, आज्ञापालन में, आनंदोत्सव में, शोक-समाज में, सुख-दुःख में, घर में, संपत्ति में, विपत्ति में"[1] दिखाई पड़ते हैं। शुक्लजी के इस कथन में अतिशयोक्ति नहीं है। तुलसी के रामकाव्य में राम के व्यापक कार्यकलाप इसके प्रमाण हैं।

तुलसीदास राम की घर के बाहर की लीलाओं के वर्णन में खूब रमे हैं। सीता को राजमहल में बहुत सुख था, वहाँ किसी तरह का अभाव नहीं था। लेकिन सीता को जो सुख लोकसामान्य जीवन तथा प्रकृति के बीच मिला, वह घर में संभव नहीं था। सीता घर को भुलाकर सुख पाती है —

राम संग सिय रहति सुखारी । पुर परिजन गृह सुरति बिसारी ।।
छिनु छिनु पिय बिधु बदनु निहारी । प्रमुदित मनहुँ चकोर कुमारी ।।

---

1. रामचंद्र शुक्ल : गोस्वामी तुलसीदास, पृ. 28

नाह नेहु नित बढ़त बिलोकी। हरषित रहति दिवस जिमि कोकी।।
सिय मनु राम चरन अनुरागा । अवध सहस सम बनु प्रिय लागा ।।
परनकुटी प्रिय प्रियतम संगा। प्रिय परिवारु कुरंग बिहंगा ।।
सास ससुर सम मुनितिय मुनिबर । असनु अमिअ सम कंदमूल फर ।।[1]

राम और सीता चित्रकूट के इस परिवेश में काफी सुखी हैं -- विशेषकर सीता। उनकी खुशी का तो ठिकाना ही नहीं। राम का अधिकाधिक प्रेम उन्हें प्राप्त है। इसलिए पर्णकुटी भी प्यारी लगती है, आस-पास के पशु-पक्षी भी प्रिय लगते हैं -- मनुष्यों की तो बात ही अलग है। सीता के व्यक्तित्व में यह परिवर्तन सिर्फ़ इस कारण घटित होता है कि वे घर से बाहर आ गई हैं। प्रेम उन्मुक्त होता है और उन्मुक्त परिवेश में विकसित होता है। चित्रकूट में उन्हें ऐसा ही परिवेश मिलता है। वस्तुतः इस प्रसंग के द्वारा तुलसीदास बताना चाहते हैं कि जिस व्यवस्था में स्वतंत्र व्यक्तित्व के निर्माण की छूट न हो, उसमें सच्चा प्रेम विकसित नहीं हो सकता है। सीता जिस वातावरण से बाहर निकलकर खुली हवा में साँस लेती हैं और गहरे प्रेम का अनुभव करती हैं, वह और कुछ नहीं मध्यकाल का घुटनभरा सामंती परिवेश था, जहाँ भोगविलास आदि का सारा इंतजाम था। नहीं था तो सिर्फ़ प्रेम। अतः घर से बाहर की लीला में सीता और राम सही अर्थों में प्रेम का अनुभव करते हैं।

स्पष्ट है कि तुलसीदास की लीला की अवधारणा में इस संसार का महत्व है, सामाजिक जीवन की स्वीकृति है। लीला के माध्यम से उन्होंने अनेक श्रेष्ठ मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा की है। उनके राम के लिए अवधपुरी सबसे प्रिय है। उसके सामने बैकुंठ भी कुछ नहीं। राम स्पष्ट कहते हैं ---

जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। बेद पुरान बिदित जगु जाना ।।
अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ। यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ।।[2]

---

1. रामचरितमानस : अयोध्याकांड 140. 1-6.

2. रामचरितमानस, उत्तरकांड 4. 3-4.

अवधपुरी की श्रेष्ठता इसी लोक की श्रेष्ठता है, इसकी महत्ता का उद्घोष है। साथ ही यह लीला सिद्धान्त की महिमा है और है उसकी सामाजिकता का ठोस प्रमाण भी।

4.3 कृष्णभक्ति साहित्य में लीला : सामाजिक संदर्भ

भक्तिकालीन कृष्णभक्तिधारा के अंतर्गत कृष्ण की लीलाओं का व्यापक वर्णन हुआ है। इस धारा के सर्वश्रेष्ठ कवि सूरदास हैं, इसमें संदेह नहीं। कृष्ण की लीलाओं का जैसा व्यापक, जैसा बहुविध चित्रण सूर के काव्य में हुआ है, वैसा अन्यत्र नहीं। सूरदास ने मुक्तकों के ही द्वारा कृष्ण की लीलाओं का ऐसा गान किया कि "सूरसागर" में प्रबंधत्व भी आ गया। अतः कृष्णभक्ति साहित्य में लीला के सामाजिक संदर्भ की तलाश प्रतिनिधि कवि सूरदास के लीलामय साहित्य के संदर्भ में की जा रही है।

4.3.1 लीला का सूरत्व

"सूरसागर" का मुख्य वर्ण्य विषय है भगवान कृष्ण की प्रेम-लीला। वह भगवान कृष्ण की लीला-संबंधी पदों का भंडार है। सूरदास का मन कृष्ण, राधा तथा अन्य गोपियों की प्रेम-लीलाओं के चित्रण में खूब रमा है। लीला-पदों में ही उनका कवि-हृदय खुलकर सामने आता है। लीला-पदों के गान से पहले सूरदास दैन्यपरक पदों की रचना करते थे। दैन्यपरक पदों से लीला पदों तक की यात्रा के पीछे एक महत्वपूर्ण प्रसंग है जिसकी चर्चा आवश्यक है।

दास्य भाव की ओर उन्मुख कवि सूरदास अपने शिष्यों के साथ गऊघाट पर रहते थे। एक बार महाप्रभु वल्लभाचार्य वहाँ आए। सूरदास उनसे मिलने गए। सूर को देखकर उन्होंने कुछ भगवद्भजन करने को कहा। सूरदास ने दो पद गाए, जिनमें उन्होंने अपने को पापियों का शिरोमणि कहा [?] किया था। सूर ने जो दो पद गाए उनकी आरंभिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं ---

प्रभु हौं सब पतितन को टीको ।
और पतित सब दिवस चारि के, हौं तो जनमत ही को ।[1]

तथा

हरि हौं सब पतितन को नायक ।
को करि सकै बराबरि मेरी, और नहीं कोउ लायक ।।[2]

ये दोनों दैन्यपरक भजन सुनते ही महाप्रभु वल्लभाचार्य ने डाँटते हुए कहा ---
"सूर ह्वै कैं ऐसो घिघियात काहे को हौ, कछु भगवद् लीला वर्णन करौ।"[3]

इसके बाद वल्लभाचार्य ने सूर को दीक्षित करके अपना शिष्य बनाया और उन्हें लीला वर्णन की विधि सिखायी। यहीं से सूरदास के भजन की राह बदल गई। उन्होंने घिघियाना छोड़कर लीलागान आरंभकिया। स्पष्ट है कि महाप्रभु वल्लभ की कृपा से सूर ने अपनी सर्जनात्मक चेतना को पहचान लिया। उस सर्जनात्मक चेतना को पहचानकर ही वल्लभाचार्य ने उन्हें लीलागान की प्रेरणा दी थी। अपनी महान सर्जनात्मकता की पहचान होते ही सूर ने गाया ---

चकई री, चलि चरन - सरोवर, जहाँ न प्रेम - बियोग ।
जहँ भ्रम-निसा होति नहिं कबहूँ, सोइ सायर सुख जोग ।
. . . .
लछमी - सहित होति नित क्रीड़ा, सोभित सूरजदास ।
अब न सुहात बिषय-रस-छीलर, वा समुद्र की आस ।।[4]

इस प्रकार सूर "पतितन" के देश से निकलकर "नित्य क्रीड़ा" के क्षेत्र में पहुँच गए, जहाँ प्रेम का साम्राज्य है। अब तो कृष्ण लीला का गान सूर के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। गुरु वल्लभ के सामने उन्होंने कृष्णजन्म-संबंधी पद गाया ---

1. सूरसागर, पद 138
2. वही, पद 146
3. अष्टछाप की वार्ता, पृ. 18.
4. सूरसागर, पद 337

ब्रज भयौ महर कैं पूत जब यह बात सुनी ।
सुनि आनंदे सब लोग, गोकुल गनक-गुनी ।।[1]

कृष्ण के जन्म की खुशी में सारा ब्रज नाचता है। सूर भी नाचते हैं। मानना चाहिए कि उक्त पद "महर के पूत" कृष्ण के जन्म की सूचना ही नहीं, महान लीलागायक सूरदास के जन्म की सूचना भी देता है।

लीला का सिद्धान्त एक शक्तिधर सिद्धांत है। इसके संपर्क में आते ही सूर का घिघियाना बंद हो जाता है। कृष्ण की प्रेमलीला का मंत्र पाकर "पतितन को नायक" अंधे गायक से ऊपर उठकर सूर शूर हो गए। कृष्ण की प्रेमलीला का इतना गहरा प्रभाव सूरदास पर पड़ा कि उन्होंने उसे ही अपने गानों का मुख्य विषय बना लिया। उनका महान ग्रंथ "सूरसागर" लीलाओं का भंडार ही तो है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में --

"सूरसागर और कुछ नहीं, शुरू से अंत तक भगवत्-लीला का वर्णन है। इसी लीला के अंतराल से सूरदास का युग देखना पड़ता है जो संपूर्ण न होते हुए भी अस्पष्ट नहीं है।"[2]

कहने की आवश्यकता नहीं कि कृष्ण लीला कोई ऐसी चीज़ नहीं जो समाज-निरपेक्ष हो। आचार्य द्विवेदी उसके माध्यम से सूर के युग को देखने का प्रस्ताव करते हैं। लीला -- निष्प्रयोजन लीला -- के माध्यम से मध्यकाल के समाज को देखने की बात चौंकानेवाली लग सकती है, वस्तुतः चौंकानेवाली है नहीं।

सूरदास लीलापुरुष कृष्ण की बहुविध लीलाओंका वर्णन करते अघाते नहीं हैं। उनके अनुसार यह कृष्ण की लीला ही है कि स्वयं पूर्ण ब्रह्म होकर भी यशोदा की गोद में खेल रहे हैं ---

1. सूरसागर, पद 642
2. हजारी प्रसाद द्विवेदी : सूर-साहित्य, पृ. 148

पूरन ब्रह्म, पुरान बखानैं । चतुरानन, सिव, अंत न जानैं ।
गुन-गम अगम, निगम नहिं पावै । ताहि जसोदा गोद खिलावै।।[1]

जो बड़े-बड़े ज्ञानी और ध्यानी पुरुषों की पकड़ में नहीं आता, वह नंद के आँगन में खेल रहा है, ब्रज के घर-घर में घुसकर मक्खन चुराकर खा रहा है, सूर कहते हैं कि समाधिस्थ शिव भी जिसका अंत नहीं पाते, वह ब्रज के गोपों की गायें चराता है; जो लोकों का पालन करता है, उनका संहार करता है, वह गोपियों के साथ लीला करता है, तरह-तरह के खेल करता है ---

सिव समाधि जिहि अंत न पावै । सोइ गोप की गाइ चरावै ।
अच्युत रहै सदा जल-साईं । परमानंद परम सुखदाई।
लोक रचै राखै अरु मारै । सो ग्वालनि संग लीला धारै ।
. . . .
बड़भागी वै सब ब्रजबासी । जिनकैं संग खेलैं अबिनासी ।
जा रस ब्रह्मादिक नहिं पावैं । सो रस गोकुल-गलिनि बहावैं।[2]

ब्रज के निवासी बड़भागी इसलिए हैं कि कृष्ण उनके बीच लीला करते हैं। शिव, ब्रह्म के लिए जो दुर्लभ है, वह ब्रज में सहज सुलभ है। ऐसा क्यों है? ऐसा है लीला के कारण। लीला -- कृष्ण की लीला -- का क्षेत्र यही लोक है, ब्रह्मा और शिव का लोक नहीं। स्पष्ट है कि लीला का संबंध लोक से है, उस परिवेश से है जहाँ वह घटित होती है। अगर लीला इस लोक में न हो, तो फिर अवतार की कोई सार्थकता नहीं, उसका कोई औचित्य नहीं। भगवान बैठे रहें बैकुंठ में, भक्त का उनसे क्या लेना-देना। भगवान इस लोक में अवतरित होते हैं लीला करने केलिए।

---

1. सूरसागर, पद 621.
2. वही,

4.3.2 निष्प्रयोजन लीला का सामाजिक संदर्भ

जैसी कि चर्चा की जा चुकी है लीला निष्प्रयोजन भी होती है और सप्रयोजन भी। सूरदास के काव्य में भी दोनों तरह की लीलाएँ मिलती हैं। जहाँ कृष्ण के अवतार की चर्चा दुष्टों के विनाश, धर्म की संस्थापना आदि के निमित्त होती है, जाहिर है कि वहाँ लीला सप्रयोजन है। लेकिन जहाँ लीला किसी विशेष प्रयोजन के लिए नहीं होती अर्थात् जहाँ कृष्ण भक्तों के प्रेम के वश में होकर यों ही लीला करते हैं, वहाँ लीला निष्प्रयोजन मानी जाएगी। "सूरसागर" में ऐसे प्रसंग पर्याप्त मात्रा में हैं। यहाँ थोड़ा रुककर निष्प्रयोजन लीला पर विचार करने की जरूरत है। साथ ही यह भी देखने की जरूरत है कि उसके माध्यम से मध्यकालीन भारतीय समाज की कोई सचाई प्रकट होती है या नहीं। घोषित तौर पर निष्प्रयोजन होने के बावजूद उसमें कोई सामाजिक सत्य प्रच्छन्न है या नहीं ?

सूरदास अनेक पदों में इस बात को रेखांकित करते हैं कि कृष्ण ने प्रेम के कारण अवतार लिया है। प्रबंध के तीसरे अध्याय में कृष्णावतार के विवेचन के संदर्भ में सूर के पदों के उद्धरण की सहायता से इस संबंध में चर्चा की गई है। कृष्ण पूरी तरह भक्तों के प्रेम के वश में हैं और इसी के कारण वे अवतार लेते हैं। यह बात बार-बार कही गई है। वस्तुतः लीला का मूल ही है प्रेम। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में ---

"लीलागान में सूरदास का प्रिय विषय था प्रेम । माता का प्रेम, पुत्र का प्रेम, गोप-गोपियों का प्रेम, प्रिय और प्रिया का प्रेम, पति और पत्नी का प्रेम -- इन बातों से "सूरसागर" भरा है।"[1]

सूरदास ने प्रेम को सर्वाधिक महत्व दिया है, इसमें संदेह नहीं।

सूरदास के काव्य कीआत्मा है प्रेम। यह प्रेम ही लीला का मूल है। "प्रेमा: पुमर्थो महान" पर सूरसागर मानो सजीव भाष्य है। सूरदास

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, खंड4, पृ. 179

का कहना है कि संसार में ऐसा कुछ भी नहीं जो प्रेम के द्वारा प्राप्त न किया जा सके। प्रेम से सब कुछ संभव है। प्रेम से प्रेम पैदा होता है, प्रेम से ही भवसागर पार किया जा सकता है। प्रेम से ही संसार चल रहा है। प्रेम से ही परमार्थ संभव है। प्रेम "जीवन-मुक्ति रसाल" है और उसी के द्वारा गोपाल को प्राप्त किया जा सकता है और किसी उपाय से नहीं। सौ बात की एक बात यह कि प्रेम जीवन की सार्थकता है। सूरदास के शब्दों में ---

प्रेम प्रेम सों होय, प्रेम सों पारहि जैये ।
प्रेम बँध्यो संसार, प्रेम परमारथ पैये ।।
एकै निश्चय प्रेम को, जीवन-मुक्ति रसाल ।
साँचो निश्चय प्रेम को, जिहि तें मिले गोपाल ।।[1]

"सूरसागर" प्रेम की महिमा का -- प्रेमलीला की महिमा का -- महान काव्य है।

सच्चे प्रेम में लेन-देन का भाव नहीं होता। वह इन सबसे ऊपर की चीज़ है। भक्ति की निष्कामता के संबंध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है -----

"भक्ति में बड़ी भारी शर्त है निष्कामता की। सच्ची भक्ति में लेन-देन का भाव नहीं होता। भक्ति के बदले में उत्तम गति मिलेगी, इस भावना को लेकर भक्ति हो ही नहीं सकती। भक्त के लिए भक्ति का आनंद ही उसका फल है।"[2]

कहने की आवश्यकता नहीं कि सूर के काव्य में निष्प्रयोजन लीला का यही आधार है।

---

1. सूरसागर, पद 4712
2. रामचंद्र शुक्ल : गोस्वामी तुलसीदास, पृ. 9

"सूरसागर" में कृष्ण की बाल-लीलाओं का अपूर्व चित्रण है। बालक कृष्ण ईश्वर की सहज प्रकृति की अभिव्यक्ति हैं। कृष्ण का जीवन पूर्ण स्वच्छन्द है। वहाँ किसी प्रकार का बंधन नहीं। खेल में बालक भौतिक जीवन की परेशानियों, चिन्ताओं से मुक्त रहता है। कृष्ण भी वैसे ही हैं। खेल बंधन और मर्यादा नहीं मानता है। लीला के साथ भी यही बात है। कृष्ण खेल की भावना से ही सबकुछ करते हैं। खेल-खेल में ही बड़े-बड़े राक्षसों का वध, कालिय नाग का दमन करते हैं। वे युद्ध को भी खेल की भावना से ही स्वीकार करते हैं। खेल में किसी तरह की निषेध भावना नहीं होती। कृष्ण के व्यक्तित्व में निषेधभावना को कोई जगह नहीं है। वे जीवन के सभी रंगों को अत्यंत सहजता से स्वीकार करते हैं। वे जमकर प्रेम करते हैं ---- सिर्फ़ गोपियों से नहीं, सबसे। उनके प्रेम का दान किसे नहीं मिलता है ? नंद, यशोदा, समस्त ब्रजवासी, सुदामा, कुब्जा सब कृष्ण का प्रेम पाकर धन्य होते हैं। सबका जीवन सार्थक होता है। मानना चाहिए कि समस्त भारतीय साहित्य में ऐसा महादानी प्रेमनायक दूसरा नहीं हुआ।

लीला एक उत्सव है। लीला करने वाला ही नहीं उसमें प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष किसी रूप में भाग लेने वाले सब लोग सब तरह की चिंताओं से मुक्त होते हैं। ऐसे उत्सव का, ऐसी लीला का कोई घोषित प्रयोजन नहीं होता। प्रसंगात् मनुष्य की प्रकृति के संबंध में विख्यात विचारक फायरबाख के विचारों की चर्चा प्रासंगिक होगी। फायरबाख मनुष्य के तीन लक्षण मानते हैं-- विचार, प्रेम तथा संकल्प । ये तीनों उसके लक्षण ही नहीं, बल्कि उद्देश्य भी हैं। स्पष्ट ही ये तीनों अपना लक्ष्य आप ही हैं। इनका कोई भिन्न प्रयोजन नहीं होता। ये ऐसी भी शक्तियाँ नहीं हैं, जिन्हें मनुष्य धारण करता है। वस्तुतः मनुष्य जो भी है, इन्हीं के कारण है। ये उसकी प्रकृति के संघटक तत्व हैं। फायरबाख के अनुसार ----

"Man exists to think, to love, to will. Now that which is the end, the ultimate aim, is also the true basis and principle of a being. But what is the end of reason? Reason. Of love? Love. Of will? Freedom of the will. We think for the sake of thinking; love for the sake of loving; will for the sake of willing ---i.e. that we may be free. ...Reason, will, love are not the powers which man possesses, for he is nothing without them, he is what he is only by them; they are the constituent elements of his nature."[1]

सूरदास जिस निष्प्रयोजन लीला की बात करते हैं उसे उपर्युक्त संदर्भ में समझा जा सकता है। इसी प्रसंग मेंउसकी सामाजिकता का भी उद्घाटन किया जा सकता है।

जीवन में विचार, संकल्प तथा प्रेम के महत्व से इनकार नहीं किया जा सकता, उनकी शक्ति से इनकार नहीं किया जा सकता। वस्तुतः ये जीवन को परिचालित करने वाली शक्तियाँ ही हैं। लीला की अवधारणा के अंतर्गत प्रेम को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। अगर उसे जीवन को धारण करने वाला, जीवन को परिचालित करने वाला तथा जीवन को सार्थक करने वाला, उसे मुक्त करने वाला "मुक्ति रसाल" माना गया है, तो इसमें कुछ भी अस्वाभाविक नहीं। सूरदास इसीलिए प्रेम को सबसे बड़ा पुरुषार्थ मानते हैं। जैसा कि पहले कहा गया प्रेम का कोई प्रयोजन नहीं होता। प्रेम प्रेम के लिए होता है। निष्प्रयोजन लीला का यही आधार है।

"सूरसागर" के दशम स्कंध के अंतर्गत भ्रमरगीत-प्रसंग में कृष्ण के सखा उद्धव गोपियों से निर्गुण, निराकार ब्रह्म की प्राप्ति के लिए योग आदि साधनों को अपनाने का आग्रह करते हैं, उन्हें लीलाधर कृष्ण से विमुख करने का भरपूर प्रयास करते हैं। लेकिन गोपियाँ — भोली-भाली निश्छल गोपियाँ — उनके सारे तर्कों को अपनी सीधे, सरल टिप्पणियों से उड़ा देती हैं। इतना ही नहीं वे उद्धव पर तरह-तरह से कटाक्ष भी करती हैं। अंत में

---

1. लुडविग फायरबाख : ऐसेन्स ऑफ क्रिश्चिएनिटि, पृ. 3

उद्धव अपने प्रयास में असफल होते हैं। कृष्ण-भक्ति काव्य के पाठकों के लिए यह सारा प्रसंग अति परिचित है। वस्तुतः इस प्रसंग के माध्यम से सूरदास प्रेम की महत्ता का गान करते हैं। यह उस प्रेम की महत्ता का गान है जहाँ किसी तरह का स्वार्थ नहीं है, किसी तरह की लेन-देन का भाव नहीं है, जहाँ हृदय में अपने प्रेमपात्र के अलावा और किसी का बिंब नहीं है। इस प्रेम की विशेषता यह है कि व्यक्ति बिना मोल बिक जाता है ---

कहत स्याम श्रीमुख यह बानी ।
धन्य-धन्य दृढ़ नेम तुम्हारो, बिनु दामनि मो हाथ बिकानी ।।
निरदय बचन कपट के भाखे, तुम अपने जिय नैंकु न आनी ।
भजीं निसंक आइ तुम मोकौं, गुरजन की संका नहीं मानी ।।[1]

गोपियों का बिना मोल बिकना एक महत्त्वपूर्ण संकेत है। यह कोई आकस्मिक बात नहीं है। सूरदास मध्यकालीन सामंती व्यवस्था-- अन्यायपूर्ण, शोषण पर आधारित व्यवस्था में साँस लेने वाले कवि थे। वे उसकी अमानवीयता से गहरे परिचित थे। जिस व्यवस्था में सब कुछ धन-संपत्ति से तय होता हो, जाति-कुल के पतनशील मूल्यों से तय होता हो, जहाँ प्रेम के लिए कोई जगह न हो और उसे कुत्सित दृष्टि से देखा जाता हो, वहाँ सूरदास प्रेम के एकांत महत्त्व की घोषणा करते हैं, उसे जीवन के सबसे बड़े मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। यह उस युग के उपयोगितावादी, भौतिकवादी दृष्टिकोण का विरोध है, उसका नकार है।

सूरदास लीला की ऐसी फैंटेसी की रचना करते हैं, ऐसे लोक की रचना करते हैं, जो समाज के विधि-निषेधों से दूर हो और जहाँ पतनशील मूल्यों के लिए कोई स्थान न हो। वहाँ सामाजिक नियमों के प्रति एक तरह की उदासीनता मिलती है। कृष्ण की बाल-लीला का सारा प्रसंग

- -

1. सूरसागर, पद 1652

इसका प्रमाण है। स्वयं आनंदरूप लीलामय कृष्ण अपने संपर्क में आने वाले हर प्राणी को आनंद प्रदान करते हैं। बालक कृष्ण नियमों का बंधन नहीं मानते, जगह-जगह उनको तोड़ते हैं। बालरूप में शुद्ध लीला की अभिव्यक्ति करते हैं कृष्ण। आकस्मिक नहीं कि "सूरसागर" में बाललीला पर लगभग आठ सौ पद मिलते हैं।

सूरदास के कृष्ण मुरलीधर हैं। उनका और मुरली का चौबीस घंटे का साथ है। मुरली के अत्यंत व्यापक प्रभाव का अंकन सूर ने अनेक पदों में किया है। एक पद में मुरली की अपार क्षमता का वर्णन करते हुए सूर कहते हैं --

मुरली गति बिपरीत कराई ।
तिहूँ भुवन भरि नाद समान्यो, राधा-रमन बजाई ।।
बछरा थन नाहीं मुख परसत, चरति नहीं तृन धेनु ।
जमुना उलटी धार चली बहि, पवन थकित सुनि बेनु ।
बिह्वल भए नहीं सुधि काहूँ, सुर-गंध्रब, नर-नारि ।
सूरदास सब चकित जहाँ-तहँ, ब्रज-जुवतिनि सुखकारि।।[1]

यह है मुरली का असाधारण प्रभाव। उसकी ध्वनि तीनों लोकों में पहुँचती है और उन्हें झकझोर देती है। चराचर कोई उसके प्रभाव से अछूता नहीं है। वस्तुतः मुरली कृष्ण की गहरी आकर्षण क्षमता का प्रतीक है, उनकी लीला के आकर्षण की सूचक है। यह उनकी लीला का अनिवार्य हिस्सा है। बिना मुरली के लीला जम नहीं सकती। यहाँ ध्यातव्य है कि मुरली से संसार की गति विपरीत होने लगती है, सब प्राणी अपना सहज स्वभाव छोड़कर उसके प्रति आकृष्ट हो जाते हैं। वह सबको बाँध लेती है। कवि सूरदास कृष्ण की मुरली के असाधारण प्रभाव के अंकन के द्वारा मध्यकालीन भारतीय समाज में व्याप्त जड़ता को तोड़ना चाहते हैं। मध्यकाल के रूढ़िग्रस्त समाज में, जहाँ खुली हवा की गुंजाइश न हो, जहाँ व्यक्ति अपने क्षुद्र स्वार्थों के घेरे में कैद हो, वहाँ मुरली द्वारा उनमें चेतना पैदा करने का वे सार्थक प्रयास करते हैं। मध्यकाल के

- -

1. सूरसागर, पद 1685

गतिहीन सामाजिक जीवन में सार्थक हस्तक्षेप है कृष्ण की मुरली।

कृष्ण की अपूर्व लीला घर में घटित होती है और घर के बाहर भी। बल्कि घर के बाहर की लीलाओं में सूरदास का मन अधिक रमता है। गोपियों के साथ क्रीड़ा, उनके साथ रास महत्वपूर्ण लीला है जो बाहर घटित होती है। रास लीला के दौरान एक ऐसे लोक की रचना होती है जो हर तरह से "नवल" है। सूर के शब्दों में ---

बिहरत रास रंग गोपाल ।
नवल स्यामा संग सोहति, नवल सब ब्रज-बाल ।।
सरद निसि अति नवल उज्ज्वल, नवलता बन धाम ।
परम निर्मल पुलिन जमुना, कल्पतरु बिश्राम ।।[1]

आखिर सब कुछ नया क्यों न हो ? लीला की सार्थकता ही नवलता में है। अगर सारा पुराना स्वीकार ही हो, तो लीला का कोई औचित्य ही नहीं। लीला कहीं-न-कहीं पुराने को तोड़ती है। उसे ध्वस्त करके एक ऐसे लोक की रचना करती है जो पुराने लोक के कोढ़ से मुक्त हो, उसकी पतनशीलता के कोई लक्षण जहाँ न हों। लीला एक प्रति-संसार की रचना करती है।

गोपियों के संग कृष्ण के रास का वर्णन करते हुए एक अन्य पद में सूर कहते हैं ---

संग ब्रजनारि हरि रास कीन्हौ ।
सबनि की आस पूरन करी स्याम सै, तियनि पिय हेत सुख मानि लीन्हौ।।
मेटि कुलकानि मरजाद बिधि-बेद की, त्यागि गृह नेह, सुनि बेनु धाई।
कबी जे-जे करी, मनहिं सब जे धरी, संक काहु न करि आपु भाई ।।

- -

1. सूरसागर, पद 1752

ज्यौं महामत्त गज जूथ-करिनी लिये, कूल-सर फोरि डर नाहिं माने ।
सूर-प्रभु नंद-सुत निदरि निसि रस करयौ, नाग-नर लोक-सुर सबै जाने।।[1]

कृष्ण गोपियों के साथ रास कर रहे हैं, नृत्य कर रहे हैं। वे सबकी आशाएँ पूरी करते हैं। स्पष्ट है कि ये आशाएँ वही हैं जो समाज में पूरी न हुई थीं। यहाँ कुलमर्यादा, वेद-मर्यादा आदि मिट जाती है। कृष्ण की बाँसुरी की ध्वनि सुनकर गोपियाँ दौड़ी आती हैं। कुल और वेद की मर्यादा छोड़कर ही वे यहाँ आती हैं, सूरदास इसे रेखांकित करते हैं। यहाँ उनकी कोई सार्थकता नहीं। यह एक तरह से लीला की -- कृष्ण लीला की -- एक पूर्व शर्त ही है। घर का त्याग उतना ही जरूरी है। सूरदास के अनुसार गोपियाँ वही सब करती हैं जो उनके मन में आता है -- "भावी जे जे करी, मनहिं सब जे धरी।" यहाँ किसी तरह का बंधन नहीं, कोई रोक-टोक नहीं। इसलिए गोपियाँ वही करती हैं जो उन्हें भाता है। वे सही अर्थों में स्वच्छन्द हैं, मुक्त हैं। यहाँ कोई उनका स्वामी नहीं। मन में किसी तरह की शंका नहीं। वे कृष्ण के साथ किस तरह स्वच्छंद हैं, इसके वर्णन के लिए सूरदास मतवाले हाथियों के झुंड से उनकी उपमा देते हैं। जैसे मतवाले हाथियों का समूह निर्भय विचरण करता है, सुन्दर तालाब के किनारों को तोड़ता-फोड़ता निकलता है, वैसी ही स्थिति लीलारत गोपियों की है। वे किसी की कोई परवा नहीं करतीं।

सच पूछा जाय तो यह लीला का शूरत्व है। इसमें हजार तरह के बंधनों में जकड़े जड़ समाज की जड़ता को दूर करने की कामना निहित है। रूढ़िग्रस्त मध्यकालीन समाज बंद तालाब की तरह था, जिसमें स्वच्छ जल का प्रवेश नहीं था। जरूरत थी स्वच्छ जल की। अतः कवि उस तालाब के किनारों को, उसके घाटों को तोड़ देना चाहता है। जाहिर है कि यह ध्वंस सिर्फ ध्वंस के लिए नहीं है। इसमें एक बेहतर भविष्य की कामना निहित है। क्रांति और

- -

1. सूरसागर, पद 1753.

कुल के पतनशील और इसलिए अप्रासंगिक मूल्यों का सूर की गोपियाँ एकांत अस्वीकार करती हैं, झूठी वेद मर्यादा को भी वे नकारती हैं, जो कहीं-न-कहीं व्यक्ति की स्वतंत्रता का दमन करती है, उसे सीमित करती है। ध्यान देने की बात है कि विद्रोह का यह झंडा — स्थापित व्यवस्था के पतनशील मूल्यों के विरूद्ध विद्रोह का झंडा -- नारियाँ उठाती हैं, सूर की गोपियाँ उठाती हैं -- कृष्ण के नेतृत्व में। जिस युग में नारी पराधीनता का जीवन जीती हो, जहाँ उसे सपने में भी सुख नसीब न होता हो और इस प्रकार जहाँ वह व्यक्तित्व से वंचित हो, वहाँ सूर की गोपियों का यह विद्रोह कितना सार्थक और इसीलिए कितना महत्वपूर्ण है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। अन्याय का प्रतिरोध तथा प्रेम लोकधर्म की दो विशेषताएँ मानी जाती हैं। कृष्ण लीला- प्रसंग में ये दोनों विशेषताएँ उभरकर सामने आती हैं।

निष्प्राण नियमों तथा रीति-रिवाजों में बँधे हुए समाज से बाहर निकलने और इस प्रकार मूल्यों के धरातल पर उसके प्रति विद्रोह की सार्थक कोशिश है कृष्ण-लीला। यह लीला बँधे हुए समाज, बँधे हुए कर्मकांड के विरोध में खड़ी होती है। यह उस समाज, उस वर्ग के विरोध में खड़ी है जो "जोबन-मद जन-मद मादक मद" में चूर था। यह उस मद को तोड़ने का सार्थक प्रयास है। इसी संदर्भ में झूठे विधि-निषेधों में जकड़े घर की दीवारों को तोड़कर गोपियों का बाहर निकलना और आनंद का अनुभव करना उस घर की अमानवीयता का नकार है। घर वह है जहाँ व्यक्ति बार-बार लौटना चाहता है। लेकिन सूर की गोपियाँ घर लौटने में खुशी अनुभव नहीं करतीं। वे घर से बाहर निकलकर ही खुश होती हैं। हमारा ध्यान उस अमानवीय व्यवस्था पर गए बिना नहीं रह सकता जिसने घर को "घर" नहीं रहने दिया है। प्रसंगात् डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है --- "घर को तोड़कर बाहर निकलने की आकांक्षा का जैसा सहज, स्वाभाविक और मार्मिक चित्रण सूरदास के यहाँ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। राधाकृष्ण की प्रेमलीला जिसमें ग्वालबाल, गाय-बैल, यमुना का तट, कदंब, करील के वृक्ष-सब शामिल हैं, काव्य क्या

साक्षात् "जीवन-उत्सव" है। वह सूरदास की बंद आँखों का देखा हुआ स्वप्न है जो मध्यकालीन सामंती नारी पराधीनता को तोड़कर एक सुखद समाज का स्वप्न है।......घर का यह तोड़ना असामाजिक नहीं, सामाजिक नियमों की अमानवीयता, असामाजिकता को तोड़ना है।"[1]

वस्तुतः मध्यकालीन सामंती व्यवस्था में दुर्दशाग्रस्त मनुष्य को उबारने की प्रबल कामना निहित है कृष्णलीला की अवधारणा में। क्षुद्र स्वार्थ के अमानवीय घेरे में आबद्ध मध्यकाल का मनुष्य बेहद प्रयोजनमूलक हो गया था, वह स्वयं वस्तु बन गया था। सूरदास लीला को निष्प्रयोजन बताकर उस प्रयोजनमूलकता — गहन प्रयोजन - मूलकता — को तोड़ना चाहते हैं, मनुष्य को उसके संकीर्ण घेरे से निकालना चाहते हैं। इसलिए कृष्णलीला के माध्यम से वे एक ऐसे समाज की तस्वीर प्रस्तुत करते हैं जहाँ मनुष्य इन क्षुद्रताओं से मुक्त है, जहाँ वह सही अर्थों में मनुष्य है। कृष्ण-लीला — निष्प्रयोजन कृष्ण-लीला — मनुष्य के बेहतर जीवन की कामना से युक्त लीला है। यही उसकी सामाजिकता है।

4.3.3 लोकजीवन कृष्णलीला का स्रोत

सूरदास के कृष्ण मध्यकालीन परिवेश की निर्मिति हैं। स्पष्ट है कि उनकी लीला में मध्यकालीन समाज की गूँज सुनाई पड़ती है। यह लीला इसी समाज में रूप ग्रहण करती है और यहीं घटित होती है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का भी मत है कि कृष्ण की लीला का गहरा संबंध जीवन से है, वह उसी से निर्मित हुआ है। उनके शब्दों में -----

"ब्रजभाषा के कृष्ण की सारी लीला भी इसी तन-मन और जीवन के ईंट-चूने-गारे से बनी है। कवि ने अपनी मनुष्यता का सुंदर से सुंदर उपयोग

---

1. विश्वनाथ त्रिपाठी : मीरा का काव्य, पृ. 31.

उस भाव-मधुर रुचिर-छवि की रचना में किया है। वह एकान्त दूर से निरीक्ष्यमाण चित्र नहीं है, वह अंतर की प्रेम-स्रोतस्विनी की ठोस जमाहट है।"[1]

आचार्य द्विवेदी के उपर्युक्त कथन से लीला का जीवन — मध्यकाल के सामाजिक जीवन --- से घनिष्ठ संबंध स्पष्ट है। वस्तुतः मध्यकालीन सामाजिक परिस्थियों की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका है कृष्ण-लीला की रचना में ।

वस्तुतः कृष्ण-लीला की जीवन्तता का स्रोत लोक जीवन है। सूरदास ने अपनी गहरी अंतर्दृष्टि से अपने समकालीन लोकजीवन को देखा और उसे वैविध्य के साथ अपने काव्य में प्रक्षेपित किया। ध्यान देने की बात है कि रचना में लोक जीवन का यह प्रक्षेपण कोई सरल, सहज कार्य नहीं और न ही सरल, सहज है आज उसकी पहचान। साहित्य का यथार्थ सतह की वस्तु नहीं होता। तत्कालीन सामाजिक पृष्ठभूमि का इस्तेमाल साहित्य में व्यक्त सामाजिक यथार्थ की परख के लिए किया जाना चाहिए। सूरदास के लीला-पदों में वास्तविकता का चित्रण गहरे स्तर पर हुआ है, इसमें संदेह नहीं। निष्प्रयोजन लीला का चित्रण करते हुए भी सूरदास गहन सामाजिक यथार्थ को वाणी देते हैं, इसकी चर्चा की गई है। यदि कोई निष्प्रयोजन लीला का मतलब मनोरंजन करने वाली लीला समझे तो प्रश्न-चिह्न निष्प्रयोजन लीला की सार्थकता पर नहीं उसकी समझ पर लगाया जाना चाहिए। ऐसी समझ वाले साहित्य के समाज-शास्त्रियों द्वारा सूरदास के काव्य विवेचन के संदर्भ में डॉ. नामवर सिंह ने कटाक्ष करते हुए लिखा है --- " ये समाज-शास्त्री खूब गोता खाते हैं और इस तरह का फतवा देते हैं कि उन्होंने केवल मनोरंजन किया, समाज का मन बहलाया। ये हैं सूर को हिन्दी साहित्य का सूर्य कहने वाले। इनका "सूर्य" केवल बच्चे बहलाने का कार्य करता है।"[2]

एक तरह के साहित्य-विवेचकों की समझ के संदर्भ में की गई यह टिप्पणी अनुचित

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, खंड 5, पृ. 362
2. नामवर सिंह : इतिहास और आलोचना, पृ. 145

नहीं। वस्तुतः सूर महान हैं अपने लीलामय साहित्य के बल पर -- उस साहित्य के बल पर जिसमें मध्यकाल के सामाजिक जीवन का गहरा यथार्थ प्रच्छन्न है। निष्प्रयोजन लीला हो या सप्रयोजन लीला, यह यथार्थ किसी-न-किसी स्तर पर उसमें उपस्थित रहा है।

अपने एक पद में अपनी भूलों पर पश्चाताप करते हुए सूरदास कहते हैं --

भ्रमत-भ्रमत बहुतै दुख पायौ, अजहूँ न टैंव गई।[1]

सच पूछा जाय तो यह "बहुतै दुख" ही कवि को कृष्ण-लीला गान को प्रेरित करता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सिर्फ सूर का दुःख नहीं है, उसमें मध्यकाल के असंख्य सामान्य लोगों की व्यथा शामिल है। सूरदास अपने आराध्य कृष्ण को "निकुंज बिहारी" कहते हैं लेकिन साथ ही उन्हें "दीन-दयाल" कहना न भूले हैं ----

तुम अविगत अनाथ के स्वामी, दीन-दयाल, निकुंज बिहारी ।।[2]

इस प्रकार सूर के कृष्ण कोरे "निकुंज बिहारी" नहीं, "दीन-दयाल" भी हैं। जो दीनदयाल नहीं, वह भला दीनों की सहायता कैसे करेगा, वह उनकी व्यथा कैसे समझेगा! स्पष्ट है कि लीला का कहीं-न-कहीं लोक की गहरी व्यथा से है।

गोपाल कृष्ण की लीला ब्रज की पशुपालन सभ्यता से जुड़ी हुई है। उनकी लीलाओं में पशुपालक समाज का बहुविध चित्र मिलता है। कृष्ण की लीलाएँ लोक-जीवन पर आश्रित हैं। सूरदास ने मध्यकालीन ब्रज के लोकजीवन को गोपी-गोपाल लीला के बहाने अत्यंत जीवंत रूप में प्रस्तुत किया है। ब्रज का संपूर्ण गोपालक समाज अपनी खूबियों और खामियों के साथ यहाँ उपस्थित है।

---

1. सूरसागर, पद 299
2. वही, पद 160

उनके कृष्ण पूरी तरह से लोकजीवन में घुले-मिले हैं। वे उसके अभिन्न अंग हैं। सूर ने अपनी ही नहीं समस्त समाज की बेचैनी, व्यथा के साथ ही उसके उल्लास के योग से कृष्ण की प्रतिमा का निर्माण किया। इसीलिए वह प्रतिमा इतनी विश्वसनीय बन सकी है।

"सूरसागर" का लोकधर्म से गहरा संबंध है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में ---

"लोक-जीवन ही "सूरसागर" की लीलाओं की मुख्य सामग्री है।.... इनका संधान किसी प्रस्थानत्रयी या प्रस्थान-चतुष्टय में खोजना बेकार है।"[1]

कृष्ण की लीलाओं में गहन मानवीयता का जो तत्व मिलता है, उसका स्रोत समुदय लोकजीवन ही है। ध्यातव्य है कि लोकजीवन के अंतर्गत समाज का अपेक्षाकृत पिछड़ा वर्ग, निम्न वर्ग आता है "जोबन-मद जन-मद" से लदा वर्ग नहीं। सूरदास की कविता यदि किन्हीं स्तरों पर ऐसे उच्चवर्गीय, कुलीन लोगों की जीवन-शैली आदि का विरोध करती है, उसके खात्मे की कामना करती है, तो इसका श्रेय लोकजीवन को भी मिलना चाहिए जहाँ से कवि ने लीलाओं के उत्तम उपादान जुटाए हैं। वस्तुतः लोकजीवन की विविध भावनाओं की परिणति ही लीला-रूप में हुई है। आचार्य द्विवेदी इसे "लोकतत्व की लोकोत्तर परिणति" मानते हैं। उनके शब्दों में ---

"गृहस्थ के जीवन के सारे आनंद, औत्सुक्य, चिन्ता, प्यार, प्रेम, विरह, सुख-दुःख इतनी सचाई के साथ चित्रित होकर भी अंततः भगवान् की मधुर लीलाओं में पर्यवसित हुए हैं। अद्भुत है लोकतत्व की लोकोत्तर परिणति।"[2]

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, खंड 4, पृ. 159
2. वही, पृ. 160

4.3.4 लीला का गतिशील सौन्दर्य

सूरदास पर अपने एक लेख में डॉ. विजेन्द्र नारायण सिंह लीला सिद्धान्त पर विचार करते हुए लिखते हैं ---

"लीला का सिद्धांत संसार के सौन्दर्यशास्त्र को भारतीय मनीषा की सबसे बड़ी देन है। इसके द्वारा भक्तिकाल के कवियों ने मिट्टी को आकाश से ब्याह दिया। "सान्त" को "अनन्त" से जोड़ दिया।"[1]

वास्तव में लीला के सिद्धान्त की सौन्दर्यशास्त्रीय भूमिका के संदर्भ में यह एक वस्तुपरक टिप्पणी है। सूर ने सौन्दर्यशास्त्र को कोई जड़ सिद्धान्त नहीं, गतिशील सिद्धांत दिया; ऐसा सिद्धांत जिसकी जड़ें समाज में हैं, लोकधर्म में हैं। लीला का सौन्दर्य अमूर्त नहीं, ठोस सौन्दर्य है। सूरदास ठोस सौन्दर्य के उपासक हैं। वे कृष्ण के सौन्दर्य पर बलि जाते हैं ---

सुन्दर मुख की बलि बलि जाऊँ ।
लावन-निधि, गुन-निधि, शोभा-निधि
निरखि निरखि जीवत सब गाऊँ ।।

कृष्ण का ऐसा सौन्दर्य कवि को सक्रिय बनाता है। वह गान की प्रेरणा देता है -- लीलागान की। ऐसे सुंदर मुख के दर्शन बराबर होते रहें और मैं उसका गान करता रहूँ, कवि की यही कामना है। सूर ने मदनमोहन कृष्ण की अपूर्व छवि का चित्र खींचा है। स्पष्ट ही यह सौन्दर्योपासना मानवीय है, मानवीय बोध से परिचालित है। काव्य में यह ठोस मानवीय सौन्दर्य का आगमन होता है अवतार और लीला के सिद्धांत के साथ । सौन्दर्य के श्रेष्ठ प्रतिमान कृष्ण पारिवारिक संबंधों के बीच उपस्थित हैं।

---

1. विष्णु गोस्वामी द्वारा संपादित "भक्ति साहित्य : एक पुनर्मूल्यांकन" में संकलित लेख, पृ. 20.

वस्तुतः लीला का सिद्धांत भक्ति और कविता दोनों का मेरुदंड है। अवतारी ईश्वर की अवधारणा से भक्ति को ठोस आधार मिलता है, वह सुदृढ़ होती है। लीला का सिद्धांत कविता को अमूर्त लोक में भटकने नहीं देता, उसे यथार्थ की जमीन पर खड़ा करता है। कविता अमूर्त नहीं होती। सूर और तुलसी की कविता में इस संसार का सौन्दर्य, प्रकृति और नर-नारी का सौन्दर्य मुखर हुआ है। उनका काव्य जीवन की स्वीकृति का काव्य है। उनका रुझान यथार्थवादी है। आकस्मिक नहीं कि अवतार तथा लीला की महिमा का उद्घोष करने वाले सूर तथा तुलसी के काव्य के संदर्भ में डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है ---

"भारतीय भाषाओं में यथार्थवाद का अधिक विकास इसी सगुण साधना के साहित्य में हुआ है।"[1]

जैसा कि कहा गया, लीला का सिद्धांत मायावाद का खंडन करता है। वह जीवन-जगत को मिथ्या नहीं, सत्य मानता है। वह उससे पलायन की बात नहीं करता, छककर उसके सौन्दर्य रस का पान करने पर बल देता है। सूरदास इस संसार में पुनः आने की कामना करते हुए कहते हैं ---

यहै माँगौं बार-बार प्रभु सूर के, नैन दोउ रहैं, नर-देह पाऊँ ।[2]

जीवन के प्रति, समाज के प्रति इतना गहरा आकर्षण लीला सिद्धांत की देन है। कृष्ण लीला के अपूर्व सौन्दर्य से कवि इस तरह अभिभूत है कि उसे भूल नहीं पाता। वह बार-बार उसे देखना चाहता है। वास्तव में, लीला का यह सौन्दर्य सिर्फ़ कृष्ण और गोपियों का सौन्दर्य नहीं, समस्त संसार का सौन्दर्य है, जिसके सहज आकर्षण में कवि खिंचा चला आता है, सहृदय खिंचा चला

---

1. रामविलास शर्मा : हिंदी जाति का साहित्य, पृ. 67
2. सूरसागर, पद 1624

आता है। उसका आकर्षण ऐसा है कि स्वर्ग-निवासी देवों की पत्नियाँ ब्रज में आने की कामना करती हैं, वहाँ न होने पर पछताती हैं। यहाँ तक कि वे पेड़-पौधे के रूप में रहना भी स्वीकार करती हैं ---

हमको बिधि ब्रज-बधू न कीन्ही, कहा अमरपुर बास भऐं ।
बार-बार पछितात यहै कहि, सुख होतो हरि-संग रहैं ।।
कहा जनम जो नहीं हमारो, फिरि-फिर ब्रज अवतार भलो ।
बृंदावन द्रुम लता हूजिये ,करता सौं माँगियो चलो ।।[1]

यह इस संसार की महत्ता का उद्घोष है, यहाँ के जीवन की स्वीकृति है। लीला का सिद्धान्त हममें संसार के प्रति गहरी रागात्मकता पैदा करता है, आसक्ति पैदा करता है। आकस्मिक नहीं कि सूर के कृष्ण कहते हैं ---

"ऊधो मोहि ब्रज बिसरत नाहीं ।"[2]

कहने की आवश्यकता नहीं कि कृष्ण का ब्रज-प्रेम मिट्टी के प्रति उनके गहरे प्रेम का सूचक है। मिट्टी के प्रति गहरा लगाव सूरदास के संपूर्ण काव्य में मिलता है। यह गहन प्रेम, गहन लगाव आया है लीला के सिद्धांत से। सूरदास की कविता को "युग का स्मारक" बनाने का श्रेय अवतार और लीला की मिथकीय अवधारणा को है। यह सिद्धान्त संसार में गहरी आस्था पैदा करता है, उससे विमुख नहीं करता। सूरदास की स्पष्ट घोषणा है ---

सो जग क्यों मिथ्या कहि जाइ । जहाँ तरै तुम्हरे गुन गाइ।[3]

सामाजिक जीवन की मजबूत भित्ति पर स्थित लीला के सिद्धांत ने सूरदास और तुलसीदास की कविता को अपूर्व ऊँचाई प्रदान की है, इसमें संदेह नहीं। यह उनकी गहरी सामाजिक भूमिका का महत्वपूर्ण प्रमाण है।

---

1. सूरसागर, पद 1664.
2. वही, पद 4774.
3. वही, पद 4919.

उपसंहार

उपसंहार

ईश्वर मानवीय अनुभूतियों का सार है। मनुष्य सृष्टि का केन्द्र है। सारे चिंतन और विकास का प्रस्थानबिंदु मनुष्य ही है। ईश्वरत्व या देवत्व की अवधारणा का विकास मानव समाज में होता है। मनुष्य के आर्थिक, सामाजिक परिवेश के संदर्भ में ही ईश्वर की अवधारणा के विकास को समझा जा सकता है।

मानव समाज के विकास की आरंभिक अवस्था में विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों, घटनाओं पर देवत्व के आरोप के फलस्वरूप देवता अस्तित्व में आए। मन पर असाधारण प्रभाव डालने वाली वस्तुओं, शक्तियों को मानवीकरण के द्वारा देवता बना दिया गया। स्पष्ट है कि मनुष्य और प्रकृति के अंतर्विरोध से देव-संबंधी अवधारणा का विकास हुआ। एक सर्वशक्तिमान ईश्वर की अवधारणा का विकास बाद में हुआ। सामाजिक विकास के अगले चरण में एक क्षेत्र की सीमाओं के अंतर्गत कई वर्गों को संयुक्त करने वाले सामाजिक समूह अस्तित्व में आए। इसी के समानांतर अनेक देवी-देवताओं के समूह में एक परमेश्वर की अवधारणा का विकास हुआ। भारत में वैदिक युग के उत्तरार्ध में यह घटित हुआ।

आगे चलकर ईश्वर के अवतार की अवधारणा का विकास होता है। अवतार ईश्वर की मानवीय प्रकृति की व्यावहारिक अभिव्यक्ति है। वह व्यापक मानवीय गुणों का सार है। ईश्वर में व्यापक मानवीय गुणों का आरोप ही उसे अवतार बनाता है। मनुष्य ऐसे ईश्वर की कल्पना करता है, जिससे वह संबंध स्थापित कर सके। मनुष्य का मनुष्य के साथ

जितने प्रकार का संबंध हो सकता है, उससे भिन्न संबंध की कल्पना ईश्वर के संदर्भ में नहीं की जा सकती है। इस प्रकार अवतार की अवधारणा के संदर्भ में मानवीय संबंधों का सर्वाधिक महत्त्व है। ईश्वर में व्यक्तित्व के आरोप में मनुष्य अपने को पाता है। वह मनुष्य के व्यक्तित्व का ही बड़े फलक पर प्रक्षेपण है।

अवतार की अवधारणा मिथकीय विधान में सन्निहित है। वह एक मिथक है। वह उस प्राचीन मिथक का विकास है जिसके अनुसार अपनी माया की सृजनात्मक शक्ति के द्वारा ईश्वर कोई भी रूप ग्रहण कर सकता है। समय केसाथ-साथ मिथक में भी बदलाव आता है। अवतार एक परिवर्तनशील मिथक है। मिथक का संबंध लोगों की भौतिक, आध्यात्मिक आवश्यकता से होता है और उसी के अनुरूप उसमें बदलाव घटित होता है। इसे मिथक की कालानुरूप समाभियोजना की क्षमता कहा गया है।

मिथक के स्वरूप और उसके गठन की प्रक्रिया पर विचार करते हुए उसके विकास पर विचार किया गया है। मिथक के संबंध में विको, फ्रायड, युंग, फ्रेजर, कैसीरर, लेवी-स्ट्रॉस, मर्सिया इलियड आदि के मिथक-संबंधी विवेचन की पड़ताल की गई है कि मिथक की अंतर्वस्तु सामाजिक होती है। उसकी रचना में काल की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। उसके विकास की प्रक्रिया द्वन्द्वात्मक होती है। स्पष्ट ही यह द्वन्द्व सृजनात्मक होता है। मिथक की रचना कोई एक व्यक्ति नहीं करता, वह समाज की रचना है। प्रत्येक युग का मिथक ऐतिहासिक द्वन्द्ववाद की प्रक्रिया में मानवीय सृजन का ही अवशिष्ट चिह्न है। उसमें मनुष्य के सामाजिक जीवन का प्रक्षेपण होता है। यही उसका

प्रयोजन भी है। मिथक का सरोकार मानवीय सरोकार होता है। भारत में अवतार का मिथक ऐसा ही है जिसका प्रभाव जनमानस पर हजारों वर्षों से कायम है।

प्रबंध के प्रथम अध्याय के अंतिम चरण में धर्म, दर्शन और साहित्य को अधिरचना का हिस्सा मानते हुए आधार से उनके द्वन्द्वात्मक संबंध का विवेचन किया गया है। वस्तुतः साहित्य के रेशों का निर्माण उस समाज में होता है जिसमें साहित्यकार साँस लेता है। समाज के संदर्भ में ही साहित्य की साहित्यिकता का उद्घाटन हो सकता है। समाज और साहित्य केबीच एक-एक का संबंध नहीं होता है। इनका संबंध द्वन्द्वात्मक होता है। इसलिए चेतना सिर्फ आर्थिक परिस्थितियों का प्रतिबिंब मात्र नहीं होती। हर रचनाकार सामाजिक यथार्थ का भावन अपने ढंग से करता है। सामाजिक यथार्थ के ग्रहण और प्रकाशन के बीच उसका व्यक्तित्व सक्रिय रहता है।

शोध-प्रबंध के द्वितीय अध्याय में मध्यकाल के पूर्व के भारतीय समाज एवं साहित्य में अवतारवाद की स्थिति पर सविस्तार विचार किया गया है। समाज का चार वर्णों में विभाजन आर्थिक कारणों से हुआ था, किसी धार्मिक या आध्यात्मिक कारण से नहीं। वर्ण-व्यवस्था श्रम-विभाजन पारंपरिक रूप में, उनकी भूमिका में थोड़ा-बहुत बदलाव आता रहा है। गुप्तकाल में विभिन्न शिल्पों के विकास से जातियों का विकास हुआ। बदलती हुई सामाजिक स्थिति का प्रभाव निश्चित रूप से उस समय के साहित्य और धर्म पर पड़ा। संस्कृति तथा साहित्य के क्षेत्र में गुप्तकाल की देन अत्यंत मूल्यवान है।

गुप्तकाल के साथ ही सामंतवाद के गठन की प्रक्रिया आरंभ हो गई थी। उसके बाद वह और पकड़ती है। राज्य द्वारा ब्राह्मणों को भूमि अनुदान दिया जाना सामंतवाद के विकास का मुख्य कारण था। भारतीय सामंतवाद के जटिल ढाँचे की चर्चा करते हुए उसकी विशेषताओं की चर्चा की गई है। गुप्तकाल के बाद की अर्थव्यवस्था बंद अर्थव्यवस्था मानी गई है। सामंतवाद के अंतर्गत किसानों का भरपूर शोषण होता था हालाँकि उसका विरोध भी दिखाई पड़ता था। उस काल में रचे गए पुराण तथा साहित्य में यह देखा जा सकता है। बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में सल्तनत की स्थापना के साथ विकसित नई आर्थिक परिस्थितियों के कारण भारतीय सामंतवाद अपने दूसरे दौर में पहुँचता है, जिसके अंतर्गत महान भक्तिकाव्य की रचना होती है।

वैष्णव धर्म के उदय एवं विकास के सामाजिक संदर्भ को समझने के लिए यह पृष्ठभूमि सहायक होती है। अपनी व्यापकता तथा उदारता के लिए विख्यात वैष्णव धर्म, लोक धर्म है। भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य वैष्णव भक्ति का साहित्य ही है। वैष्णव धर्म संपूर्ण देश में प्रचलित धर्म है। विष्णु के अवतारों की अवधारणा के कारण वह तेज़ी से विकसित होता है और लोकप्रिय भी।

वैदिक देवता विष्णु परवर्ती काल में अत्यधिक महत्व प्राप्त करते हैं। वैदिक साहित्य में विष्णु के अवतार की चर्चा नहीं मिलती है, किन्तु वहाँ कुछ ऐसे संकेत मिलते हैं जो बाद में विष्णु के सर्वशक्तिमान परमेश्वर के रूप में उभरने का मार्ग प्रशस्त करते हैं। महाकाव्यों अर्थात "रामायण" तथा "महाभारत" में विष्णु के असाधारण महत्व की प्रतिष्ठा होती है। "रामायण" में राम के साथ "महाभारत" में कृष्ण के साथ विष्णु के तादात्म्य से वैष्णव धर्म को मज़बूत आधार मिल जाता है। संप्रदाय के

अर्थ में "वैष्णव" शब्द का सबसे पहला प्रयोग "महाभारत" में मिलता है। "महाभारत" में कृष्ण परमेश्वर हैं, ऐसे परमेश्वर जो लोक-कल्याण के लिए संसार में अवतरित होते हैं।

वस्तुतः विष्णु के साथ ही भक्ति की अवधारणा का विकास होता है महाकाव्योंमें। "महाभारत" के अभिन्न अंश "गीता" में भक्ति का सबसे प्रथम व्यवस्थित प्रतिपादन हुआ है। "गीता" में प्रतिपादित भक्ति ही वैष्णव धर्म का मूल आधार है। वहाँ प्रतिपादित भक्ति का स्वरूप सरल और सुगम है। यह भक्ति सबके लिए है --- सभी जातियों के लिए। वैष्णव धर्म सही अर्थों में जनता का धर्म बन गया था। "गीता" के पश्चात् वैष्णव धर्म के प्रचार-प्रसार में तथा उसको अधिकाधिक सुदृढ़ बनाने में पुराणों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई खासकर हरिवंश, विष्णु तथा भागवत पुराण ने।

पौराणिक साहित्य में आकर वैष्णव भक्ति अत्यंत सबल हो जाती है। उसके साथ ही तमिल प्रदेश में उभरे आलवार भक्तों के साहित्य की भूमिका कम महत्वपूर्ण नहीं है। जनता के बीच से आये आलवारों ने विष्णु तथा उनके अवतारों को केन्द्र में रखकर ब्राह्मणवादी साहित्य तथा उनकी भाषा संस्कृत के प्रतिकार में जनभाषा में भक्ति-साहित्य की रचना की।

वैष्णवधर्म की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है अवतार का सिद्धांत। वह वैष्णव धर्म की धुरी है। अवतार के बिना सही अर्थों में भक्ति संभव नहीं है। इसलिए "गीता" में भक्ति के साथ ही अवतार के सिद्धांत का भी व्यवस्थित रूप से प्रतिपादन हुआ है। "गीता" में

कृष्ण कहते हैं कि धर्म की ग्लानि और अधर्म का उत्थान होता है, तब-तब मैं दुष्टों के विनाश तथा सज्जनों के परित्राण के लिए एवं धर्म की स्थापना के लिए अवतार लेता हूँ। यहाँ अवतारवाद के सभी अवयव स्पष्ट होते हैं।

अवतार सामाजिक चिन्ता की उपज होता है। "गीता" में प्रतिपादित अवतारवाद का उस युग के भारतीय समाज से गहरा संबंध है। अराजक स्थिति के दौर से गुजर रहे समाज में पीड़ित लोगों के मानस में ऐसे ईश्वर की अवधारणा का जोर पकड़ना स्वाभाविक है जो विपत्ति की उस घड़ी में अवतार लेकर उन्हें उस स्थिति से उबार ले। उस काल की जनता की लाचारी और उससे मुक्त होने की तीव्र कामनाअवतार की अवधारणा में मिलती है।

"रामायण" एवं "महाभारत" में अवतारवाद के विवेचन के पश्चात् मुख्य पुराणों में उसकी उपस्थिति तथा उसकी विशेषताओं की चर्चा की गई है। पुराणों में अवतारवाद का स्वरूप गतिशील रहा है। "भागवत पुराण" के अवतारवाद की विशेषता का विवेचन किया गया है। यहाँ वर्णित सभी अवतारों को लीलावतार कहा गया है। अवतारवाद का लीलात्मक रूप यहाँ महत्वपूर्ण बन जाता है। मुख्य अवतारों की संख्या चौबीस मानी गई है "भागवत" में।

शोध-प्रबंध के तृतीय अध्याय में भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य में अवतारवाद का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। भक्तिकाल के सामाजिक, आर्थिक परिवेश पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया गया है। भारत में इस्लाम के आगमन के प्रभाव के संबंध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। लेकिन इसमें संदेह नहीं कि इस्लाम के आने से भारतीय सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था बहुत दूर तक प्रभावित हुई जिसका असर

सामाजिक संबंधों के साथ ही साहित्य और संस्कृति पर भी पड़ा। इस्लाम का आगमन कोई मामूली घटना नहीं, जिसे अनदेखा किया जा सके। भारत की जनता पर हुए अत्याचारों, संस्कृति को विकृत करने की कोशिशों ने देश की जनता के जातीय मानस को हिला दिया था।

मुगल साम्राज्य की स्थापना के साथ अपेक्षाकृत बेहतर माहौल बना हालाँकि जनता की बुनियादी हालत में कोई बदलाव नहीं आया। शासक सामंत वर्ग तथा सामान्य जनता की जीवन-स्थितियों में जमीन-आसमान का अंतर था। किसान वर्ग तरह-तरह के करों के बोझ से दबा था। अन्य मेहनतकशवर्गों की हालत भी कम दयनीय नहीं थी। उनकी कमाई पर पलनेवाला सामंत वर्ग घोर विलासी बन गया था। उसे धन और ऐयाशी का मिश्रण कहा गया है।

"भागवत पुराण" भक्तिकाव्य का मुख्य प्रेरक ग्रंथ है। भक्तिकालीन काव्य का मुख्य प्रेरक ग्रंथ "भागवत" ही रहा है, "गीता" नहीं। "भागवत" की भक्ति की अवधारणा क्रांतिकारी अवधारणा है, जिसका गहरा प्रभाव रामभक्ति तथा कृष्णभक्ति साहित्य पर पड़ा है। "भागवत" की भक्ति का सामाजिक पक्ष बड़ा प्रबल है। यहाँ भक्ति-विवेचन के प्रसंग में सामान्य जन का सर्वाधिक ध्यान रखा गया है। "गीता" और "भागवत" की भक्ति के अंतर को रेखांकित करते हुए बताया गया है कि "गीता" में भक्त और भगवान के बीच जो दूरी-सी थी, वह यहाँ पट जाती है। "भागवत" की भक्ति एकदम सहज, स्वाभाविक भक्ति है। "गीता" के कृष्ण मुख्यतः प्रेम के देवता नहीं हैं जबकि "भागवत" के कृष्ण हैं। "भागवत" में "गीता" के मुकाबले का अधिक स्वतंत्र व्यक्तित्व निर्मित होता है।

रामावतार के मिथक की व्यापक अभिव्यक्ति भक्तिकालीन रामभक्ति शाखा के साहित्य में हुई। राम की चर्चा संत काव्य में भी हुई है, लेकिन संत कवियों के राम निर्गुण हैं, "दसरथ-सुत" नहीं। विरासत में मिले राम-मिथक का तुलसीदास ने अपने युग की प्रासंगिकता के बीच स्वीकार किया। राम के मिथक के नए स्वरूप की रचना में मध्यकालीन समाज की गहरी भूमिका के यथार्थ का ही अंकन किया है। समकालीन समाज की दुर्दशा तुलसी को परेशान कर रही थी और रामकथा की रचना के समय वह बराबर उनके मानस में उपस्थित रही थी। तुलसी के राम लोक-कल्याण के लिए अवतार लेते हैं -- हालाँकि उनके साहित्य में अवतार का एक ही प्रयोजन नहीं है। लेकिन अवतार जनता का कष्ट हरता है, यह बात बार-बार रेखांकित की गई है। रावण के राज्य में जनता की जो हालत थी, उससे बहुत भिन्न हालत तुलसी के समय की जनता की नहीं थी। रावण के हरम और तत्कालीन शासक के हरम में आश्चर्यजनक समानता थी। समाज के सामने प्रस्तुत गंभीर चुनौती का तुलसी ने राम की मिथकीय कथा के माध्यम से सामना किया। तुलसी द्वारा रामावतार के कारणों एवं प्रयोजन की चर्चा में उनके गहन युग-बोध का सबूत मिलता है। मध्यकालीन सामाजिक यथार्थ से रामकथा बुनी गई है। रामकथा में जनता की भयानक गरीबी के हृदयस्पर्शी संदर्भ भरे पड़े हैं। वह मध्यकाल का भयंकर यथार्थ का चित्रण करती है।

मध्यकालीन समाज में फैली दरिद्रता, सामाजिक अन्याय तथा उत्पीड़न के बीच तुलसी राम को स्मरण करते हैं, उनसे मदद की आशा और याचना करते हैं। उनके काव्य में अनेक सामंत-विरोधी मूल्यों की अभिव्यक्ति हुई है। भोगवाद का विरोध, नैतिक मूल्यों की वकालत, राम के करुणामय चरित्र पर बल, प्रेम की महत्ता आदि सामंत-विरोधी मूल्य हैं।

तुलसी के बाद श्रेष्ठ रामकाव्य की रचना नहीं हुई। फिर भी अग्रदास, नाभादास, केशवदास आदि के साहित्य में प्रस्तुत रामावतार विचार किया गया है।

हिन्दी कृष्णभक्ति काव्य में अभिव्यक्ति कृष्णावतार के स्वरूप के विवेचन से पहले महाप्रभु वल्लभाचार्य के कृष्ण-भक्ति संबंधी विचारों का विवेचन किया गया है। कृष्णभक्ति काव्य पर उनका अप्रतिम प्रभाव है। सूरदास कृष्णभक्ति शाखा के सबसे महत्वपूर्ण कवि हैं। "सूरसागर" में कृष्ण का लोकरक्षक रूप भी मिलता है हालाँकि मुख्य है उनका लोकरंजक रूप। उनके कृष्ण भी दीनबंधु हैं। दीनों के लिए उनकी अपार करुणा का स्रोत कभी बंद नहीं होता।

सूर के साहित्य में अवतार प्रयोजनमूलक भी हैं और निष्प्रयोजन भी। लोकरक्षा आदि के लिए कृष्ण का अवतार प्रयोजनमूलक है। सिर्फ़ आनंद के लिए अवतरित होना निष्प्रयोजन अवतार माना जाएगा। सूर के यहाँ अवतार की व्यापक अवधारणा मिलती है। वे सभी प्रमुख अवतारों की चर्चा करते हैं।

मध्यकाल का मुख्य सामाजिक अंतर्विरोध था सामंत और प्रजा का द्वन्द्व। सूरदास के साहित्य में यह द्वन्द्व मिलता है -- गहरे स्तर पर। अवतारवाद में आस्था रखने वाले कवि सूरदास का साहित्य जीवन के प्रति, समाज के प्रति गहरे लगाव और आकर्षण का साहित्य है। कृष्ण के रूप में सूर जीवन और समाज के श्रेष्ठतम मूल्य को प्रस्तुत करते हैं। कृष्ण के प्रेम में रँगकर समाज के सभी भेदभावों को वे मिटा देना चाहते हैं।

सूरदास के पश्चात् परमानन्ददास, नन्ददास, कुंभनदास, मीराबाई तथा रसखान की रचनाओं पर अवतारवाद की दृष्टि से विचार किया गया है। इन कवियों के काव्य में कृष्णावतार के विविध पहलुओं का विवेचन किया गया है। साथ ही, उनके वैशिष्ट्य का निरूपण किया गया है।

जायसी की काव्य-कृति "कन्हावत" कृष्ण की मिथक-कथा पर आधारित है। यहाँ वे अवतारवाद में विश्वास करते हुए कृष्णावतार की गाथा प्रस्तुत करते हैं। "कन्हावत" के अवतारवाद के सामाजिक संदर्भ की चर्चा करते हुए उसके वैशिष्ट्य का विवेचन किया गया है।

प्रबंध के चतुर्थ एवं अंतिम अध्याय में भक्तिकालीन काव्य में लीला की अवधारणा के सामाजिक संदर्भ का विवेचन किया गया है। आरंभ में लीला के स्वरूप तथा उसके स्रोत पर विचार किया गया है। वास्तव में अवतार और लीला एक-दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। ईश्वर अवतार लेते हैं और लीला करते हैं। लीला निष्प्रयोजन होती है औरसप्रयोजन भी। "ब्रह्मसूत्र" में लीला का कोई प्रयोजन स्वीकार नहीं किया गया है। रामानुजाचार्य आदि का भी ऐसा ही मत है।

रामभक्ति साहित्य में लीला की अवधारणा का सामाजिक संदर्भ स्पष्ट किया गया है तुलसीदास के साहित्य के विवेचन के माध्यम से। वहाँ लीला को "चरित" भी कहा गया है। लीला कर्म है-- अनंत शक्ति का मानवीय कर्म। समाज की सुव्यवस्था के लिए भक्तों के हित के लिए राम लीला करते हैं। ईश्वर की नर-लीला कर्म को महत्त्व देती है। राम की लीला में पर्याप्त लौकिकता है। राम जहाँ-जहाँ जाते हैं, वे स्थान इसी धरती पर हैं। वे जो-जो कार्य करते हैं, वे इसी धरती के

लोगों से जुड़े हैं, उनके हित से जुड़े हैं। ईश्वर यदि लीला न करें तो उनका अवतार लेना ही व्यर्थ हो।

सूरदास का संपूर्ण साहित्य कृष्णावतार तथा उसकी मनोहर लीलाओं से ओत-प्रोत है। कृष्ण खेल-खेल में ही बड़े-से-बड़ा कार्य संपादित करते हैं। सूर के साहित्य में निष्प्रयोजन लीला पर्याप्त है। कृष्ण तथा गोपियों की अधिकांश लीलाएँ इसी कोटि की हैं। लेकिन इन लीलाओं में भी गहरे सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति हुई है। कृष्ण-गोपियों की लीला घर से बाहर घटित होती है। गोपियाँ घर से ऊबी हुई हैं। अतः मौका मिलते ही दौड़कर कृष्ण के पास चली जाती हैं। घर मध्यकालीन शोषक सामंती व्यवस्था में, रूढ़िजर्जर समाज में, दमघोंटू वातावरण में रहने लायक नहीं रह गया था। वहाँ व्यक्तित्व का विकास नहीं हो सकता था। सूर की गोपियाँ घर की सीमाओं को तोड़ती हैं। घर का यह तोड़ना मध्यकाल की अमानवीयता को तोड़ना है। मध्यकाल के परिवेश के संदर्भ में सूरदास के साहित्य में लीला के सामाजिक संदर्भ का विवेचन किया गया है।

x------0------x

ग्रन्थानुक्रमणिका

संदर्भ ग्रंथ - सूची

हिन्दी

1. अंतोनोवा, कॉ.अ.तथा अन्य : भारत का इतिहास, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली - 1984
2. अरविन्द, महर्षि : गीता-प्रबंध, श्री अरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी - 1968
3. कॉडवेल, क्रिस्टोफर : विभ्रम और यथार्थ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली - 1990
4. काणे, पांडुरंग वामन : धर्म शास्त्र का इतिहास, खंड-5, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान लखनऊ - 1973
5. कोसाम्बी, डी.डी. : मिथक और यथार्थ, मैकमिलन, नई दिल्ली-1976
6. गोयल, श्रीराम (सं.) : भारत में मुगल साम्राज्य का प्रारंभिक इतिहास, मुंशीराम मनोहरलाल दिल्ली - 1986
7. गोस्वामी, विष्णु (सं.) : भक्ति साहित्य : एक पुनर्मूल्यांकन, यशराज प्रकाशन हवड़ा - 1984
8. गुप्त, दीनदयालु : अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, भाग-2, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग - 1970
9. चतुर्वेदी, परशुराम : वैष्णव धर्म, चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी - 1977
10. जायसी, मालिक मुहम्मद : कन्हावत (सं. शिव सहाय पाठक), साहित्य भवन, इलाहाबाद - 1981
11. जायसी, मालिक मुहम्मद : कन्हावत (सं. परमेश्वरीलाल गुप्त), अन्नपूर्ण प्रकाशन, वाराणसी - 1981
12. जायसवाल, सुवीरा : वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास, मैकमिलन, दिल्ली - 1976

13. झा, डी.एन : प्राचीन भारत : एक रूपरेखा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली - 1989

14. डांगे, श्रीपाद अमृत : भारत : आदिम साम्यवाद से दास-व्यवस्था तक का इतिहास, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली - 1978

15. तिवारी, विश्वनाथ प्रसाद [सं.] : रामचंद्र शुक्ल, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली - 1985

16. त्रिपाठी, विश्वनाथ : मीरा का काव्य, मैकमिलन, दिल्ली - 1979

17. थापर, रोमिला : भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-1987

18. दास, कबीर : कबीरबीजक [सं. शुकदेव सिंह], नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद - 1972

19. दास, कुंभन : कुंभनदास पद संग्रह [सं. ब्रजभूषण शर्मा], विद्या विभाग कांकरोली - सं. 2017

20. दास, केशव : केशव ग्रंथावली [सं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र], हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद - 1978

21. दास, तुलसी : तुलसी ग्रंथावली [सं. रामचंद्र शुक्ल], नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संवत् - 1980

22. दास, तुलसी : श्रीरामचरित मानस, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. 2045

23. दास, तुलसी : विनयपत्रिका [सं. वियोगी हरि], सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, दिल्ली - 1981

24. दास, तुलसी : कवितावली, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. 2039

25. दास, तुलसी : दोहावली, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. 2041

26. दास, नंद : नंददास ग्रंथावली [सं. ब्रजरत्नदास], नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं. 2014

27. दास, परमानन्द : परमानंद सागर [सं. ब्रजभूषण शर्मा], विद्या विभाग, कांकरोली - सं. 2014

28. दास, सूर : सूरसागर, खंड 1, 2 [सं. नंददुलारे वाजपेयी], काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं. 2035 एवं 2033

29. दास, सूर : सूरसारावली [सं. मनमोहन गौतम], रीगल बुक डिपो, दिल्ली - 1974

30. दासगुप्त, सुरेन्द्रनाथ : भारतीय दर्शन का इतिहास, खंड 3, 4, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर - 1972

31. दिनकर, रामधारी सिंह : संस्कृति के चार अध्याय, उदयाचल, पटना, 1977

32. द्विवेदी, हजारी प्रसाद : हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, खंड 3, 4, 5, 10, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1981

33. द्विवेदी, हजारी प्रसाद : सूर-साहित्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली - 1973

34. द्विवेदी, हजारी प्रसाद : प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली - 1970

35. द्विवेदी, हजारी प्रसाद : हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

36. निराला, सूर्यकान्त त्रिपाठी : निराला रचनावली, खंड 1, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली - 1983

37. पांडेय, कपिलदेव : मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी - 1963

38. प्रेमशंकर : भक्ति चिंतन की भूमिका, साहित्य भवन, इलाहाबाद-1977

39. बाशम, ए.एल. : अद्भुत भारत, शिवलाल अग्रवाल एंड कंपनी, आगरा, 1984

40. भंडारकार, रामकृष्ण गोपाल : वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी - 1977

41. मार्क्स, कार्ल एवं एंगेल्स, फ्रेडरिक : साहित्य तथा कला, प्रगति प्रकाशन मास्को - 1981

42. मिश्र, अरुण प्रकाश : तुलसी का मानववाद, अंकुर प्रकाशन, दिल्ली-1987

43. मिश्र, विद्यानिवास : भावपुरुष श्रीकृष्ण, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली-1989

44. मिश्र, विद्यानिवास [सं.] : स्तबक, साहित्य अकादमी, दिल्ली-1986

45. मीतल, प्रभुदयाल : ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली - 1966

46. मीराबाई : मीराबाई पदावली [सं. कृष्णदेव शर्मा], रीगल बुक डिपो, दिल्ली - 1972

47. मेघ, रमेश कुंतल : तुलसी : आधुनिक वातायन से, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली - 1973

48. मेघ, रमेश कुंतल : मनरंजन किनके, वाणी प्रकाशन, दिल्ली - 1985

49. मेघ, रमेश कुंतल : साक्षी है सौन्दर्य प्राश्निक, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली - 1980

50. मैक्डोनेल, ए.ए. : वैदिक माइथोलोजी [अनुवाद - रामकुमार राय], चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1984

51. रसखान : रसखान रचनावली [सं. विद्यानिवास मिश्र], वाणी प्रकाशन, दिल्ली - 1985

52. राधाकृष्णन, सर्वपल्ली : भारतीय दर्शन, भाग-1, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली - 1986

53. रिजवी, अतहर अब्बास : मुगलकालीन भारत, अलीगढ़, 1960

54. वर्मा, ब्रजेश्वर : सूरदास, हिन्दी परिषद, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद - 1959

55. वर्मा, रामकुमार : संत कबीर, साहित्य भवन, इलाबाद - 1966

56. वर्मा, लक्ष्मीनारायण : भक्तिकाव्य के सामाजिक आयाम, संत प्रकाशन, इटावा - 1988

57. विवेकानंद : विवेकानंद साहित्य (सं.), अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, 1989

58. शंभुनाथ : मिथक और आधुनिक कविता, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली - 1985

59. शर्मा, रामविलास : भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली - 1982

60. शर्मा, रामविलास : परंपरा का मूल्यांकन, राजकमल, दिल्ली-1981

61. शर्मा, रामविलास : हिन्दी जाति का साहित्य, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली, 1986

62. शर्मा, रामविलास : भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएँ, वाणी प्रकाशन, दिल्ली - 1986

63. शर्मा, रामशरण : भारतीय सामंतवाद, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-197

64. शर्मा, रामशरण : शूद्रों का प्राचीन इतिहास, मैकमिलन, दिल्ली-1979

65. शास्त्री, कंठमणि (सं.) : अष्टछाप की वार्ता, विद्या विभाग, कांकरोली, सं. 2009

66. ओझा, सावित्रीचंद्र : समाज और संस्कृति : सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली - 1976

67. सरस्वती, दयानंद : दयानंद ग्रंथमाला, भाग-1, परोपकारिणी सभा, अजमेर - 1925

68. सिंह, नामवर : इतिहास और आलोचना, राजकमल, दिल्ली-1978

69. सिंह, नामवर : कविता की दूसरी परंपरा, राजकमल, दिल्ली-1983

70. सिंह, विजेन्द्र नारायण : काव्यालोचन की समस्याएँ, वाणी प्रकाशन, दिल्ली - 1985

71. शुक्ल, रामचंद्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं. 2035

72. शुक्ल, रामचंद्र : सूरदास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं. 2044

73. शुक्ल, रामचंद्र : गोस्वामी तुलसीदास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं. 2044

74. श्रीवास्तव, स्नेहलता : नंददास और उनका भँवरगीत, ऋषभचरण जैन एवं संतति, दिल्ली - 1975

75. हरि, वियोगी (सं.) : ब्रजमाधुरी सार, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग - 1976

संस्कृत

1. अथर्ववेद (भाषाभाष्य), दयानंद संस्थान, दिल्ली, संवत् 2031.

2. उपनिषद् प्रकाश (भाष्य : स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती), राजपाल एंड सन्स, दिल्ली - 1950

3. ऐतरेय ब्राह्मण [हिन्दी अनुवाद सहित], विश्ववेदपरिषद लखनऊ, 1982

4. ऋग्वेद [भाषा भाष्य], दयानंद संस्थान, दिल्ली, संवत् 2033

5. कठोपनिषद [सानुवाद शांकरभाष्य सहित], गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. 2046

6. तैत्तिरीयोपनिषद [सानुवाद शांकरभाष्य सहित], गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. 2040

7. पद्म पुराण, संस्कृत संस्थान, बरेली, 1974

8. ब्रह्मसूत्र [हिन्दी व्याख्या सहित], गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. 2047

9. बृहदारण्यकोपनिषद [सानुवाद शांकरभाष्य सहित], गीता प्रेस, गोरखपुर सं. 2025

10. महाभारत, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. 2030

11. महाभारत, भंडारकार ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पुना, 1933

12. मूल संस्कृत उद्धरण [संकलन : जे. मूइर], चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी - 1967

13. यजुर्वेद [भाषा भाष्य], दयानंद संस्थान, दिल्ली, सं. 2030

14. राग्रंथाध्यायी - श्रीसुबोधिनी [वल्लभाचार्य-कृत], चौखम्बा संस्कृत सीरिज ऑफिस, वाराणसी, 1971.

15. लिंग पुराण, संस्कृत संस्थान, बरेली, 1975

16. विष्णु पुराण [हिंदी अनुवाद सहित], गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2045

17. शतपथ ब्राह्मण [हिन्दी अनुवाद सहित], विश्व वेद परिषद, लखनऊ, 1982

18. शांडिल्यभक्तिसूत्र, भारतमनीषा, वाराणसी, 1973

19. श्रीमद्भगवद्गीता §सानुवाद§, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2044

20. श्रीमद्भागवतपुराण §हिन्दी व्याख्यासहित§, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. 2014

21. श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. 2033

22. स्कन्दपुराण, संस्कृत संस्थान, बरेली, 1976

कृ॰ पृ॰ उ.

अंग्रेजी

Basham, A.L. : The wonder that was India, Rupa and Company, Calcutta, 1985

Basham, A.L. : The origins and development of classical Hinduism, Oxford University Press, Delhi, 1990

Brown, C.J. & (Ed): Others : The Mughal Empire, Bombay, 1974

Cassirer, Ernst : An essay on man, Yale University Press, London, 1970

Cassirer, Ernst : The philosophy of symbolic forms, Vol. 2, Yale University Press, London, 1973

Chattopadhyay, Debiprasad (Ed) : History and Society, K.P. Bagchi, Calcutta, 1976

Choudhuri, N.C. : Hinduism, B.I. Publication, New Delhi, 1979

(Ed) : Cultural heritage of India, Ramakrishna Mission Institute of Culture, Calcutta, 1975

Dasgupta, S.N. : A History of Indian Philosophy, Vol.2, Motilal Banarsidas, Delhi, 1975

Dumezil, George : The Stakes of the Warrior, University of California Press, London, 1983.

Eliade, Mircea : Myths, Dreams and Mysteries, Harper and Row Publishers, New York, 1960.

Eliade, Mircea (Ed): Encyclopaedia of Religion, Vol. 10

Feuerbach, Ludwig : Essence of Christianity, Harper and Row Publishers, New York, 1957.

Habib, Irfan : Agrarian System of Mughal India, Asia Publishing House, Bombay, 1963.

Hopkins, E.W. : Epic Mythology, Ideological Book House, Delhi, 1968

Jung, C.J. & Kerenyi, C : Introduction to a Science of Mythology, Routledge and Kegan Paul Ltd., London, 1970.

Kamble, J.R. : Pursuit of Equality in Indian Society, National Publishing House, New Delhi, 1985.

Kinsley, David,R. : The Divine Player, Motilal Banarsidas, Delhi, 1979

Lannoy, R. : The Speaking Tree, Oxford University Press, 1974.

Leach, Edmond(Ed) : Structural Study of Myth and Totenism, Tovistock Publications Ltd., London, 1978.

Lukacs, Georg : History and Class Consciousness, Rodney Livingstone, Merlin Press, London, 1971.

Majumdar, R.C. : The Delhi Sultanate, Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1980.

Majumdar, R.C. & Pusalkar, A.D.(Ed) : The Struggle for Empire, Bombay, 1976.

Maity, S.K. : Economic Life in Northern India in the Gupta period, Motilal Banarsidas, Delhi,1970.

Marx, Karl & Engels, Frederick : On Religion, Moscow, 1957

Moreland, W.H. : India at the death of Akbar, Vasudev Bhavan, Delhi, 1974.

Parrinder,Geoffrey: Avatar and Incarnation, Faber & Faber, London, 1970.

Ramanujan, A.K.(tr) Hymns for the Drowning : Poems for Vishnu, Princeton University Press, 1981.

Raychaudhuri, Tapan and Habib, Irfan(Ed) Cambridge Economic History of India, Vol.1 Orient Longman, 1984.

Richards, I.A. : Coleridge on Imagination, Routledge and Kegan, Paul Ltd., London, 1968.

Roychoudhary, H.C.: Materials for the study of the early History of the Vaishnava sect, Oriental Books re-print Corporation, Delhi, 1975.

Sarkar, Jadunath : Mughal Administration, Orient Longman, Bombay, 1972.

Sharma, B.N. : Social Life in Northern India (AD 600-1200) Munshiram Manoharlal, Delhi, 1966.

Sharma, R.S.(Ed) : Indian Society : Historical Probings, People's Publishing House, Delhi, 1977.

Sharma, R.S. : Material Culture and Social Formations in Ancient India, MacMillan India Ltd.,Delhi,198

Sharma, R.S. : Social Changes in Early Medieval India (AD 500-1200) People's Publishing House New Delhi, 1987.

Sherrock, John, A.: Hinduism Ancient and Modern, Bharatiya Publishing House, Delhi, 1979.

Singer, Milton, K: Krishna, : Myths, Rites and Attitudes, University of Chicago Press, 1968.

Sircar, D.C. : Religious Life in Ancient and Medieval India, Motilal Banarsidas, New Delhi, 1971.

Whaling, Frank : The rise of the religious significance of Rama, Motilal Banarsidas, Delhi, 1980.

Weber, Max : The Religion of India, the Free Press, New York, 1967.

Yadava, B.N.S. : Society and Culture in Northern India in the Twelfth Century, Central Book Depot, Allahabad, 1973.

Zaehner, R.C. : Hinduism, Oxford University Press, 1966.

पत्र-पत्रिकाएँ

हिन्दी

कथन, मई-जून 1982.

कल्पना, दिसंबर, 1972.

मध्यकालीन भारत, अंक 1, 1981.

अंग्रेजी

Critical enquiry, Spring 1988

Dialogue and Alliance, Vol. 1, No.2, Summer 1987.

Indian Historical Review, Vol.3, No.1, July 1976 and Vol.5, No. 1-2, July, 78 - January, 1979.

Social Scientist, December, 1979 - January, 1980.

Studies in History, Vol.5, No.1, January-June, 1989.

* * * * *